हिंदी परामर्श समिति ग्रंथमाला—६

उत्तर प्रदेश में
बौद्ध धर्म का विकास

डा० नलिनाक्ष दत्त, एम. ए., पी-एच. डी.,
अध्यक्ष, पाली विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय
तथा
श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए.,
अध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय,
मथुरा

प्रकाशन ब्यूरो
उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक—पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किंतु इससे हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिंदी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिंदी में वाङमय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रंथ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिंदी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अंतर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिंदी के ग्रंथों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिंदी परामर्श समिति की स्थापना की गई है। यह समिति विगत वर्षों में हिंदी के ग्रंथों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरंभ किया है।

समिति ने वाङमय के सभी अंगों के संबंध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन-कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनाई गई है, जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अंतर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिए गए हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रंथ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिंदी में नितांत कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरंभ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रंथ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भंडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी परामर्श समिति-ग्रंथमाला का छठा ग्रंथ है। बौद्ध धर्म के सर्वांगीण उन्नयन में उत्तर प्रदेश का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस प्रदेश में बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला के उद्भव तथा विकास का विवेचन अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रथम बार विस्तृत रूप में उपस्थित किया गया है।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिंदी परामर्श समिति

विषय-सूची

संकेत-सूची

अ०	= अध्याय
आ० स० रि०	= आर्केआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट
आर्के०	= आर्केआलॉजिकल
अंगुत्तर०	= अंगुत्तर निकाय
ई० पू०	= ईसवी पूर्व
उप०	= उपनिषद्
ऐ० रि०	= ऐनुअल रिपोर्ट
ज० रा० ए० सो०	= जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जा०	= जातक
जि०	= जिला
तुल०	= तुलनीय
दीघ०	= दीघ निकाय
दे०	= देखिए
द्रष्ट०	= द्रष्टव्य
पो० हि० ऐं० इं०	= पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंश्यंट इंडिया
पृ०	= पृष्ठ
मज्झिम०	= मज्झिम निकाय
विनय०	= विनय पिटक
शतपथ०	= शतपथ ब्राह्मण
सं०	= संख्या ; संस्कृत
संयुत्त०	= संयुत्त निकाय
सै० बु० ई०	= सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट

चित्र-सूची

अध्याय १

उत्तर प्रदेश के प्राचीन राज्य

यद्यपि बौद्ध धर्म का जन्म बिहार में हुआ था, किन्तु उसके बाद उसका संपूर्ण विकास, शैशव से लेकर प्रौढ़ता तक, कोशल (अवध) में ही हुआ। वर्तमान उत्तर-प्रदेश राज्य देशांतर ७७·३° (मुजफ्फरनगर) से ८४·३८' (बलिया) तक तथा अक्षांश ३१·१८° (टेहरी गढ़वाल) से २३·५२° (मिर्जापुर) तक विस्तृत है। उसके उत्तर में नेपाल और हिमांचल प्रदेश, पूर्व में बिहार राज्य, दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में मध्यभारत और मध्यप्रदेश राज्य, तथा पश्चिम में पंजाब और राजस्थान हैं। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल १,१३,४९५ वर्गमील है। इस प्रकार इस विस्तृत क्षेत्र के अंतर्गत प्राचीन काल के राज्यों में से कोशल, काशी, वत्स, पंचाल और शूरसेन के अतिरिक्त शाक्यों, कोलियों, मल्लों और भर्गों के गणतंत्र राज्य भी आ जाते हैं। राजकुमार सिद्धार्थ गौतम की जन्मभूमि कपिलवस्तु (कपिलवत्थु) यद्यपि उत्तर प्रदेश की सीमा से कुछ मील दूर है, किंतु उसकी भी चर्चा इस पुस्तक में की गई है, क्योंकि ई० पू० छठी शताब्दी में वह प्रसेनजित् (पसेनदि) के राज्य में सम्मिलित था। वर्तमान उत्तर-प्रदेश के अंतर्गत ब्राह्मण-उपनिषत्काल के नौ राज्यों[1] में से तीन तथा बुद्ध के समय के सोलह महाजनपदों[2] में से छः की विस्तृत भूमि अंतर्भुक्त है।

काशी-कोशल

काशी के लोगों का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता है। शांखायन श्रौतसूत्र (१६।२९५) में काश्यों का वर्णन विदेहों और कोशलों के साथ हुआ है। इन तीनों राज्यों के पुरोहित जातूकर्ण्य थे, जो राजा जनक तथा उपनिषदों के प्रसिद्ध

१. नवों राज्यों के नाम ये हैं—गंधार, केकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी और कोशल ।

२. सोलह महाजनपदों के नाम इस प्रकार हैं—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वंश, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवंति, गंधार तथा कंबोज ।

ऋषि श्वेतकेतु के समकालीन थे। उपनिषदों[1] में तत्त्वज्ञानी अजातशत्रु का वर्णन राजा जनक के समसामयिक एवं काशी के राजा के रूप में किया गया है। पाली में कई जातकों का आरंभ इन शब्दों से होता है—"अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं करेन्ते", जिससे सूचित होता है कि काशी के शासकों की उपाधि 'ब्रह्मदत्त' थी, जो पुराणों (मत्स्य और वायु) और महाभारत (२।८।२३) में भी उल्लिखित है। ये ब्रह्मदत्त-उपाधिधारी शासक किस प्राचीन कुल (या कुलों) के थे, इसका जातकों से कुछ भी पता नहीं चलता। कुछ जातकों में ब्रह्मदत्त विदेहवंशी कहे गए हैं। महा-गोविंद सुत्त[2] में काशी के राजा को धृतराष्ट्र (धतरट्ठ) कहा गया है, जो भरत-वंशी था। इसका समर्थन पुराणों[3] से भी होता है। ब्राह्मणों[4] में धृतराष्ट्र नाम के काशी के राजा का वर्णन आया है जिसका यज्ञ का घोड़ा भरतवंशी राजकुमार शतानीक सत्रजित्[5] द्वारा पकड़ लिया गया था, जिसके कारण काशी में शतपथ ब्राह्मण[6] के समय तक यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित नहीं की गई थी। महावग्ग[7] और जातकों से, विशेषतः दीघीति और उसके पुत्र दिघावु की कथा से, यह स्पष्ट है कि बुद्ध-पूर्व काल में काशी का शासक बहुत शक्तिमान् था और कुछ समय तक उसने कोशलों और अन्य पड़ोसी प्रदेशों को अधीन कर रखा था। काशी का राज्य किसी समय ऐसा धनसंपन्न और शक्तिशाली था कि उससे सभी पड़ोसी शासकों को ईर्ष्या होती थी। परंतु बुद्ध के समय में उसका आकर्षण और उसकी ख्याति नष्ट हो गई। वह कोशल का अधीन राज्य हो गया और कोशल-सम्राट् के ही द्वारा शासित भी होने लगा।

बौद्ध ग्रंथों में सामान्य रूप से यह उल्लेख मिलता है कि राजा पसेनदि के पिता महाकोसल ने अपनी कन्या कोसलदेवी का विवाह बिंबिसार से किया और काशिग्राम (कासिग्राम) उसे यौतुक में दिया था। बिंबिसार की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अजातशत्रु (अजातसत्तु) और पसेनदि के बीच यह झगड़े की जड़ हो गया और इसके

१. बृहदारण्यक।

२. दीघ० २,२३५; महावस्तु ३, पृ० १९७ और आगे।

३. एच. सी. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, छठा संस्करण, पृ० ७५।

४. शतपथ, १३,५,४,१९-२३।

५. सत्रजित् का अर्थ 'सफलतापूर्वक सत्र या यज्ञ संपन्न करनेवाला' हो सकता है।

६. रायचौधरी, वही, पृ० ४४, ७५, ९७।

७. विनय०, १,१०,२,३।

लिए दोनों में युद्ध भी हुआ। एक बार पसेनदि ने अजातशत्रु को हराया, दूसरी बार अजातशत्रु ने पसेनदि को पराजित किया।[1] अंततः पसेनदि ने अपनी कन्या वजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और काशिग्राम उसे दहेज के रूप में दे दिया[2], तब जाकर यह झगड़ा शांत हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि काशी की पृथक् सत्ता बराबर बनी रही, क्योंकि यद्यपि काशी और कोशल का उल्लेख प्रायः साथ ही साथ पाया जाता है, तथापि पसेनदि को बराबर केवल कोशल का ही राजा कहा गया है। महावग्ग (पृ० २८१) में किसी काशिक राजा का उल्लेख है, जो संभवतः कोशल-नरेश के अधीन कोई सामंत था।[3]

बनारस काशी की राजधानी था। निश्चय ही वह व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा होगा, क्योंकि वहाँ कुछ श्रेष्ठिगण (सेट्ठि) निवास करते थे जिनमें से एक यश भी था, जो बुद्ध का छठा शिष्य था। बनारस के पास इसिपत्तन (= ऋषिपत्तन), जैसा कि उसके नाम से विदित होता है, निस्संदेह ऋषियों का प्रिय आश्रम-स्थान था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि बुद्ध के पाँचों साथी तपस्वियों ने, जो कि सर्वप्रथम बुद्ध के अनुयायी हुए, इस स्थान को अपने निवास के लिए चुना। बनारस के निकट खेमियंब वन नाम का एक आम्रवन था, जहाँ बौद्ध भिक्षु कभी-कभी ठहरा करते थे। इसिपत्तन और खेमियंब वन के अतिरिक्त भिक्षुओं के दो अन्य स्थान थे—किटागिरि और मच्छिकासंड। ये दोनों ग्राम अथवा पुर बनारस से सावत्थी को जाने-वाले मुख्य मार्ग पर स्थित थे। धम्मपदट्ठकथा में लिखा है कि मच्छिकासंड सावत्थी से तीस योजन (९० मील) दूर था और किटागिरि एक गाँव था जहाँ अस्सजी और पुनब्बसु निवास करते थे, जो कि विनय के नियमों का यथोचित पालन नहीं करते थे। बुद्ध को कई अवसरों पर उन्हें उचित मार्ग पर लाना पड़ा था और उनके सदाचरण के लिए नियम निश्चित करने पड़े थे। वासभगाम नाम का एक अन्य ग्राम भी था, जहाँ भिक्षुगण निवास करते थे।

१. संयुत्त, १, पृ० ८२-८४।

२. संयुत्त १, पृ० ८२ और आगे; जा० २,४०३; ४,३४२।

३. डा० राय चौधरी ने संयुत्त निकाय (१, पृ० ७९) के उस कथन को कुछ महत्त्व दिया है जिसमें पसेनदि को पाँच राजाओं का प्रमुख (पमुखम्) कहा गया है। परंतु जान पड़ता है कि 'पंच' संख्या का प्रयोग वहाँ पाँच ज्ञानेंद्रियों के लिए किया गया है, जो बाद का प्रस्तुत विषय है। उसे पसेनदि के पाँच राजाओं का प्रमुख होने के प्रमाण के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए।

कोसल[1] (कोशल)—इसका सबसे प्राचीन उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[2] में पाया जाता है, जिसमें राजा का नाम 'हैरण्यनाभः कौशल्यः' दिया है, जिसका वर्णन कौशल्य आश्वलायन के समसामयिक के रूप में प्रश्नोपनिषद्[3] में भी हुआ है। मज्झिम निकाय[4] में आश्वलायन का वर्णन सावत्थी के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य तथा स्वयं बुद्ध के एक शिष्य के रूप में मिलता है। उपनिषद् और निकाय दोनों में उल्लिखित नामों का एक ही होना असंभव नहीं है, परंतु नामों की इस एकता के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों ग्रंथों में एक ही व्यक्ति का निर्देश है। बुद्धकाल अथवा रामायण-महाभारत-काल के पहले कोसल को विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उसने समय-समय पर काशी का प्रभुत्व स्वीकार किया। दीघीति की कथा[5] में कोसल का वर्णन एक ऐसे दरिद्र देश के रूप में किया गया है जिसमें संपत्ति और सुख-सामग्रियों का अभाव था, जिसके पास सेना बहुत थोड़ी थी और जिसका कोष कभी पूर्ण नहीं रहता था। रामायण-काल में इसे कुछ महत्त्व प्राप्त हुआ था। रामायण[6] में कोसल की राजधानी अयोध्या थी, जो सरयू नदी के तट पर स्थित थी और बारह योजन विस्तृत थी। इस प्रदेश पर इक्ष्वाकुओं का शासन था जिनमें प्रसेनजित् और शुद्धोदन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिरण्यनाभ को कोसलराज बताया गया है, परंतु वह इक्ष्वाकुवंशी था या नहीं, इसका पता नहीं चलता। ब्राह्मण ग्रंथों एवं रामायण-महाभारत में इक्ष्वाकुवंश के अनेक राजाओं के नाम आए हैं, जैसे—हरिश्चंद्र और उनके पुत्र रोहित के तथा भगीरथ, अंबरीष, ऋतुपर्ण, राजा दशरथ और उनके पुत्र राम के। शाक्य जाति भी अपने इक्ष्वाकुवंशी[7] होने का दावा करती थी।

बुद्ध के समय में कोसल राज्य का विस्तार आधुनिक अवध की भूमि पर था जिसकी पूर्वी सीमा गंडक नदी और पश्चिमी सीमा गोमती नदी थी। सई नदी, जो प्राचीन काल में संभवतः स्यंदिका वा सुंदरिका के नाम से प्रसिद्ध थी, इसकी दक्षिणी सीमा पर बहती

१. आगे इसी रूप का प्रयोग किया गया है, जो कि बौद्ध साहित्य में मिलता है।

२. शतपथ०, १३,५,४,४।

३. प्रश्न उप० १,१।

४. मज्झिम० २, पृ० १४७ तथा आगे।

५. विनय० १,१०,२,३; 'दीघीति नाम कोसलराजा अकोसि दलिद्दो अप्पभोगो अप्पबाहनो अपरिपुण्ण-कोस-कोट्ठागार।'

६. रामायण, १,५५,७; २,१८,३८

७. महावस्तु १, पृ० ९८।

थी और इसकी उत्तरी सीमा नेपाल के सीमावर्ती पहाड़ी क्षेत्रों को स्पर्श करती थी। ई० पू० पाँचवीं शती में अयोध्या ने अपना महत्त्व खो दिया और उसके स्थान पर श्रावस्ती (सावत्थी) प्रधान नगर एवं राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। सावत्थी के बाद दूसरा महत्त्व का नगर साकेत था।' ऐसे बहुत से ग्राम और नगर थे जिनमें बौद्ध भिक्षु जाया करते थे, जैसे-मेनव्य, आलवि, इच्छानंगल, उकट्ठ, एकसाला, ओपसाद, केसपुत्त, चंडालकप्प, तोरणवत्थु, दंडकप्प, नगरविंद, मनसाकट, नालकापन, पंकधा, बेनागपुर, वेलुद्वार, साल्ल, सालवतिका, आतुमा, अग्गालवचेतिय, उजुञ्ञा, कट्ठवाहननगर, भुमागार, पंडुपुर, माधुका। परंतु इन सभी स्थानों की पहचान करना संभव नहीं है।•

सावत्थी (श्रावस्ती)—की पहचान कनिंघम ने सहेत-महेत से की है, जो गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा के पास राप्ती नदी के तट पर स्थित है। फाह्यान और हुएन-सांग इस स्थान पर गये थे। उस समय यह ध्वस्त हो चुका था। बुद्ध ने अकेले इस नगर में ही पचीस वर्षाएँ व्यतीत की थीं और अनेक व्याख्यान दिए थे।

सावत्थी में तीन प्रसिद्ध विहार थे—जेतवन, पुब्बाराम और राजकाराम। इन तीनों में जेतवन सबसे भव्य और विशाल था। इसका स्थान सारिपुत्त के द्वारा चुना गया था, जिन्हें बौद्ध भिक्षुओं के रहने योग्य एक विहार के निर्माण के हेतु आवश्यक आदेश देने के लिए बुद्ध ने नियुक्त किया था। वह स्थान राजकुमार जेत के राजकीय उद्यान का एक भाग था। जेत उसे बेंचना नहीं चाहता था, इसलिए उसने उसका अत्यधिक मूल्य माँगा और कहा कि मैं उतनी ही भूमि बेचूँगा जितनी उसका क्रेता 'कहापणों' (कार्षापण मुद्राओं) से ढक देगा। अतुल धनराशि के स्वामी अनाथपिंडिक ने यह शर्त स्वीकार कर ली और विहार के लिए जितनी भूमि अभीष्ट थी उतनी भूमि पर अपने कोष से गाड़ी भर मुद्राएँ लाकर बिछा दीं। अंततः राजकुमार को भूमि बेचनी पड़ी। यह जानने पर कि इस भूमि पर महात्मा बुद्ध के रहने के लिए एक विहार का निर्माण होगा, राजकुमार जेत ने कहा कि मैं केवल भूमि का ही मूल्य लूँगा, उसमें उगे वृक्षों का नहीं। वह उन वृक्षों को भिक्षुसंघ को दान करके महात्मा बुद्ध के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करना और कुछ पुण्य अर्जन करना चाहता था।

जेतवन विहार अवश्य ही बहुत विशाल रहा होगा, क्योंकि उसमें अनेक रहने के कमरे और कोठरियाँ, द्वार-प्रकोष्ठ, उपासनागृह, अग्निकुंड-युक्त शालाएँ, भांडारगृह, एकांत कोठरियाँ, दालान, टहलते हुए ध्यान करने के लिए शालाएँ, कूप, कूपछद,

स्नानागार, जलाशय और मंडप बने हुए थे।[1] उसका फाटक राजकुमार जेत ने बनवाया था। जब इस विशाल विहार का निर्माण-कार्य पूरा हो गया तब अनाथपिंडिक ने यथोचित समारोह के साथ, अवसर के अनुरूप विधियों को संपन्न करते हुए, उसे बुद्ध को संकल्पित कर दिया। कुछ भवनों को विशेष नाम दिए गए थे, जैसे महागंधकुटी, करेरमंडल माला, कोसंबकुटी, चंदनमाला, और सललघर।[2] कुंजों से घिरा हुआ एक बड़ा तालाब भी था और संपूर्ण स्थान एक वन-सा दिखाई देता था। जेतवन में ही सारिपुत्त और मोग्गलायन की अस्थियों पर स्तूप बनाए गए थे, जिन्हें बाद में सम्राट् अशोक ने खुदवाया था।

भव्यता में जेतवन के बाद दूसरा स्थान पुब्बाराम विहार या मिगारमातुपासाद का था, जिसे विशाखा ने, जो अनाथपिंडिक से कम संपन्न नहीं थी, सावत्थी के पूर्वी फाटक के बाहर बनवाया था। उसके निर्माण की कथा इस प्रकार है—

एक दिन विशाखा बुद्ध का प्रवचन सुनने जेतवन गई और भूल से अपना रत्नजटित हार व्याख्यानशाला में छोड़ आई (गुरु के पास जाने पर वह हार उतार दिया करती थी)। आनंद ने उसे पाया और एक सुरक्षित स्थान में रख दिया। जब विशाखा को इसकी सूचना दी गई तब उसने उसे बेचकर उसके मूल्य से एक विहार बनवाने का निश्चय किया। जब उसका कोई खरीदार न मिला तो उसने उसे कुछ करोड़ मुद्राओं में स्वयं खरीद लिया और उस धन का उपयोग पुब्बाराम के निर्माण में किया। कहते हैं कि यह विहार दुतल्ला था और उसमें बहुत से कमरे थे। उसकी बनावट इतनी आलंकारिक थी कि भिक्षुओं को संदेह हुआ कि उनका उसमें रहना आश्रम के निर्माण के संबंध में बुद्ध द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल होगा या नहीं। इसका निर्माण मोग्गलायन की देख-रेख में हुआ था, जिसे बुद्ध ने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था।

सावत्थी में तीसरा विहार राजकाराम था, जो जेतवन के पास के एक स्थान पर पसेनदि द्वारा बनवाया गया था। कहा जाता है कि वह स्थान पहले बौद्धेतर धर्मोपदेशकों और उनके शिष्यों के लिए विश्रामगृह बनवाने के निमित्त चुना गया था,

१. चूलवग्ग, ६,४,१०; महावग्ग ३,५,६—विहार, परिवेण, कोट्ठक इत्यादि। तिब्बती ग्रंथों से विदित होता है कि उसमें ६० बृहत् शालाएँ और ६० छोटे कक्ष थे (रॉकहिल, लाइफ़ ऑव बुद्ध, पृष्ठ ४८)।

२. कहा जाता है कि यह राजा पसेनदि की प्रेरणा से बनवाया गया था।

परंतु बुद्ध ने जेतवन विहार के निकट उनका रहना स्वीकार नहीं किया। राजा पहले तो बुद्ध की इच्छा का पालन करने के लिए तैयार नहीं हुआ, परंतु अंत में उनके स्वयं हस्तक्षेप करने पर उसने उक्त विश्रामगृह अन्यत्र बनवाना स्वीकार कर लिया और उस स्थान पर बौद्ध भिक्षुणियों के निवास के लिए एक विहार बनवाने का निश्चय किया। इन्हीं भिक्षुणियों में एक सुमना भी थी, जो राजा पसेनदि की बहन थी।[१]

एक और विश्रामशाला थी जिसका नाम मल्लिकाराम था और जिसका निर्माण संभवतः पसेनदि की पट्टमहिषी मल्लिका की इच्छा से हुआ था। यह आराम परिव्राजकों (परिब्बाजका) का एक केंद्र हो गया, जहाँ समय-समय पर बुद्ध और उनके शिष्यगण आया करते थे। इसका वर्णन 'समयप्पवादुक–तिण्डुकाचिर–एकसालक' अर्थात् तिंडुक वृक्षों से घिरा हुआ एकशालक (जिसमें एक ही शाला हो) कहकर किया गया है। यह विभिन्न सिद्धांतवाले आचार्यों के पारस्परिक विचार-विमर्श एवं शास्त्रार्थ के लिए बनवाया गया था।[२]

साकेत––कोसल का यह दूसरा बड़ा नगर था। इस स्थान का महत्त्व बढ़ा विशाखा के पिता सेट्ठि धनंजय के निवास के कारण, जो मूलतः मगध का निवासी था परंतु पसेनदि के अनुरोध पर यहीं आकर बस गया था। साकेत सावत्थी से सात योजन पर था। उसके भीतर अंजनवन नामक एक मृगवन था, जो पसेनदि के मृगया खेलने का स्थान था। कनिंघम[३] का अनुमान था कि साकेत और अयोध्या एक ही हैं, परंतु यतः इन दोनों नगरों का वर्णन निकायों में हुआ है, अतएव ये अवश्य ही दो भिन्न स्थान रहे होंगे। साकेत की पहचान उन्नाव जिले में सई नदी के तट पर स्थित सुजानकोट के ध्वंसावशेष से की गई है। यहाँ कुछ अबौद्ध भी रहा करते थे। इसी स्थान पर सुजाता बुद्ध के उपदेशों को श्रवण कर अर्हत् हो गई थी।[४] यहाँ कुछ संन्यासी रहा करते थे, जिनमें गणपति भी था। साकेत और सावत्थी के बीच तोरणवत्थु था, जहाँ राजा पसेनदि की खेमा थेरी से भेंट हुई थी।

अयोज्झा––(अयोध्या) यह नगर गंगा-तट पर अवस्थित था। बुद्ध इस स्थान पर पधारे थे और वहाँ उन्होंने तीन व्याख्यान दिए थे,[५] जिनमें से एक सर्वास्तिवाद

१. विनय० २, पृ० १६९।
२. थेरीगाथा, पृ० २२; संयुत्त० १, पृ० ९७; अंगुत्तर० ३, पृ० ३२।
३. ज्याग्रफ़ी ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ४०५।
४. थेरीगाथा, १४५–१५०।
५. संयुत्त निकाय, ३, पृ० १४०; ४, पृ० १७९।

विनय[1] में भी दिया हुआ है। उसके अनुसार अयोध्या गंगा-तट पर अवस्थित थी और बुद्ध दक्षिण पंचाल में प्रव्रजन करते हुए वहाँ पहुँचे थे। यह संदेहास्पद है कि यह अयोज्झा और रामायण की अयोध्या एक ही हैं। रामायण में अयोध्या का वर्णन एक विशाल नगर के रूप में किया गया है जो प्रशस्त मार्गोंवाला तथा प्रचुर धान्यादि से परिपूर्ण था। उसमें विशाल भवन थे और वह कोसल की राजधानी था।

बौद्ध ग्रंथों में अयोज्झा को दक्षिण कोसल की राजधानी बताया गया है।

संकस्स (सांकाश्य)—यह सावत्थी से तीस योजन पर अवस्थित था। इस नगर की पहचान 'संकिसा' से की गई है, जो फर्रुखाबाद जिले में एक छोटा गाँव है। यह फतेहगढ़ से २३ मील पश्चिम और कनौज से ४५ मील उत्तर-पश्चिम है। बौद्ध परंपरा के अनुसार इसका महत्त्व इस कारण बढ़ा कि बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में अपनी माता को अभिधम्म का उपदेश देने के बाद यहाँ अवतरित हुए थे। शक्र ने तीन सीढ़ियाँ प्रदान की थीं—एक इंद्र के लिए, एक ब्रह्मा के लिए और बीचवाली भगवान् बुद्ध के लिए। चीनी यात्रियों ने इस स्थान के विहारों को भिक्षुओं से भरा पाया था।

आलवी—यह सावत्थी से राजगृह जानेवाले मार्ग पर अवस्थित था और सावत्थी से इसकी दूरी तीस योजन थी। कनिंघम ने इसकी पहचान उन्नाव जिले के नेवल स्थान से की है और एन०एल० डे ने इटावा के पास आविवा से। यहाँ अग्गालवचेतिय नाम का एक आश्रम था, जहाँ कभी-कभी बुद्ध और अन्य भिक्षुगण रहा करते थे। यह परंपरा से प्रसिद्ध है कि बुद्ध ने आलवी के यक्ख (यक्ष) को वश में कर लिया था। उन्होंने इस स्थान के दो प्रमुख निवासियों—हत्थक और सेला को अपने संघ में भिक्षु और भिक्षुणी के रूप में प्रविष्ट कर लिया था और कुछ अन्य लोगों को भी अपना अनुयायी बनाया था। उन्होंने सोलहवीं वर्षा यहीं व्यतीत की थी। यहा उन्होंने कई व्याख्यान दिए थे और कुछ विनय के नियम बनाए थे।

वत्स या वंस—इनका अधिकार कोसल और अवंती के बीच के छोटे से प्रदेश पर था। कौशांबी वत्स की राजधानी थी। यह बड़ी प्राचीन नगरी थी; इसकी पहचान इलाहाबाद के पास कोसम से की गई है। कहा जाता है कि जनक के समकालीन कौरव राजा निचक्षु ने अपनी राजधानी हस्तिनापुर से हटाकर कौशांबी को बनाया था। शतपथ ब्राह्मण[2] में एक आचार्य का उल्लेख है जिसकी जन्मभूमि कौशांबी थी और

१. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, १, पृ० ४९।
२. शतपथ०, १२,२,२,१३।

जो उपनिषदों में प्रसिद्ध ऋषि उद्दालक आरुणि का समसामयिक था। निचक्षु जनमेजय की वंश-परंपरा में थे और उन्होंने ही भरत-वंश को इस स्थान में लाकर प्रतिष्ठित किया। यह असंभव नहीं कि शतानीक परंतप[1] इसी वंश का रहा हो। उसका पुत्र राजा उदयन (उदेन) हुआ, जो बुद्ध का समसामयिक था। बुद्ध के समय यह बड़ा महत्त्वशाली नगर था। बनारस से नदी के रास्ते यह तीस योजन दूर था। इस स्थान के भिक्षु बड़े झगड़ालू और संघ को फोड़नेवाले थे। कुख्यात देवदत्त और छन्न यहीं रहते थे। यहाँ तीन विहार थे जिनके नाम थे—कुक्कुटाराम, घोषिताराम और पावारिक अंबवन। ये कुक्कुट, घोषित और पावारिक नाम के तीन सेट्ठियों द्वारा बनवाए गए थे, जो बुद्ध के अनुयायी हो गए थे। यहीं पंडोल भरद्वाज रहते और राजा उदेन को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया करते थे। वत्सों का शासन सुंसुमारगिरि के भग्गों पर भी था। उन्होंने चंड पज्जोत (प्रद्योत) की कन्या रानी वासुलदत्ता (वासवदत्ता) के गर्भ से उत्पन्न राजा उदेन के पुत्र बोधिराजकुमार को यहाँ का उपराज नियुक्त किया था।

शाक्य—शाक्य प्रदेश नेपाल की तराई में था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जिसकी पहचान रिज़ डेविड्स और पी० सी० मुकर्जी ने तिलौराकोट से की है। रुम्मिनिदेई स्तंभ लुंबिनी वन के स्थान पर है जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। शाक्य लोग अपने को इक्ष्वाकुवंशी बतलाते थे। इस वंश के एक राजा ने अपनी एक रानी से उत्पन्न पुत्रों को इसलिए निर्वासित कर दिया था कि राज्य दूसरी रानी से उत्पन्न पुत्र को मिले। राजपुत्र अपनी बहनों के साथ राजधानी से निकलकर हिमालय-क्षेत्र में जा बसे। उन्होंने वहाँ कपिलवस्तु नगर बसाया। अपने वंश की शुद्धता की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी बहनों से विवाह कर लिया, जिसके कारण वे प्रायः तिरस्कृत किए जाते थे। उनकी एक बहन, जो किसी असाध्य रोग से पीड़ित थी, बनारस के राम नामक निर्वासित राजा से ब्याही गई थी, जो स्वयं उसी रोग से पीड़ित था। उनके वंशज कोलिय नाम से प्रसिद्ध हुए। कोलियों का देश शाक्यों के देश से ही सटा हुआ था; दोनों के बीच केवल रोहिणी नामक छोटी-सी नदी का अंतर था। एक बार रोहिणी नदी के जल का प्रवाह मोड़ने के प्रश्न पर इन दोनों जातियों में भारी झगड़ा हो गया था। शाक्यों का कुल गणतंत्रवादी था और वे अपने राज्य का शासन-कार्य परिषदों

१. द्रष्ट० पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ४०, ७०, १३२; तथा मूल सर्वास्तिवाद विनय।

द्वारा चलाया करते थे, जिनकी बैठकें परिषद्-भवन (संथागार) में हुआ करती थीं। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शाक्य लोग कोसल के राजा पसेनदि की प्रभुता स्वीकार करते थे।

परंतु शाक्य लोगों को अपनी वंश-शुद्धता का बड़ा अभिमान था, जिससे उन्होंने राजा पसेनदि को अपने कुल की कन्या देना अस्वीकार कर दिया और उसका विवाह दासी के गर्भ से उत्पन्न महानाम की एक कन्या से कर दिया। इस रानी का नाम वासभ-खत्तिया था और उससे पसेनदि के विड्डाभ या विडूडभ नाम का एक पुत्र हुआ। पसेनदि ने उसे अपने सिंहासन का उत्तराधिकार न देकर उसको अपना सेनापति बनाया। विडूडभ ने षड्यंत्र करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया और शाक्यों का संहार करके उनसे अपने पिता के प्रति विश्वासघात करने का बदला लिया।

शाक्य लोग ब्राह्मणों के पक्षपोषक थे,इस कारण आरंभ में उन्होंने बुद्ध और उनके उपदेशों का उचित स्वागत नहीं किया। पहले कुछ प्रसिद्ध शाक्यों को बुद्ध ने अपना धर्मानुयायी बनाया और इस प्रकार शाक्य प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रीगणेश हुआ। बुद्ध वहाँ अनेक अवसरों पर उपदेश देने तथा विनय के नियमों का निर्देश करने के लिए गए थे। इस प्रदेश में बहुत थोड़े-से नगर और ग्राम थे, जहाँ बुद्ध गए; यथा—चातुमा, खोमदुस्स, सामगाम, देवदह, सिलावती, नंगरक, मेदलुंप या उलुंप तथा सक्खर। इनमें से चातुमा में एक गणभवन था और खोमदुस्स ब्राह्मणों का एक गाँव था। सामगाम वह स्थान था जहाँ एक बार बुद्ध पधारे थे और निगंठ नाटपुत्त की मृत्यु का समाचार सुना था। देवदह महामाया, महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा का स्वदेश था। लुंविनी वन देवदह के निकट ही था।

मल्ल—एक दूसरी जाति थी जो शाक्यों और कोलियों के ही पड़ोस में बसती थी। उनका प्रदेश कपिलवस्तु से बारह योजन दूर था। मल्ल लोग दो वर्गों में बँटे हुए थे—पावा के मल्ल और कुसीनारा के मल्ल। पावा की पहचान पड़रौना से की गई है, जो कसिया के उत्तर-पूर्व में बारह मील पर है। पावा में ही जैन तीर्थंकर महावीर ने देहत्याग किया था। कुसीनारा की पहचान देवरिया जिले के कसिया स्थान से की गई है। इस पहचान की पुष्टि एक ताम्रपत्र से हो गई है जिसपर 'परिनिर्वाण-चैत्ये-ताम्रपट्ट' खुदा हुआ है। जब बुद्ध ने कुसीनारा को अपने देहत्याग के लिए चुना, उस समय वह एक छोटा-सा गाँव था। बुद्ध पावा और कुसीनारा दोनों स्थानों में गए थे। पावा में ही उन्होंने मल्लों के गणभवन उब्भटक को पवित्र किया और चुंड के घर अपना अंतिम भोजन ग्रहण किया था। पावा से वे कुसीनारा गए, जहाँ उन्होंने अपना शरीर

त्याग कर उसे अमर कर दिया। कुसीनारा और पावा के अतिरिक्त मल्ल राज्य में कुछ अन्य स्थान भी थे जहाँ बुद्ध गए थे, जैसे—भोगनगर, अनुपिय और उरुवेल-कप्प-महावन। अनुपिय राजगृह से छत्तीस योजन पर अनोमा नदी के किनारे था। राजकुमार सिद्धार्थ अपने प्रव्रज्या-ग्रहण की रात्रि में यहाँ पहुँचे थे।

पंचाल[1] और शूरसेन[2] यद्यपि उत्तरप्रदेश की सीमा के भीतर ही थे, परंतु इसके अतिरिक्त कि बुद्ध के कुछ प्रसिद्ध अनुयायी इन्हीं स्थानों के थे, बौद्ध धर्म के प्रारंभिक इतिहास में इनका विशेष महत्त्व नहीं है। प्राचीन काल में पंचाल के दो भाग थे—उत्तर और दक्षिण पंचाल। कंपिल्ल[3] (कांपिल्य) दक्षिण पंचाल की राजधानी था और कभी-कभी उत्तर पंचाल की भी राजधानी हो जाता था। एक बार कुरुरट्ठ[4] के कुरुओं ने उसे अपने अधीन कर लिया था। कनिंघम ने इसकी पहचान कायमगंज से लगभग पाँच मील उत्तर गंगा किनारे स्थित आधुनिक कंपिल से की है। पाली ग्रंथों में हमें कण्णकुज्ज (कान्यकुब्ज, कनौज) नाम का स्थान मिलता है, जो वेरंज से बनारस जानेवाले अथवा संकस्स से सहजाति जानेवाले मार्ग पर एक पड़ाव था। सर्वास्तिवाद विनय[5] में अयोध्या दक्षिण पंचाल में गिनी गई है।

शूरसेन—यूनानियों का सौरसेनाइ (Sourasenoi)–पंचाल के पश्चिम में था। इसकी राजधानी मथुरा को अशोक के बाद के बौद्ध इतिहास में बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ। पाली ग्रंथों में दक्षिण की मथुरा से भेद करने के लिए इसे 'उत्तर मथुरा' नाम दिया गया था। घट जातक में मथुरा को कृष्ण का लीलास्थल कहा गया है।

यातायात के मार्ग

पाली ग्रंथों में विभिन्न प्रसिद्ध स्थानों के बीच यातायात के कुछ मार्गों का भी निर्देश किया गया है। बुद्ध ने जिन स्थानों में यात्राएँ कीं और धर्म का प्रचार किया

१. यह बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद, रुहेलखंड के पड़ोसी जिलों तथा मध्य दोआब का क्षेत्र था (एच० सी० रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पंचम संस्करण, पृ० १३५)। कनिंघम के मत से पंचाल का विस्तार हिमालय पहाड़ से चंबल नदी तक था।

२. यह यमुना-तट पर मथुरा के आसपास का भू-भाग था।

३. जातक, ३, पृ० ३७९।

४. वही, ५, पृ० ४४४; महाभारत, १, पृ० १३८।

५. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, १, पृ० ४८।

उनका क्षेत्र अधिकांश में भारत के मध्य एवं पूर्वीय भागों तक,अर्थात् पश्चिम में कौशांबी से पूर्व में कुसीनारा और राजगिर तक तथा उत्तर में श्रावस्ती (बहराइच के निकट सहेत-महेत) से दक्षिण में बनारस तक, सीमित था। स्पष्टतः यह क्षेत्र ब्राह्मणों के प्रभाव में कम आया था और अधिकांश में यह ब्राह्मण धर्म के (जिसका केंद्र कुरु-क्षेत्र था) गढ़ के बाहर था। जिन स्थानों में बुद्ध ने यात्राएं की थीं वे एक-दूसरे से ऐसे मार्गों द्वारा संबद्ध थे जिनपर अधिकतर व्यापारियों के दल यात्रा किया करते थे। सुरक्षा तथा भोजन आदि की सुविधाएँ मिलने के कारण इन व्यापारी दलों के साथ प्राचीन काल के साधु-संन्यासी भी प्रायः यात्रा किया करते थे, क्योंकि उन दिनों वे भी लुटेरों के भय से मुक्त नहीं थे। पाली ग्रंथों में कुछ ऐसे मार्गों का निर्देश है जिनसे होकर लोग महात्मा बुद्ध के दर्शनार्थ जाते थे। बावरी, जो पहले कोसल का निवासी और राजा पसेनदि के पुरोहित का पुत्र था, संन्यासी हो गया और कुछ समय तक पसेनदि के उद्यान में रहने के बाद उस स्थान को छोड़ गोदावरी तट पर जाकर एक आश्रम में रहने लगा। उसके अनेक शिष्य थे, जिनमें से कुछ को उसने बुद्ध के पास भेजा था। जिस मार्ग से इन शिष्यों ने यात्रा की वह पतिट्ठान[1], माहिस्सती[2], उज्जेनी[3], गोनद्ध, विदिसा[4], वनसाह्वय, कोसंबी[5], साकेत[6] होते हुए सावत्थी[7] को जाता था। फिर सावत्थी

१. वर्तमान पैठन जो हैदराबाद के औरंगाबाद जिले में गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर है।

२. इसकी पहचान मांधाता के चट्टानी स्थान से की गई है। द्रष्टव्य पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया पृ० १४५।

३. वर्तमान उज्जैन (मध्य भारत)।

४. पुराना बेसनगर, भेलसा से दो मील पर।

५. कोसम, इलाहाबाद जिला।

६. संभवतः यह बहराइच के पास सरयू नदी पर स्थित था। कोसंबी से साकेत तेंतालीस योजन (=१२९ मील; १ योजन=३ मील) दूर था। साकेत की पहचान उन्नाव जिले में सई नदी के तटवर्ती सुजानकोट के खंडहरों से की गई है। उल्लिखित नदी संभवतः सरयू है। सावत्थी और साकेत के बीच एक चौड़ी नदी, संभवतः घाघरा, बहती थी (विनय, पृ० ६५, २२८)।

७. गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर अचिरवती या राप्ती नदी के किनारे स्थित सहेत-महेत। (पो० हि० ऐं० इं०,पृ० १००)। साकेत से सावत्थी की दूरी सात योजन अर्थात् इक्कीस मील के लगभग बताई गई है (विनय, १,२५३)।

से वे सेतव्य, कपिलवत्थु[1], कुसीनारा[2], पावा,[3] भोगनगर और वेसाली[4] होते हुए राजगह[5] पहुँचे, जहाँ उस समय बुद्ध विराजमान थे।[6] सावत्थी और राजगह के बीच की दूरी पैंतालीस योजन अथवा एक सौ पैंतीस मील थी। इस मार्ग का कोसंबी से पावा तक का अंश उत्तर प्रदेश की सीमा के भीतर पड़ता है।

विनय पिटक (३,११) में एक अन्य मार्ग का वर्णन है जिससे होकर स्वयं बुद्ध गए थे। यह पश्चिम में वेरंज से आरंभ होकर सोरेय्य, संकस्स[7], कण्णकुज्ज[8], पयाग-तित्थ[9] होते हुए बनारस जाता था, जिनमें सोरेय्य को छोड़कर शेष सभी उत्तर प्रदेश के अंतर्गत हैं। द्वितीय बौद्ध-परिषद् के वर्णन[10] में भी एक ऐसे ही मार्ग का निर्देश है। यस थेर रेवत थेर से मिलने के लिए सोरेय्य गया। परंतु रेवत पहले ही वहाँ से प्रस्थान कर चुका था, अतः यस ने संकस्स–कण्णकुज्ज-उदुंबर–अग्गालपुर के मार्ग से उसका अनुसरण किया और सहजाति में उससे जा मिला, जो गंगातट पर अवस्थित था। यस कण्णकुज्ज से पूरब की ओर वेसाली जानेवाले मार्ग से चला। सहजाति संभवतः कनौज से अनतिदूर गंगा के दूसरे तट पर कहीं था। एक तीसरा मार्ग सावत्थी से राजगह को किटागिरि और आलवि होते हुए जाता था, जिसकी दूरी सावत्थी[11] से तीस योजन और बनारस से बारह योजन थी।[12] कनिंघम और हार्नले

१. नौतनवाँ से बारह मील पर।

२. कसिया (प्राचीन कुशीनगर)।

३. पडरौना जो कसिया से बारह मील दूर है।

४. बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में गंडक के पूर्व आधुनिक बसाढ़।

५. पटना के निकट वर्तमान राजगिर (प्राचीन राजगृह)।

६. सुत्तनिपात, ९७६-११४६।

७. इसकी पहचान कनौज से पैंतालीस मील पर अतरंजी और कनौज के बीच संकिसा-बसंतपुर से की गई है। संकिसा से मथुरा की दूरी चार योजन (कच्चायन, ३।१) और श्रावस्ती से तीस योजन थी (जातक, ४, २६५)।

८. कनौज।

९. इलाहाबाद। कोसंबी से बनारस की दूरी यमुना से होकर तीस योजन अर्थात् लगभग ९० मील थी, जो अनुमान प्रायः ठीक जान पड़ता है।

१०. विनय महावग्ग।

११. विनय, २, पृ० १७०–५।

१२. वाटर्स, २,६१; फाहियान, पृ० ६०, ६२।

ने आलवि की पहचान उन्नाव जिले के नेवल से की है, परंतु बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार उसे कहीं सुलतानपुर और जौनपुर के बीच होना चाहिए।

उस समय अन्य भी अनेक छोटे-छोटे मार्ग रहे होंगे, क्योंकि बौद्ध ग्रंथों में ऐसे बहुत से स्थानों के नाम आते हैं जो अधिकतर कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कौशांबी और बनारस के आसपास थे। उनमें से अधिकांश संभवतः गाँव या छोटे-छोटे नगर थे, जहाँ से बुद्ध को अनेक अनुयायी प्राप्त हुए। बौद्ध ग्रंथों में स्थानों के बीच की दूरियाँ अनुमान से दी गई थीं, परंतु वास्तविक माप से उनमें अधिक अंतर नहीं पाया जाता।

अध्याय २

बुद्ध के पूर्व धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति

ई० पूर्व सातवीं–छठी शती का समय उत्तर भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। न केवल राजनैतिक क्षेत्र में, अपितु धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में इस काल में क्रांति हुई। वैदिक कर्मकांड और जीवहिंसा के विरुद्ध जो विचारधारा इस काल में बनी उसने समाज को बहुत प्रभावित किया।[1] उपनिषदों के अध्यात्मवाद में तत्त्वदर्शन का उच्च रूप दिखाई पड़ता है। कर्मकांड की जटिलता के स्थान में अब ब्रह्म की उपासना तथा आत्मा-परमात्मा के गूढ़ विषयों का चिंतन समाज के विचारशील व्यक्तियों में अधिक मान्य हुआ। पुरोहित-ब्राह्मणों की वरिष्ठता को इस संक्रांतिकाल में धक्का पहुँचा। उनके दुरूह एवं व्यय-साध्य याज्ञिक अनुष्ठानों से जनता के एक बड़े भाग का विश्वास उठने लगा। अब क्षत्रिय लोग अध्यात्म-चिंतन के क्षेत्र में अग्रसर हुए। यहाँ तक कि वे तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा ब्राह्मणों को भी देने लगे। जनक, प्रवाहण जैबलि, अजातशत्रु आदि क्षत्रिय शासकों के उदाहरण हमारे सामने हैं। बृहदारण्यक[2] तथा छांदोग्य[3] उपनिषदों में आया है कि उद्दालक आरुणि नामक विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र श्वेतकेतु पंचाल के शासक प्रवाहण जैबलि की सभा में अपने ज्ञान की परीक्षा देने गए। जैबलि ने उनसे आत्मा और परलोक संबंधी कतिपय प्रश्न पूछे, जिनका संतोषजनक उत्तर श्वेतकेतु न दे सके। उन्होंने लौटकर यह बात अपने पिता से बताई। इसपर उद्दालक आरुणि स्वयं प्रवाहण जैबलि के यहाँ गए और उनसे पिता-पुत्र दोनों ने तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की।

उपनिषदों के उच्च दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ वैदिक कर्मकांड भी चल रहा था। श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र इसके प्रमाण हैं। इस साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञों

१. ऋग्वेद (१०, १२९) में भी इस विचारधारा की ओर कुछ संकेत मिलता है।

२. बृहदारण्यक०, ६,१,१।

३. छान्दोग्य०, ५, ३, १। कुछ क्षत्रिय शासक अपने पुत्रों को ब्राह्मणों से शिक्षा न दिलाकर स्वयं देने लगे थे। गामणिचंड जातक (२, २९७) में मिलता है कि किस प्रकार एक क्षत्रिय राजा के द्वारा अपने पुत्र को स्वयं वेदों तथा सांसारिक बातों की शिक्षा दी गई—'तयो वेदे सब्बं च लोके कत्तब्बं।'

और उनकी प्रणालियों का विस्तृत कथन मिलता है। ब्राह्मणों का एक अच्छा समुदाय अब भी इन यज्ञों का संचालन कर रहा था, यद्यपि उनमें पहले-जैसी व्यापक आस्था न रह गई थी। बुद्ध के पहले के तथा उनके समसामयिक अनेक शासक वैदिक कर्मकांड के प्रबल समर्थक एवं संरक्षक थे।

ब्राह्मण वर्ग का कोई बड़ा केंद्रीय संगठन बुद्ध के पूर्व न था। ब्राह्मणों के ऐसे कोई मंदिर भी न थे जिनमें लोग विधिवत् पूजा-आराधना कर सकते। प्रायः साधारण जनसमाज वृक्षों की पूजा करता था, जिनमें देवत्व की भावना मानी जाती थी। वृक्षों के अतिरिक्त साधारण लोगों में नाग-पूजा भी प्रचलित थी। ये नाग जल के निवासी और प्रभूत संपत्ति के स्वामी माने जाते थे। लोग उनसे भय खाते थे। इन नागों की सर्पविग्रह[1] तथा मानवविग्रह[2] इन दोनों रूपों में पूजा होती थी।

यक्षों तथा गंधर्वों की भी पूजा इस काल में प्रचलित थी। यक्षों के अनेक बड़े केंद्र मथुरा, आलवी आदि स्थानों में थे। ये यक्ष महान् शक्तिशाली तथा धन के अधिपति माने जाते थे। यक्षों तथा यक्षिणियों की पूजा में लोगों का विश्वास बढ़ चला था। उनके अनेक रूपों की कल्पना की गई थी। यक्षों के पराक्रमी रूप के प्रति लोगों में भय-जनित श्रद्धा उत्पन्न हुई। यक्षिणियों की साधना प्रायः उनके कल्याणप्रद सुंदर-मोहक रूप में की जाती थी; उनका दूसरा रूप भयावना होता था। प्राचीन साहित्य में यक्षों के संबंध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न पूछने की बात प्रसिद्ध है। इस यक्ष-प्रश्न की वैदिक संज्ञा 'ब्रह्मोद्य'[3] थी। उत्तर भारत में यक्ष-पूजा का कितना अधिक प्रचार हो गया था, इसका विशेष पता हमें बौद्ध और जैन-साहित्य से चलता है। इस साहित्य में उंबरदत्त, सुरंबर, माणिभद्र, भंडीर, शूलपाणि,

१. इससे तात्पर्य साँप के आकारवाली मूर्तियों से है। कभी-कभी केवल फण की आकृति बनाकर उसकी पूजा होती थी। सर्पविग्रह-प्रतिमाओं को प्रायः संतान की इच्छा रखनेवाली स्त्रियाँ पूजती थीं।

२. इसमें नाग-नागी को पुरुष-स्त्री रूप में दिखाया जाता था। सिर के ऊपर सात या पाँच फण रहते थे।

३. यजुर्वेद, ३२, ९ तथा ४५। यक्ष के लिए वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' नाम प्रायः मिलता है। इसकी पूजा का प्रचलन 'बरम' तथा 'बरमदेव' नाम से आज तक प्रचलित है। बीर, जखैया आदि की पूजा भी प्राचीन यक्ष-पूजा के आधुनिक रूप हैं। इसी प्रकार यक्षिणी-पूजा के प्रकार माता, जोगिनी, डाकिनी आदि की पूजा में देखे जा सकते हैं।

सुरप्रिय, घंटिक, पूर्णभद्र आदि कितने ही शक्तिशाली यक्षों के नाम मिलते हैं। इसी प्रकार कुंती, नटा, भट्टा, रेवती, तमसुरी, लोका, मेखला, आलिका, बेन्दा, मघा, तिमिसिका आदि अनेक यक्षियों या यक्षिणियों के नाम भी प्राप्त होते हैं,[१] जिनसे लोग बहुत भय खाते थे। अंतिम चारों यक्षिणियां मथुरा की थी। बुद्ध ने उन्हें दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्त किया। मथुरा में गर्दभ नामक यक्ष बड़ा शक्तिशाली था। इसका दमन कर बुद्ध ने मथुरा के निवासियों का कष्ट दूर किया।[२] इसी प्रकार आलवि का दुर्दांत यक्ष भी बुद्ध द्वारा विनम्र बनाया गया।

इस काल की अनेक लौकिक मान्यताओं तथा अंधविश्वासों का भी पता चलता है। इनमें से कुछ इस प्रकार थे—हस्त-ज्योतिष, सब प्रकार के दैव-कथन, दैवी घटनाओं से फलों का कथन, स्वप्न-फल, मूषकों द्वारा काटे हुए कपड़े का फल-कथन, अग्नि-बलि, विभिन्न प्रकार के देवों को बलि-प्रदान, भाग्यप्रद स्थानों का अभिज्ञान, मंत्र-तंत्र, प्रेतविद्या, सर्प तथा विविध पशु-पक्षियों का वशीकरण, फलित ज्योतिष, विविध प्रकार की भविष्य वाणियां, किसी लड़की में देव को बुलाकर या दर्पण की सहायता से रहस्य का उद्घाटन, गुप्त धन को खोजने की विद्या, सर्वशक्तिमान् की उपासना, 'सिरि' या लक्ष्मी देवी का आह्वान, देवों की आन या सौगंध तथा वशीकरण और इंद्रजाल की विद्याएँ।[३]

इस प्रकार लोक में अनेक प्रकार के चमत्कारपूर्ण क्रिया-कलापों तथा मंत्र-तंत्रों में श्रद्धा विद्यमान थी। वैदिक देवताओं—अग्नि, इंद्र आदि—की पूजा अब भी प्रचलित थी। परंतु इसके साथ ही मातृदेवी, वृक्ष-देवता, यक्षों, नागों तथा असुरों की पूजा भी होती थी। इन लौकिक देवताओं में कुछ तो दयालु थे और कुछ कठोर और क्रोधी। अनेक देवता वायु, मेघ, गर्मी, प्रकाश आदि के प्रतीक थे और कुछ मानसिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे।

अनेक मत-मतांतर इस काल में फूल-फल रहे थे। इस संक्रांति काल में धार्मिक मान्यताओं के संबंध में लोगों को विचार-स्वातंत्र्य प्राप्त था। कुछ आधुनिक विद्वानों का

१. द्रष्टव्य डा० मोतीचंद्र, 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑव यक्ष कल्ट' (बुलेटिन ऑव दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बंबई, १९५४), पृष्ठ ४३ तथा आगे।

२. इस यक्ष के संबंध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए नलिनाक्ष दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १, पृ० १४–१७।

३. द्रष्टव्य रिज डेविड्स, बुधिस्ट इंडिया (कलकत्ता संस्करण, १९५०), पृ० १४३–४४।

यह विचार कि बुद्ध के पूर्व भारतीय समाज ब्राह्मणों द्वारा पैदा की गई धार्मिक रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था, युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में इस काल के लोग धार्मिक विषयों में स्वतंत्र थे,जिसके फलस्वरूप चिंतन की कितनी ही धाराएँ एवं संप्रदाय अस्तित्व में आ गये थे। पाली साहित्य के अनुसार बुद्ध के धर्म-प्रचार के पूर्व ६२ संप्रदाय विद्यमान थे। ये आजीवक, परिव्राजक, जटिलक, मुंड श्रावक, तेदंडिक आदि थे। जैन ग्रंथों में इन संप्रदायों की संख्या ३६३ दी हुई है। इनमें से कितने ही वैदिक धर्म में या जैन एवं बौद्ध धर्म में समा गये होंगे। बुद्ध के समय में विविध धर्मों के कितने ही विद्वान् प्रचारक मौजूद थे। इनमें पुराण कस्सप, मक्खलि गोषाल, निगंठ नाटपुत्त, अजित केशकम्बलिन्, असित ऋषि, पकुद्ध कच्चायन, मोग्गलान, संजय वेलट्ठपुत्त, आड़ार कालाम, उद्दक रामपुत्त (रुद्रक रामपुत्र) आदि अनेक विद्वानों के नाम साहित्य में मिलते हैं।

इस काल की सामाजिक स्थिति का भी यहाँ परिचय देना आवश्यक है। बुद्ध के पूर्व समाज में रंग वा वर्ण (वन्न) के आधार पर बड़ाई-छुटाई थी। पर उसने परवर्ती काल की 'जाति-प्रथा' का रूप नहीं ग्रहण किया था। जन्म ही उच्चता या लघुता का निर्णायक है, यह बात समाज के एक अल्प वर्ग में ही मान्य थी। कर्म की प्रधानता की ओर अब लोगों का ध्यान गया था और यह स्वीकार किया जाने लगा था कि छोटे समझे जानेवाले लोग अच्छे कर्मों से ऊँचे उठ सकते हैं। उपनिषदों में तथा बुद्ध द्वारा दिये गये कई उत्तरों में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है।[1]

वंश-परंपरागत कर्मों को छोड़कर लोग अन्य पेशों को भी अपनाते थे। जातक साहित्य में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं। एक जातक[2] में एक क्षत्रिय पहले कुंभकार का काम और फिर डलिया बनानेवाले का काम अपनाता है। उसके बाद वह क्रमशः वंशकार, मालाकार तथा रसोइया बनता है। पर इन बातों से उसकी उच्च जाति में कोई अंतर नहीं आता। इसी प्रकार एक सेट्ठि, दर्जी तथा कुम्हार का पेशा अपनाने पर भी उच्च वर्ग का ही माना जाता है।[3] कुछ ब्राह्मणों के द्वारा जब यह देखा गया कि यज्ञादि कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन नहीं हो पाता तब वे अन्य कार्य करने लगे। बौद्ध साहित्य में खेती करनेवाले ब्राह्मण[4] (कस्सक), वाणिज्य में लग्न

१. द्रष्टव्य जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०१, पृ० ८६८।

२. जातक, ५, २९०।

३. जातक, ६, ३७२।

४. जातक, ३, १६३; ५, ६८।

ब्राह्मण[1], बढ़ई (वड्ढकि)[2] ब्राह्मण तथा शिकारी ब्राह्मणों[3] के उल्लेख मिलते हैं। कुछ ब्राह्मण विद्यार्थियों को पढ़ाने, भविष्य-कथन तथा मंत्र-तंत्र का काम भी करने लगे थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा सेट्ठि (वैश्य)—इन तीन उच्च वर्णों के अतिरिक्त हीन जातिवाले लोग भी थे। जिनके पेशों ('हीनसिप्पानि') का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। ये लोग चिड़ीमार, नट, चमार, जुलाहे, डलिया बनानेवाले, बढ़ई, नाई, कुम्हार आदि थे। इन हीन जातियों के भी नीचे चंडाल, पुक्कुस आदि थे।[4] इनके अतिरिक्त दास भी थे, जिनकी संतान भी प्रायः दास समझी जाती थी। ये लोग अधिकतर घरेलू नौकर होते थे और उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। इनकी संख्या अधिक न थी।

तत्कालीन समाज में अनुलोम तथा प्रतिलोम–दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। दो असवर्ण स्त्री-पुरुषों के संयोग से उत्पन्न संतान प्रायः उच्च वर्ग की मानी जाती थी।[5] आपस में खानपान भी प्रचलित था, पर चंडालों, पुक्कुसों आदि के साथ उच्च वर्ग के लोगों का भोजन करना गर्हित समझा जाता था।

इस काल की एक उल्लेखनीय व्यवस्था आश्रमों की थी। आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषद्-ग्रंथों में केवल तीन आश्रम बताए गए हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ। ये तीनों आश्रम जीवनरूपी वृक्ष की तीन शाखाओं के रूप में माने जाते थे, न कि जीवन की क्रमिक धाराओं के रूप में। परवर्ती उपनिषदों में तथा महाभारत एवं धर्म-सूत्रों में आश्रमों का पिछला स्वरूप मिलने लगता है और चौथा संन्यास आश्रम भी तीनों आश्रमों के साथ जुड़ जाता है।

वनों में निवास करनेवाले वानप्रस्थी लोग प्रायः वैदिक कर्मकांड से विरत रहने लगे थे। उन्होंने ज्ञान-मार्ग को अधिक श्रेयस्कर समझा। धर्म-प्रचारकों के रूप में इन लोगों की मान्यता बढ़ी। अनेक विदुषी महिलाओं ने भी वैदिक कर्मकांड के स्थान पर दार्शनिक विचारधारा के प्रचार में योग दिया। फलस्वरूप कर्मकांड की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

१. जातक, ५,४७१; २, १५।
२. जातक, ४, २०७।
३. जातक, २, २००।
४. अंगुत्तर निकाय, १, १६२; याकोबी, जैनसूत्रज, २, ३०१।
५. जातक, ४, ३८; १४६ तथा ६, ३४८।

बुद्ध के पूर्व उत्तर भारत की जनभाषा पाली थी। इसका प्रचार तक्षशिला से लेकर चंपा[1] तक था। संस्कृत का प्रयोग उच्च वर्ग के कुछ लोगों तक ही सीमित था। यह संस्कृत प्राचीन वैदिक संस्कृत से भिन्न हो चली थी। जनभाषा पाली में वैदिक संस्कृत के कितने ही शब्द घुल-मिल गए थे। कुछ नये शब्द भी गढ़े गए या अनार्य भाषाओं से ग्रहण किए गए। बुद्ध ने इसी जनभाषा पाली को अपनाया। इस कारण भी ब्राह्मणों में उनके प्रति विरोध की भावना पैदा हुई।

प्राक्-बुद्धकालीन समाज की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे उन्नति पर थे। यातायात के साधनों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। सड़कों के किनारे बड़े नगर स्थापित थे, जिनमें विविध व्यवसाय प्रचलित थे। ये नगर चंपा, राजगृह, वैशाली, वाराणसी, अयोध्या, साकेत, श्रावस्ती, कौशांबी, मथुरा, तक्षशिला आदि थे। जो मुख्य व्यवसाय इस काल में प्रचलित थे वे वस्त्र-उद्योग, हाथी दाँत का काम, धातु का काम, बढ़ईगीरी, कुम्हार का काम तथा पत्थर का काम थे। इनके अतिरिक्त रत्नकार, मालाकार (माली), सुराकार (मदिरा बनानेवाले), रंग-कार (रंगरेज), चर्मकार (जूते आदि बनानेवाले) भी थे।

इस काल में शिल्पियों और व्यवसायियों ने अपने को ग्रामीण कृषक जनता पर पूर्णतया अवलंबित रहने से बहुत-कुछ स्वतंत्र कर लिया था। इससे उन्हें अपने व्यवसाय को एक निर्दिष्ट परिधि से आगे बढ़ाने का मौका मिल गया। अब वे गाँव के लोगों की आवश्यकताओं से कहीं अधिक सामान बनाने लगे और उसे बाहर भेजने लगे। उद्योगों की उन्नति एवं सुरक्षा के लिए विविध व्यवसायवालों ने अपने-अपने संगठन बना लिए, जो निगम, संघ, श्रेणि, पूग, निकाय आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। प्रत्येक निगम का एक प्रधान या अध्यक्ष होता था जो 'पमुख' (प्रमुख) या 'जेट्ठक' (ज्येष्ठक) कहलाता था। जातकों में 'कुमारजेट्ठक' (सं० ३८७), 'मालाकार जेट्ठक' (सं० ४१५), 'वड्ढकिजेट्ठक' (सं० ४६६) आदि के उल्लेख मिलते हैं। व्यापारियों के समुदायों के प्रधान 'सत्थवाह जेट्ठक' (सं० २५६) कहलाते थे। जातकों से पता चलता है कि चोरों के भी समुदाय अपने जेट्ठक नियुक्त करते थे। ५०० चोरों के एक जेट्ठक का वर्णन सत-पत्त जातक (सं० २७९) में मिलता है। समुद्दवाणिज जातक (सं० ४६६) में लिखा है कि एक गाँव में बढ़इयों के १,००० मकान थे। इनमें से प्रत्येक ५०० बढ़इयों के ऊपर

१. यह बिहार प्रांत के जिला भागलपुर म है। प्राचीन अंग राज्य की चंपा नगरी राजधानी थी।

एक अध्यक्ष था।[१] कहीं-कहीं अध्यक्ष के लिए सेट्ठि (श्रेष्ठि) शब्द मिलता है। विभिन्न निगमों में सदस्यों की संख्या पृथक्-पृथक् होती थी। शिल्पियों और व्यापारियों के निकाय अपने-अपने व्यवसायों के संरक्षण एवं प्रवर्धन के प्रति सचेष्ट रहते थे। इनके जेट्ठकों का शासन में प्रायः महत्त्वपूर्ण भाग रहता था। निकायों के अपने नियम थे, जो राज्य द्वारा मान्य थे। धर्मसूत्र ग्रंथों से पता चलता है कि राजा संघों के नियमों का आदर करता था और किसी प्रकार की अव्यवस्था होने पर विविध वर्गों को उनके नियमों में नियोजित करता था।[२] निगमों का शासन-कार्य में बड़ा हाथ रहता था। उरग-जातक[३] से ज्ञात होता है कि व्यावसायिक संघों के दो अध्यक्ष कोसल राज्य के महामात्र-पद पर आसीन थे। सूचीजातक में लोहकारों के प्रमुख को 'राजवल्लभ' (राजा का विशेष कृपापात्र) कहा गया है। निग्रोध जातक[४] में उल्लेख आया है कि एक जेट्ठक राज्य का कोषाध्यक्ष बनाया गया था।

बौद्ध साहित्य में 'सेट्ठि' (सेठ) का उल्लेख बहुत मिलता है। ये कई प्रकार के होते थे। सबसे बड़ा 'महासेट्ठि' कहलाता था। उससे छोटे 'अनुसेट्ठि' तथा 'उत्तरसेट्ठि' थे। समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। बुद्ध के समकालीन अनाथपिंडिक सेठ की कथा प्रसिद्ध है। उसका संबंधी राजगृह का महासेट्ठि था।[५] मगधराज बिंबिसार तक उसके यहाँ निमंत्रण में आया करते थे। इसी प्रकार मृगधर, यश, मेंडक, धनंजय आदि की गणना भी बड़े श्रेष्ठियों में थी। महावग्ग से ज्ञात होता है कि राजगृह का सेट्ठि वहाँ के राजा तथा वणिक-समुदाय के हित के लिए विविध कार्य करता रहता था।[६] राजा लोग सेट्ठि का बड़ा आदर करते थे और उसकी सलाह राज्य के अनेक कार्यों में ली जाती थी। विशेष आवश्यकता पड़ने पर सेट्ठि राज्य के लिए धन भी प्रदान करता था। व्यापारिक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में वह राजा से व्यावसायिक हितों की रक्षा कराता

१. "कुलसहस्से पञ्चसतं पञ्चसतं कुलसतानं जेट्ठका द्वे वड्ढकि अहेसुं।" (जा० सं० ४६६)। निगमों की विस्तृत सूची के लिए देखिए रमेशचंद्र मजुमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ५, १८–१९, तथा रिज डैविड्स, बुधिस्ट इंडिया, पृ० ५७ तथा आगे।

२. देखिए गौतम धर्मसूत्र, ११,२१।

३. सं० १५४।

४. सं० ४४५।

५. चूलवग्ग, ६, ४, १।

६. "बहूपकारको देवस्स चेव नेगमस्स च।" (महावग्ग, ८, १, १६)।

था। विभिन्न निगमों के बीच कोई झगड़ा उपस्थित होने पर राजा सेट्ठि की सहायता से उसे निपटाता था। देश की आर्थिक योजनाओं के निर्माण में, उत्पादन-वितरण आदि की व्यवस्था में तथा श्रेणिधर्म पर विचार करने में राजा श्रेष्ठि से परामर्श करता था। श्रेष्ठि की अनुपस्थिति में उसका कार्य अनुश्रेष्ठि (अनुसेट्ठि) करता था।[१]

ये महासेट्ठि आदि के पद प्रायः कुलक्रमागत होते थे। राजपरिवार उनके प्रति सम्मान का भाव रखते थे। अट्ठान जातक[२] में लिखा है कि बनारस का राजकुमार वहाँ के सेट्ठि-पुत्र के साथ एक ही गुरु के यहाँ पढ़ता था। बड़े होने पर भी इन दोनों की मैत्री में कमी नहीं आई। सेट्ठि लोग प्रायः साहित्य तथा ललित कलाओं को संरक्षण प्रदान करते थे। उनके यहाँ कितने ही संगीतज्ञ, नर्तक-नर्तकियाँ, चित्रकार तथा अन्य कलाकार रहते थे। समय-समय पर उनके यहाँ विविध आमोद-प्रमोद के विशेष आयोजन हुआ करते थे। जातकों में 'असीतिकोटिविभवो सेट्ठि' (अस्सी करोड़ की संपत्तिवाले सेट्ठि) के वर्णन कई स्थानों में मिलते हैं।[३] नगरों के अतिरिक्त कुछ सेट्ठि गाँवों में भी रहते थे। संभवतः उनके लिए ही साहित्य में 'जनपद सेट्ठि' शब्द का व्यवहार हुआ है।[४]

सेट्ठि लोग अपने लड़कों को ऊँची से ऊँची शिक्षा दिलाने का प्रयत्न करते थे। निग्रोध जातक से ज्ञात होता है कि राजगृह के सेट्ठि ने अपने दो लड़कों को तक्षशिला में अध्ययन के लिए भेजा और वहाँ के अध्यापक को २,००० मुद्राएँ भेंट में दीं। उस समय तक्षशिला के विश्वविद्यालय में विविध शिल्पों (सिप्पानि) की उच्च शिक्षा का प्रबंध था।

शिल्पी तथा व्यवसायी लोग दान देने में अग्रणी थे। कितने ही मंदिर, औषधालय, पुण्यशाला, विद्यालय तथा गरीब लोग उनके दान से चलते-पलते थे। विविध व्यवसाय-वालों तथा साधारण गृहपतियों को वे धन उधार देते या दिलाते थे। उस समय बैंक नहीं थे। जैसा कि जातकों से पता चलता है, लोग प्रायः अपना धन जमीन में गाड़ देते थे।[५] बिना ब्याज के और ब्याज पर भी धन उधार दिया जाता था। पाणिनि ने द्वैगुणिक (दुगुने), त्रैगुणिक (तिगुने) और दशैकादशिक (दस-ग्यारह गुने) ब्याज का

१. रिचर्ड फिक, दि सोशल आर्गेनिजेशन इन नार्दर्न इंडिया इन बुद्धज टाइम, (कलकत्ता, १९२०), पृ० २५८ तथा आगे।

२. सं० ४७५।

३. जातक सं० १२८, ३००, ४४४ और ३८२।

४. निग्रोध जातक (सं० ४४५)।

५. उदाहरणार्थ देखिए जातक संख्या ३९, ७३ तथा १३७।

उल्लेख किया है, जो वास्तव में बहुत अधिक था। वशिष्ठ ने व्याज की दर दो प्रतिशत से पाँच प्रतिशत तक लिखी है।[1] धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिए ब्याज लेना निषिद्ध लिखा है। ब्याज की विभिन्न दरें प्राक्-बुद्धकाल में भी प्रचलित रही होंगी।

इस प्रकार हम देखते हैं बुद्ध के पूर्व वर्तमान उत्तर प्रदेश के कोसल, काशी, पंचाल, शूरसेन आदि राज्य आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे। शिल्प तथा वाणिज्य की दशा अच्छी थी। इस काल में कई बड़े व्यापारिक मार्ग थे। एक बड़ी सड़क श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाती थी। इसपर मुख्य बड़े नगर साकेत, कौशांबी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी तथा माहिष्मती थे। दूसरा बड़ा मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। व्यापारी लोग श्रावस्ती से तराई में होते हुए वैशाली के उत्तर पहुँचते थे। फिर वहाँ से दक्षिण की ओर जाते थे। मार्ग में ठहरने के स्थान सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, हस्तिग्राम, भंडग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालंदा थे।[2]

---

१. वशिष्ठ धर्मसूत्र, २, ४८-४९।

२. यातायात के अन्य मार्गों का वर्णन पिछले अध्याय (पृ० ११-१४) में किया जा चुका है।

अध्याय ३

गौतम बुद्ध का प्रारंभिक जीवन

भगवान् बुद्ध का जीवन कोसल में बौद्ध धर्म के इतिहास का एक सारभूत अंग है। बुद्ध पसेनदि की भाँति कोसलक थे, यह पसेनदि के ही शब्दों में इस प्रकार व्यक्त होता है--"भगवापि कोसलको अहं पि कोसलको।"[1] राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था और शाक्यों का देश राजा पसेनदि के राज्य में सम्मिलित था। अग्गञ्ञ सुत्तांत[2] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शाक्य गण पसेनदि कोसलक से अनुयुक्त (अनुयुत्तो) थे और उनके प्रति उचित आदर और प्रणति प्रकट करते थे। पसेनदि भी राज्य-कार्य से शाक्यों के प्रदेश में जाया करते थे।[3] अतः कोसल या उत्तर प्रदेश महात्मा बुद्ध का स्वदेश होने का पूरा दावा कर सकता है।[4] यद्यपि सिद्धार्थ ने बुद्धत्व (बोधि) गया में प्राप्त किया, परंतु उन्होंने न केवल अपना प्रथम उपदेश बनारस के निकट इसिपत्तन में दिया अपितु वहीं उन्होंने अपने शिष्यों का प्रथम दल संघटित किया और उन्हें इस आदेश के साथ विभिन्न स्थानों में भेजा--"जाओ भिक्षुओ, भ्रमण करो, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकंपा करने के लिए, देवों और मनुष्यों के हित एवं सुख के लिए। तुममें से कोई दो एक साथ मत जाओ। भिक्षुओ, उपदेश करो धर्म का, जो आदि में कल्याणमय है, मध्य में कल्याणमय है, अंत में कल्याणमय है" (चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकंपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं, म एकेन द्वे अगमित्थ, देसेथ भिक्खवे, धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परिओसान कल्याणं)।

बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्य का संपूर्ण उत्तरार्ध काल श्रावस्ती में ही बीता, जो उस समय कोसल की राजधानी थी। और उन्होंने अपना शरीर-त्याग किया कुशीनारा

१. मज्झिम० २, पृ० १२४।

२. दीघ० ३।

३. मज्झिम० २, पृ० ११८--"पसेनदि कोसलको नंगरकं अनुपत्तो होति केनचिद् एव करणीयेन;" ३, पृ० १०४--"नंगरकं नाम सक्यानं निगमो।"

४. सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं--"हिमवंत-कोसल से सटे हुए ही आदिच्च-साक्य हैं। उसी साक्य-कुल से मैंने प्रव्रजन किया।"

(कसिया) में। बौद्धधर्मियों को स्वयं बुद्ध ने तीर्थयात्रा के लिए जो चार स्थान बतलाए थे उनमें से तीन उत्तर प्रदेश की सीमा के अंतर्गत अवस्थित हैं।[1]

इन सब साक्ष्यों के आधार पर असंदिग्ध रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम बुद्ध उत्तर प्रदेश के थे। आगे यह दिखाया जायगा कि उन्होंने उन्हीं स्थानों में अपने उपदेश सबसे अधिक दिए और विनय के अधिकांश नियम निर्मित किए जो उत्तर प्रदेश राज्य में ही सम्मिलित है। यह भी बताया जायगा कि श्रावस्ती और बनारस बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के अत्यंत प्रिय स्थान थे, जहाँ वे प्रायः एकत्र हुआ करते थे।

बुद्ध के परंपराप्राप्त जीवन-चरित में उनकी बोधिसत्त्व तथा बोधिसत्त्व के पूर्व तक की अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। महावस्तु में बोधिसत्त्व के पूर्व की अवस्था को 'प्रकृति-चर्या' कहा गया है। इस चर्या (साधना-क्रम) में रहनेवाला व्यक्ति सामान्य मनुष्य (प्रकृति=पाली 'पुथुज्जन') ही रहता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह (१) अपने माता-पिता का आज्ञापालक हो, (२) श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति उदार रहे, (३) गुरुजनों का आदर करे, और (४) दस प्रकार के सत्कर्मों (कुशल-कर्मपथ) को करता रहे। साथ ही उसे यह भी चाहिए कि वह (५) दूसरों को दान देने तथा पुण्यार्जन करने के लिए उत्साहित करे और (६) बुद्धों और अर्हतों की पूजा किया करे। परंतु इस चर्या में मनुष्य के हृदय में बुद्धत्व प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं जगती। निदानकथा में सामान्य मनुष्य के कर्तव्यों का विवरण नहीं दिया गया है और केवल यह कहा गया है कि बोधिसत्त्व अपनी बोधिसत्त्व के पूर्व की अवस्था में तण्हंकर, मेधंकर तथा सरणंकर नामक बुद्धों के समकालीन थे। महावस्तु के अनुसार बोधिसत्त्व अवस्था एक प्राचीन शाक्यमुनि बुद्ध के समय से प्रारंभ हुई, जब कि हमारे बोधिसत्त्व ने बोधि प्राप्त करने का प्रथम निश्चय (प्रणिधान) किया, और बाद में यह निश्चय उन्होंने कई बार किया। केवल इन प्रणिधानों के समय को 'प्रणिधि या प्रणिधान चर्या' कहते हैं। बोधिसत्त्व की दूसरी चर्या जिसे 'अनुलोम' (अग्रसर होना) कहते हैं, समितावी बुद्ध के समय में प्रारंभ हुई, जब कि वे बोधिसत्त्व के लिए विहित

१. उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त, जो कि यह सिद्ध करते हैं कि बुद्ध कोसलक थे, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध का सबसे पहला जीवनचरित उनके श्रावस्ती में दिये गये प्रवचनों में प्राप्त होता है, जैसे अरिय परियेसन सुत्त (मज्झिम० १, पृ० १६० तथा आगे) जो एक आत्मचरित है, तथा अच्छरियब्भुत धम्मसुत्त (मज्झिम० ३, पृ० ११८ तथा आगे) जिसमें ललितविस्तर में पाई जानेवाली कुछ अनुश्रुतियाँ दी हुई हैं।

अनिवार्य गुणों को प्राप्त करने में प्रवृत्त हुए। इसका विवरण कई जातकों में दिया हुआ है। महायान मत के अनुसार अनुलोम-चर्या में रहते हुए बोधिसत्त्व उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए प्रथम से अष्टम 'भूमि' तक पहुँच जाते हैं। अविवर्त या अनिवर्तन (न लौटनेवाली) नाम की चतुर्थ चर्या हमारे बोधिसत्त्व ने दीपंकर बुद्ध के समय में ग्रहण की, जब कि उन्होंने मेघमाणव अथवा सुमेध ब्राह्मण के रूप में जन्म लिया।

महावस्तु में दी हुई मेघमाणव की कथा इस प्रकार है—'मेघमाणव ने जब अपनी ब्राह्मण-धर्म की शिक्षा समाप्त कर ली तब वे अपने गुरु को अध्ययन-समाप्ति की गुरु-दक्षिणा देने के लिए धन एकत्र करने के हेतु हिमवंत के मैदानों में आए। एक उदार व्यक्ति ने उन्हें 'पुराण' नाम वाली पाँच सौ मुद्राएँ दीं। उनके मन में राजधानी दीपवती को देखने की इच्छा हुई और उन्होंने देखा कि नगर खूब सजाया गया है, जैसे कोई समारोह मनाया जा रहा हो। अपने हाथों में सात कमल पुष्प लिए हुए एक सुंदर युवती जा रही थी, उससे पूछने पर उन्हें पता चला कि नगर दीपंकर बुद्ध के स्वागत के लिए सजाया गया है। तब उन्होंने पाँच सौ 'पुराण' मूल्य देकर उससे पाँच कमल पुष्प क्रय करने की इच्छा प्रकट की। युवती ने उत्तर दिया कि वे पुष्प उन्हें तभी मिल सकते हैं जब वे उसे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करें। उसके प्रस्ताव पर थोड़ा ननु-नच करने के बाद उसके यह विश्वास दिलाने पर कि वह उनकी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक न बनेगी, उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। दीपंकर बुद्ध की दीप्तिमान् आकृति को देखकर उनके मन में गहरी श्रद्धा उत्पन्न हुई और उन्हें अद्वैत (अद्वय संज्ञा) का बोध हो गया। वे बुद्ध की दिव्य शक्तियों को देखकर उनके भक्त बन गए और अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिए उन्होंने बुद्ध के कमलवत् चरणों की धूलि अपने केशों से पोंछी। जब वे ऐसा कर रहे थे उसी समय उनके हृदय में बोधि प्राप्त करने की अभिलाषा जाग उठी।'

दूरे निदान

निदान कथा के अनुसार बोधिसत्त्व अवस्था दीपंकर बुद्ध के समय से प्रारंभ हुई, न कि उसके पहले, जैसा महावस्तु में बताया गया है। उस समय हमारे बोधिसत्त्व का जन्म सुमेध ब्राह्मण के रूप में हुआ था, जिसकी कथा इस प्रकार है—'सुमेध का जन्म अमरावती के एक अभिजात एवं अत्यंत धनाढय ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके माता-पिता का उनकी बाल्यावस्था में ही देहांत हो गया। उन्होंने ब्राह्मण-शास्त्रों का अध्ययन

किया। अपने माता-पिता द्वारा छोड़ी हुई अपार संपत्ति से वे ऊब गए और उसे दान कर दिया। अब वे संन्यास लेकर उस अमर अवस्था (अमत-महानिब्बान) की साधना में प्रवृत्त हुए जो जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख तथा रोग-क्लेश से सर्वथा मुक्त है। उन्हें अनुभव हुआ कि यतः संसार में प्रत्येक वस्तु के धनात्मक (भावात्मक) और ऋणात्मक (अभावात्मक) दो पक्ष हैं, अतएव जन्म की भी कोई अभाव-सूचक वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो जन्मरहित हो; और वह वस्तु उन्हें प्राप्त होगी। वे हिमालय में चले गए और केवल वृक्षों से गिरे हुए फलों से जीवन-निर्वाह करते हुए धम्मक पर्वत पर रहने लगे। उन्होंने शीघ्र ही ध्यान योग तथा पंच महाशक्तियों (अभिञ्ञा)[1] में सिद्धि प्राप्त कर ली।

वे समय-समय पर नमक और फलों का रस लेने के लिए ग्रामों में जाया करते थे, सो एक दिन वे रम्मक नगर चले गए। उसी समय बुद्ध दीपंकर उस प्रत्यंतदेशीय नगर (पच्चन्त-देसविसय) रम्मक में पहुँचे और सुदस्सन महाविहार में ठहरे। सुमेध तापस ने नगर-निवासियों को बुद्ध के स्वागत के लिए नगर की सफाई और सजावट में तत्पर पाया, अतः वे भी उसमें हाथ बँटाने के लिए अग्रसर हुए। वे बुद्ध की दिव्य दीप्तिमान् आकृति पर मुग्ध हो गए और उनके मन में उनके निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर देने की इच्छा हुई। जब बुद्ध एक कर्दमयुक्त मार्ग से जा रहे थे तो उनके चरण मलिन न हो जायँ इसलिए सुमेध उस मार्ग पर रत्न-सेतु (मणिकफलक सेतु) के सदृश लेट गए, जिससे बुद्ध और उनके शिष्य जो सभी सिद्ध (अर्हत्) थे, उनके शरीर पर से चले जायँ। जब वे इस प्रकार लेटे हुए थे उस समय उनके हृदय में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मैं अपने मलिन कर्मों को नष्ट करके (जो कि वे सरलता से कर सकते थे) स्वयं मुक्ति न प्राप्त करूँ, प्रत्युत मुझे बुद्धत्व प्राप्त हो, जिससे मैं असंख्य प्राणियों का जीवन-मरण के प्रवाह से उद्धार करने में समर्थ हो सकूँ। तब दीपंकर ने ठीक उनके सिर के सामने खड़े होकर यह भविष्यवाणी की कि यह महान् जटिल तापस असंख्य कल्पों के अनंतर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। वह कहाँ जन्म लेगा, कैसे परम ज्ञान (बोधि) प्राप्त करेगा और कौन उसके मुख्य शिष्य होंगे, इसका भी उन्होंने विस्तार से वर्णन किया। उस समय अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं ने उनकी भविष्यवाणी की पुष्टि की और एक भूकंप भी आया जिससे इस बात में कुछ भी संदेह नहीं रह गया कि सुमेध 'बुद्ध बीजंकुर' है। सुमेध को भी इस सत्य का अनुभव हुआ और अपनी उच्च शक्तियों

१. द्रष्टव्य, पाली टेक्स्ट, पृ० १४।

(अभिञ्ञा) के द्वारा उन्होंने उन दस पारमिताओं को प्राप्त किया जिन्हें पहले के बोधिसत्त्वों ने बुद्ध होने के लिए प्राप्त किया था।' सुमेध ब्राह्मण के रूप में जन्म लेने के बाद (न कि पहले) के बोधिसत्त्व के सभी जन्मों को पाली-परंपरा में उनकी 'अनुलोम-चर्या' माना गया है, जिसका उद्देश्य उन पारमिताओं या पारमियों में सिद्धि प्राप्त करना था जिनका वर्णन 'जातकत्थवण्णना' की ५५७ कथाओं में किया गया है। दसों पारमियों में से प्रत्येक की सिद्धि निम्नलिखित जन्मों में हुई—

१. वेस्संतर जातक	दान पारमिता	(दान)
२. संखपाल जातक	शील पारमिता	(नीति-उपदेश)
३. चुलसुतसोम जातक	नेक्खम्म पारमिता	(निवृत्ति)
४. सत्तुभट्ट जातक	पञ्ञा पारमिता	(ज्ञान)
५. महाजनक जातक	विरिय पारमिता	(वीर्य)
६. खन्तिवाद जातक	खन्ति पारमिता	(क्षान्ति, क्षमा)
७. महासुतसोम जातक	सच्च पारमिता	(सत्य)
८. मुगपक्ख जातक	अधिट्ठान पारमिता	(दृढ़ता)
९. एकराज जातक	मेत्ता पारमिता	(मित्रता)
१०. लोमहंस जातक	उपेक्खा पारमिता	(उदासीन भाव)

अविदूरे निदान

महावस्तु के द्वितीय भाग निदानकथा के अविदूरे निदान में तथा अन्य सभी जीवनचरितों में बुद्ध के जीवन का आरंभ उनके तुषित स्वर्ग के जीवन से होता है। जब बोधिसत्त्व अपने तुषित स्वर्ग के प्रासाद में सिंहासन पर विराजमान थे तब देवों ने उनसे बुद्ध-रूप धारण करने की (बुद्ध होने की) प्रार्थना की और उन्हें उनके पूर्व जन्मों का स्मरण कराया जिनमें उन्होंने (बोधिसत्त्व ने) बोधिसत्त्व के दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए विकट साधनाएँ कीं और घोर कष्ट सहे थे। देवों ने उन्हें उनकी बार-बार दुहराई गई उस दृढ़ प्रतिज्ञा का भी स्मरण दिलाया जो उन्होंने पृथ्वी के ही नहीं, स्वर्ग एवं नरक के भी समस्त जीवों को बारंबार के जन्म-मरण के दुःखों से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से बोधि प्राप्त करने के लिए की थी। समस्त देवों के इस प्रकार विनय करने पर बोधिसत्त्व ने घोषित किया कि अब बोधि प्राप्त करने के लिए मेरे मृत्युलोक में अवतरित होने का उपयुक्त समय आ गया है और मैं बारह वर्षों के अनंतर ऐसा

करूँगा।[1] जंबूद्वीप को उनके अवतरण के लिए तैयार करने के उद्देश्य से देवगण महापुरुषों के योग्य सातों रत्नों[2] सहित, ब्राह्मण आचार्यों के रूप में स्वयं वेद पढ़ाने के लिए पृथ्वी पर आए, जिनका अध्ययन महापुरुषों का विशेष लक्षण है। देवों ने बोधिसत्त्व के भावी अवतार की सूचना प्रत्येकबुद्धों को दे दी, क्योंकि जब सम्यक् संबुद्ध पृथ्वी पर प्रकट हों तो प्रत्येकबुद्धगण वहाँ नहीं रह सकते। सम्यक् संबुद्ध के भावी अवतार का समाचार सुनकर प्रत्येकबुद्धों ने ऋषिपत्तन-मृगदाव (वर्तमान सारनाथ, बनारस के निकट) में योगाग्नि के द्वारा अपने पवित्र मर्त्य शरीरों को त्याग दिया।

बारह वर्ष पूरे हो जाने पर, यह निश्चय करने के लिए कि उनके मनुष्य-जन्म ग्रहण करने के हेतु कौन-सा समय उपयुक्त होगा तथा कौन सा महाद्वीप, देश एवं कुल उनके योग्य होगा, बोधिसत्त्व ने संपूर्ण पृथ्वी का परिवीक्षण किया।

उनके अवतरण के लिए सबसे उपयुक्त समय सृष्टि का अंतिम युग था, जब कि चारों ओर लोग जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु के दुःखों से पीड़ित थे। सबसे उत्तम महादेश जंबूद्वीप था, पूर्वविदेह, अपर गोदान वा उत्तर कुरु नहीं। सबसे उपयुक्त स्थान जंबूद्वीप के प्रत्यंत देश में नहीं, प्रत्युत उसके मध्य में स्थित एक नगर में था। इस मध्य देश[3] की सीमा इस प्रकार बताई गई है——

१. तुलनीय मज्झिम०, ३, पृ० ११९——सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसितं कायं उपज्जि, सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसिते काये अत्थासि सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसित काया चवित्वा मातु कुच्छि ओक्कमीति। 'अभिनिष्क्रमण सूत्र' में यह वर्णन किया गया है कि तुषित भगवान् बोधिसत्त्व के मृत्युलोक में अवतरित होने के बारह वर्ष पूर्व उनके शरीर में जरा एवं मृत्यु के पूर्व लक्षण प्रकट हुए।

२. सातों रत्न ये हैं——

(१) संपूर्ण पृथ्वी पर शासन करनेवाला चक्र (चक्र-रत्न)।
(२) अनंत-शक्ति-संपन्न गजराज (हस्तिरत्न)।
(३) सर्वश्रेष्ठ अश्व (अश्व-रत्न)।
(४) रात को भी सूर्य का-सा प्रकाश फेंकनेवाला एक अत्यंत दीप्तिमान् रत्न।
(५) एक परम रूपवती रानी (स्त्री-रत्न)।
(६) एक सुयोग्य अमात्य।
(७) एक अति बलवान् एवं बुद्धिमान् सेनापति (परिणायक-रत्न)।

३. 'मज्झिम-देश', विनय १, पृ० १९७; जातक, १, पृ० ४९, ८०; दिव्यावदान (पृ० २१) में इसकी सीमा पूर्व की ओर इतनी दूर तक जाती है कि पुंड्रवर्धन उसके अंतर्गत आ जाता है।

पूर्व में कजंगल नगर, जिसके आगे महासाल था; दक्षिण-पूर्व में सललवती नदी; दक्षिण-पश्चिम में सतकण्णिक; पश्चिम में थूण नाम का ब्राह्मणों का ग्राम ; उत्तर में उसिरद्धज पर्वत ।

बोधिसत्त्व के दिव्य जन्म के अनुरूप वही कुल हो सकता था जो उस काल की सर्वश्रेष्ठ जाति का हो, न कि चंडाल, धरिकार, बढ़ई, पुक्कुस या ऐसी किसी अन्य नीच जाति का । उस समय क्षत्रियों की जाति सबसे ऊँची मानी जाती थी, अतः उन्होंने क्षत्रिय कुल में जन्म लेने का निश्चय किया ।

इसके अनंतर देवगण विचार करने लगे कि सोलह राजकुलों और जनपदों में से कौन-सा उनके जन्म के लिए उत्तम होगा । उन्होंने कोसल, वंस, वैशाली, प्रद्योत, मथुरा के सुबाहु, हस्तिनापुर के पांडव, मिथिला के सुमित्र---इन सबकी परीक्षा की, परंतु सबको किसी न किसी गुण से हीन पाया । तब एक धर्मवृद्ध बोधिसत्त्व ने उन्हें सुझाया कि केवल शाक्यकुल[1] ही एक ऐसा क्षत्रिय राजकुल है जो उनके जन्म से गौरवान्वित होने योग्य है, और बोधिसत्त्व ने इसका समर्थन किया ।

१. शाक्यकुल की रक्तशुद्धता सिद्ध करने के लिये महावस्तु सृष्टि के आरंभ तक जा पहुँचता है जब आदि राजा महासम्मत का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसके पुत्र-वंश में शाक्यों की तथा कन्या-वंश में कोलियों की उत्पत्ति हुई । बोधिसत्त्व की माता और पत्नी कोलिय वंश की ही थीं । कथा इस प्रकार है---

बहुत समय पहले न पृथ्वी थी और न सूर्य, चंद्र और तारे थे । जीव केवल सूक्ष्म शरीरधारी थे, उनके स्थूल शरीर नहीं थे । इससे वे सर्वत्र विचरण करने में समर्थ थे । कालांतर में वे निर्मल आत्माएँ पृथ्वी से उत्पन्न अन्न के लोभ के वशीभूत हो गईं और शनैः शनैः पृथ्वी, सूर्य, चंद्र और तारों से युक्त यह विश्व अस्तित्व में आया । उन आत्माओं के सूक्ष्म वा मानस शरीर लुप्त हो गए और उन्होंने स्थूल भौतिक शरीर धारण किए । उनके लिए स्वतः उत्पन्न अन्न की कमी न थी, परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे अधिक से अधिक संग्रह एवं संचय करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप एक दूसरे का अन्न बिना उससे पूछे ले लेने लगे । इस प्रकार सभी लोग अधर्मी हो गये । तब वे सब एक स्थान पर इकट्ठे हुए और उन्होंने अपने लिये एक नेता चुना जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अन्न के खतों की सीमाएँ निश्चित कर दे । इस प्रकार सबके द्वारा चुने जाने के कारण वह नेता 'महासम्मत' कहलाया । वह राजा एवं पिता के समान सबका परिपालक बना । सर्वास्तिवाद विनय में कहा गया है कि इस राजा ने मथुरा के पास अपना सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) स्थापित किया (गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३,

बोधिसत्त्व ने तब तुषित देवों को 'धर्मालोक' नाम के उपदेश दिए, जिनमें धर्म के समस्त मूलभूत तत्त्वों का निरूपण किया गया था। फिर उन्होंने अपने वियोग से शोकाकुल तुषित देवों का शोक दूर करने तथा धार्मिक विषयों में उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए मैत्रेय बोधिसत्त्व को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

तब देवगण यह विचार करने लगे कि बोधिसत्त्व का किस रूप में अपनी माता के गर्भ में प्रवेश करना उचित होगा, और इस परिणाम पर पहुँचे कि मासल शरीर, लाल मस्तक तथा छः दाँतोंवाले श्वेत हाथी के रूप में प्रवेश करना सबसे अच्छा होगा, क्योंकि फलित ज्योतिष के ग्रंथों में इसका फल यह बताया गया था कि इससे बत्तीस लक्षणों से युक्त एक महान् पुरुष का जन्म होगा। शाक्यों के देश में बुद्ध के जन्म लेने के पहले, मानो उनके जन्म की पूर्वसूचना देने के लिए, देश वृक्षों, लताओं और पुष्पों से परिपूर्ण हो गया, जिनपर पक्षी कलरव करने और भ्रमर गुंजारने लगे तथा सभी

भाग ४)। उसके बाद बहुत से राजा हुए, जिनमें अंतिम इक्ष्वाकुवंशी सुजात था। उसकी राजधानी साकेत थी। उसके पाँच पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं, तथा जेन्त नाम का एक पुत्र एक रखेली के गर्भ से था। उस रखेली से राजा इतना प्रसन्न था कि वह अपने इच्छानुसार जो कोई भी वर माँगे उसे देने का उसने वचन दे दिया। फलतः उसने यह वर माँगा कि उसका पुत्र जेन्त युवराज बनाया जाय और राजा के औरस पुत्र निर्वासित कर दिए जायँ। राजा को अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे यह वर देना स्वीकार करना पड़ा, परंतु उसने अपनी प्रजा को अपने सुयोग्य निर्वासित पुत्रों के साथ जाने की अनुमति दे दी तथा उन पुत्रों की यात्रा के लिए समस्त आवश्यक वस्तुओं का समायोजन कर दिया। उन सबने शाक्य-देश छोड़ दिया; हिमालय की तराई में जाकर एक स्थान अपने रहने के लिए चुना, जहाँ कपिल मुनि का आश्रम था। अपने कुल की शुद्धता की रक्षा के लिए उन राजपुत्रों ने अपनी सौतेली बहिनों से विवाह कर लिया, जिसे ब्राह्मणों ने बहुत अनुचित समझा। उनकी संतान 'शाक्य' कहलाई। पाँचों भाइयों में जो ज्येष्ठ था उसके वंश में शुद्धोदन हुआ। एक भाई के एक अत्यंत रूपवती कन्या थी, परंतु उसे कुष्ठ हो गया था; इस कारण वह बहुत दिनों तक वन के भीतर एक गुफा में रखी गई और वहीं उसे भोजन पहुँचाया जाता रहा। कालांतर में एक बाघ ने धरती को खुरचकर बहुत सी मिट्टी गुफा के द्वार पर इकट्ठी कर दी जिससे गुफा बंद हो गई। राजर्षि कोल ने राजकुमारी को देखा और उन्होंने उसे पत्नी-रूप में ग्रहण किया। उसके अनेक पुत्र हुए, जिनकी संतान 'कोलिय' कहलाई और उस गुफा का स्थान 'व्यग्घपज्ज' नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि एक व्याघ्र ने उसका पता लगाया था।

प्रकार के भोज्य पदार्थों एवं फलों की भी प्रचुरता हो गई। रानी महामाया ने स्नान करके शरीर में सुगंधित पदार्थों का लेप किया और रत्न-अलंकार धारण किए। वह अपनी सखियों के संग राजा शुद्धोदन के पास गई और सिंहासन पर अपना नियत स्थान ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने राजा से प्रार्थना की कि 'हे आर्य, आप मुझे अनुमति दें कि मैं एक सप्ताह तक प्रेम एवं परोपकार से युक्त अष्टांग धर्म का पालन करते हुए ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करूँ और उतने समय तक मेरे पास केवल मेरी सखियाँ, रक्षिकाएँ तथा परिचारिकाएँ ही रहें।' उसने राजा से बंदियों को मुक्त कर देने तथा सप्ताह भर दान-पुण्य करते रहने की भी प्रार्थना की। राजा ने सहर्ष उसकी सभी प्रार्थनाएँ स्वीकार कर लीं और उसकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए राजकीय आदेश निर्गत कर दिए।

अब देवगण आपस में विचार करने लगे कि बोधिसत्त्व के गृह-जीवन, संन्यास, मार-विजय तथा बोधि-प्राप्ति के समय उनपर दृष्टि रखते हुए हमें किस प्रकार उनकी सेवा करनी चाहिए। देवांगनाओं को बड़ा कुतूहल होने लगा कि उस स्त्री की गढ़न और सुंदरता किस प्रकार की होगी जो उस तेजस्वी महापुरुष को अपने गर्भ में धारण करेगी। जब महामाया राजप्रासाद में अपनी सखियों के साथ सोई हुई थी उस समय अप्सराओं से घिरी हुई एक देवी का-सा उसका सुंदर रूप देखकर वे सब देवांगनाएँ मुग्ध हो गईं। जिस समय बोधिसत्त्व अपने सिंहासन सहित तुषित स्वर्ग को छोड़ने के लिये उद्यत हुए उस समय उनके शरीर से ऐसा तेज प्रस्फुटित होने लगा कि उससे समस्त विश्व उद्भासित हो उठा, पृथ्वी बारंबार कंपित होने लगी तथा समस्त जीव रोग, शोक और दुःख को भूलकर आनंद में मग्न हो गए। अप्सराएँ उनकी स्तुति करने तथा उनके उस घोर त्याग-तप की प्रशंसा करने लगीं जो उन्होंने पूर्वजन्मों में पारमिताओं (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा) की सिद्धि के लिए किया था।

बोधिसत्त्व का मर्त्यलोक में आगमन

वैशाख मास के पुष्य नक्षत्र में बोधिसत्त्व ने एक हाथी के रूप में दक्षिण पार्श्व से अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया। जिस समय वे गर्भ में प्रविष्ट होने लगे उस समय पृथ्वी कंपित होने लगी और समस्त विश्व एक दिव्य आलोक से देदीप्यमान हो उठा। उस आलोक की किरणें उन नारकीय जीवों तक भी पहुँचीं जो सदा अंधकार में ही निवास करते और सूर्य-चंद्र का दर्शन कभी नहीं कर पाते थे। प्रातःकाल रानी अपने शयन-कक्ष से बाहर निकली और अशोक-कुंज में जाकर आसन ग्रहण किया। उसने राजा

को संदेश भेजा कि वे वहाँ आकर उसे दर्शन दें । जब राजा अपने मंत्रियों और पारिषदों सहित रानी के समीप जाने लगे तो उनके मन तथा शरीर में ऐसा अनुभव होने लगा जैसे वे एक बड़े महान् व्यक्ति से मिलने जा रहे हों । देवों ने उन्हें बोधिसत्त्व के आगमन की सूचना दी और उनसे स्वप्नों का फल बतानेवाले विद्वान् ब्राह्मणों को बुलवाने की प्रार्थना की । ब्राह्मण लोग यथाविधि निमंत्रित किए गए और उन्होंने स्वप्न का फल विचार कर बतलाया कि रानी के गर्भ से एक चक्रवर्ती अथवा सम्यक्-संबुद्ध का जन्म होगा । बोधिसत्त्व के गर्भस्थिति-काल के दस महीनों में चार देव निरंतर उनकी माता की रक्षा करते रहे ।

बोधिसत्त्व ने रानी के गर्भ में दस महीने एक रत्नजटित मंजूषा के भीतर रहकर व्यतीत किए, जिससे वे गर्भ के मलों से सर्वथा अस्पृष्ट रहे ।[1] उनकी माता महामाया भी सदा सुख से रहीं, कभी किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं किया । बोधिसत्त्व अपने भोजन के लिए पौष्टिक तत्त्व माता के स्तनों से न लेकर एक कमल पुष्प से प्राप्त होनेवाले मधु से लेते थे, जिसकी नाल की लंबाई तालवृक्ष की सातगुनी थी । बोधिसत्त्व मंजूषा के भीतर आसीन होकर देवों तथा अन्य देव-योनिधारियों को उपदेश दिया करते थे । पृथ्वी पर के समस्त जीव सब प्रकार की आधि-व्याधियों से मुक्ति पाकर आनंदित हो गए । बोधिसत्त्व की माता के स्पर्श मात्र से लोगों का रोग-दुःख दूर हो जाता था ।

बोधिसत्त्व की माता अपने मन पर पूर्ण संयम रखकर एक शुद्ध ब्रह्मचारिणी का जीवन व्यतीत करती थीं । कोई भी पुरुष अपनी कामुक दृष्टि उनकी ओर नहीं डालता था, न वे ही किसी पुरुष का दर्शन करती थीं । जब स्वप्न के अनंतर दस महीने व्यतीत हो गए तो रानी ने अनुभव किया कि अब उस महापुरुष के जन्म का समय आ गया है । अतः उन्होंने राजा के निकट जाकर प्रार्थना की—'अब वसंत ऋतु का आगमन हो गया है, वृक्ष पुष्पों से लदे हुए हैं, पक्षी सर्वत्र कलरव कर रहे हैं, और चारों ओर पराग उड़ रही है, अतः मुझे उपवन में जाने की अनुमति दी जाय ।' राजा को बहुत दिनों तक विनय के नियमों का पालन करते रहने के कारण विश्राम की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, और रानी भी दस महीनों तक भगवान् बोधिसत्त्व को धारण करने के कारण थकान का अनुभव कर रही थीं । रानी की इच्छा पूर्ण करने के लिए उन्होंने तुरंत आदेश निकाल दिए कि नगर के पथों, वीथियों और उद्यानों की सजावट की जाय, और अपने सेवकों

१. आनंद के प्रश्न करने पर कि स्त्रियों से विरक्ति रखनेवाले बुद्ध किस प्रकार एक स्त्री के गर्भ में रह सके, बुद्ध ने ही उक्त रहस्य को प्रकट किया था ।

को आज्ञा दी कि वे उनका रथ भी खूब सजाकर तैयार रक्खें। रानी महामाया की लुंबिनी वन की यात्रा के लिए एक बृहत् समारोह का आयोजन किया गया। उस समय देव और अप्सराएँ भी झुंड की झुंड स्वर्ग से उतर आई और दिव्य मंगल-संगीत तथा स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा से उन्होंने उस समारोह को अपूर्व शोभा प्रदान की।

वन में पहुँचकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उन्हें बड़ा सुख मिला। वह वृक्षों की शोभा निरखतीं और उनके कोमल स्पर्श का सुखद अनुभव करती हुई उनके बीच इधर उधर टहलने लगीं। प्लक्ष तरु की एक शाखा झुककर रानी के हाथों में आ गई। जब वह अपने दाहिने हाथ से उस शाखा को पकड़े हुए खड़ी थीं उसी समय बोधिसत्त्व उनकी दाहिनी ओर से धरती पर उतर पड़े। उनका शरीर स्वच्छ था, गर्भ का मल उन्हें छू भी नहीं गया था। उस महान् आत्मा को मनुष्य के हाथों का स्पर्श नहीं लगना चाहिए, इसलिए देवगण तुरंत उस स्थल पर पहुँचे और बड़े आदर और श्रद्धा के साथ शिशु को रेशमी वस्त्रों में ले लिया। पृथ्वी में से एक कमल-पुष्प निकल पड़ा और नागराज नंदोपनंद ने दो स्रोत—एक उष्ण जल और एक शीतल जलवाला—प्रस्तुत किए, जिनमें बोधिसत्त्व और उनकी माता को स्नान कराया गया। शिशु सात पद चला और प्रत्येक पद पर छः दिशाओं में से प्रत्येक में एक कमल उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ यह था कि बोधिसत्त्व छहों दिशाओं के देहधारियों में सर्वश्रेष्ठ होंगे।[1] उस समय वहाँ प्रत्येक वस्तु की प्रचुरता थी, इस कारण उनका नाम 'सिद्धार्थ गौतम' रक्खा गया।

बोधिसत्त्व के जन्म के साथ-साथ विभिन्न शाक्य-कुलों में आनंद, देवदत्त, अनिरुद्ध, छंदक इत्यादि अनेक पुत्रों और पुत्रियों का जन्म हुआ।

लुंबिनी वन में सात दिनों तक देवगण तथा उनकी देवियाँ बोधिसत्त्व की पूजा करती रहीं एवं शाक्य लोग जी-भर दान करते रहे। परंतु सातवें दिन रानी महामाया ने समस्त एकत्र समाज को असह्य शोकसागर में मग्न कर इस क्षणभंगुर संसार को त्याग त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को प्रस्थान किया जहाँ उनका जन्म एक परम रूप-गुणवती देवी के रूप में हुआ।

इसके अनंतर राजा ने बोधिसत्त्व को कपिलवस्तु नगर में लाने के लिए बड़ी धूम-

१. मज्झिम ३, पृ० १२३ में यह भी लिखा है कि बोधिसत्त्व केवल सात पद चले ही नहीं, अपितु उन्होंने इन शब्दों का उच्चारण किया—"अग्गोहं अस्मि लोकस्स, सेट्ठोहं अस्मि लोकस्स, जेट्ठोहं अस्मि लोकस्स, अयं अन्तिमा जाति न अत्थि दानि पुनब्भवो ति।"

धाम से तैयारियाँ कीं। इस समारोह की शोभा रानीमहा माया की पिछली लुंबिनी-यात्रा के उत्सव से हजारों गुना अधिक थी। एक सौ शाक्यों ने अपनी श्रद्धा और प्रेम को व्यक्त करने के लिए अपने एक सौ प्रासाद बोधिसत्त्व के निमित्त अर्पित किए और प्रत्येक ने प्रार्थना की कि बोधिसत्त्व उसके प्रासाद में रहें। उन सभी शाक्यों को संतुष्ट करने के लिए राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व को एक-एक दिन प्रत्येक प्रासाद में रक्खा और इस प्रकार चार मास व्यतीत हो गए। अंत में बोधिसत्त्व राजप्रासाद में ले जाए गए, जहाँ वयोवृद्ध शाक्यों द्वारा उनका यथाविधि अत्यंत भव्य स्वागत किया गया। इसके अनंतर उन सबने भली भाँति सोच-विचारकर बोधिसत्त्व के पालन-पोषण का प्रबंध उनकी मातृष्वसा महाप्रजापति गौतमी की देखरेख में कर दिया।

ऋषि असित

उन दिनों हिमालय पर्वत में तपस्वियों में श्रेष्ठ असित ऋषि निवास करते थे, जिन्हें पाँचों दिव्य शक्तियाँ (अभिज्ञा) प्राप्त थीं।[1] अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा उन्होंने महात्मा बोधिसत्त्व के जन्म को देख लिया और उनके वंदन के हेतु वे अपने भ्रातृज नरदत्त (अपर नाम नालक) सहित आकाश-मार्ग से उड़कर कपिलवस्तु पधारे।

राजा ने उनका यथोचित स्वागत एवं आदर-सत्कार किया और ऋषि ने राजा को राजकुमार के जन्म की बधाई देते हुए शिशु के दर्शनों के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। राजा ने यह सोचकर कि अभी राजकुमार शयन कर रहे हैं, ऋषि से उनके जागने तक प्रतीक्षा करने की प्रार्थना की। ऋषि ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि ऐसे महापुरुष बहुत देर तक नहीं सोया करते और प्रायः जागते ही रहते हैं। तब वे शिशु के निकट ले जाए गए और उन्होंने राजकुमार के बत्तीस लक्षणों[2] को देखकर कहा कि ये इस बात के सूचक हैं कि इन लक्षणों को धारण करनेवाला चक्रवर्ती राजा अथवा संन्यासी, तथागत वा सम्यक् संबुद्ध होगा। ऋषि के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, जिसे देख

१. दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवासज्ञान और ऋद्धिविद्धिज्ञान (=ध्यान के द्वारा साधारण आँख-कान की पहुँच के बाहर की बातें देखना और सुनना, दूसरों के मन की बात जान लेना, अपने पूर्व जन्म की बातों का स्मरण, और अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति)।

२. तीस मुख्य तथा आठ गौण लक्षणों के लिए द्रष्टव्य—ललित विस्तर, पृ० १२०-२; महावस्तु लक्खनसुत्त (दीघ, ३)।

राजा बड़े अधीर हुए और उन्होंने उनसे उनके नेत्रों से आँसू निकलने का कारण पूछा। तब असित ऋषि ने राजा को समझाया कि मेरे शोक का कारण यह नहीं है कि राजकुमार के संबंध में कोई अशुभ घटना घटने की आशंका है, प्रत्युत मुझे यह सोचकर दुःख हुआ कि जब यह शिशु बड़ा होकर जन्म-मरण के चक्र एवं दुःखों के बंधन से जीवों को मुक्त करने के लिए सत्यधर्म का उपदेश करेगा उस समय तक मैं जीवित न रहूँगा। ऋषि के इस वचन को सुनकर राजा आश्वस्त हुए और शिशु की वंदना की। तत्पश्चात् ऋषि ने अपने भतीजे को शिशु बोधिसत्त्व के बड़े होकर बुद्ध हो जाने पर उनका शिष्य बन जाने का आदेश दिया। फिर देवगण भी शुद्धोदन के राजप्रासाद में आए और उन्होंने मनुष्यों के नेत्रों से अदृश्य रहकर बोधिसत्त्व की वंदना की।

बालक सिद्धार्थ

शाक्यकुल की रीति के अनुसार महाप्रजापति गौतमी नवजात शिशु को देवमंदिर में ले गईं। इसपर शिशु के मुख पर मुस्कराहट झलक उठी। उसके मन में यह भाव आया कि मैं तो स्वयं देवाधिदेव हूँ, मैं मंदिर के देव को क्या नमस्कार करूँगा! इसके पश्चात् ऐसी घटना घटी कि ज्योंही शिशु मंदिर में ले जाया गया त्योंही उसके भीतर की सब मूर्तियाँ यकायक सजीव-सी हो उठीं और शिशु का अभिवादन करने के लिए झुक गईं। यह देखकर साथ में आए हुए सभी लोग आश्चर्य-चकित रह गए।

इसके उपरांत राजपुरोहित ने राजा को यह परामर्श दिया कि शिशु के लिए रीत्यनुसार आभूषण बनवा लिए जायँ। राजा ने भद्रिक शाक्यराज से सब आभूषण तैयार करा लिए, परंतु जब वे शिशु के शरीर पर पहिनाए गए तो उनकी चमक जाती रही। साथ ही वहाँ जो अन्य शिशु लाए गए थे उनके शरीर पर के आभूषणों की भी वही दशा हुई।

जब शिशु बोधिसत्त्व कुछ बड़े हुए तो विधिपूर्वक उनका विद्यारंभ संस्कार किया गया और शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें पाठशाला में ले जाया गया। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे, जो बोधिसत्त्व का दर्शन होते ही उनके तेज से ऐसे अभिभूत हुए कि मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जब वे पुनः स्वस्थ हुए तो बोधिसत्त्व ने उनसे पूछा कि मुझे यहाँ कौन सी लिपि पढ़ाई जायगी—ब्राह्मी या खरोष्ठी, अथवा पुष्करसारी, अंग, बंग, मगध, शाकरी, ब्रह्मावर्ती, द्राविड़ी, किन्नरी, दक्षिण, उग्र, दरद, खस, चीन किंवा हूण? यह सुन विश्वामित्र किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए और उनसे कुछ उत्तर

देते न बना। तब बोधिसत्त्व के सब सहपाठियों ने अक्षर सीखना आरंभ किया, जिन्हें वे उनके प्रभाव से इस प्रकार पढ़ते थे —

अ=अनित्य	आ=आत्म-पर-हित
इ=इंद्रिय-वैपुल्य	ई=ईतिबहुल जगत्
उ=उपद्रवबहुल जगत्	ऊ=ऊनसत्त्व
ए=एषणा-समुत्थान दोष	ऐ=ऐरपथः श्रेयान्
ओ=ओघोत्तर	औ=औपपादुक

इत्यादि।

जब बोधिसत्त्व कुछ और बड़े हुए तो अपने सखागण के साथ वे एक दिन एक गाँव में खेतों की जुताई देखने के लिए गए।[1] वहाँ वे एक जंबूवृक्ष के नीचे एकांत स्थान पाकर वहीं बैठ गए और सांसारिक जीवन की कठिनाइयों पर विचार करते-करते ध्यानमग्न होकर ध्यान की चतुर्थ भूमिका पर पहुँच गए। उस समय दिव्य-शक्ति-संपन्न पाँच ऋषि आकाश में उड़े जा रहे थे। जब वे उस जंबूवृक्ष के ऊपर होकर जाने लगे तो अचानक उनकी गति अवरुद्ध हो गई। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उन्होंने नीचे देखा तो वहाँ बोधिसत्त्व को ध्यान में मग्न बैठे हुए पाया। वे नीचे धरती पर उतर पड़े और यथोचित शब्दों में उनकी वंदना की। उनको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते राजा शुद्धोदन वहाँ पहुँचे तो उन्हें ध्यानावस्थित देखकर उन्होंने तुरंत अपने राजचिह्न उतार दिए और उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

सिद्धार्थ का विवाह

जब बोधिसत्त्व युवा हुए तो सब शाक्यों ने सभा की और राजा शुद्धोदन से निवेदन किया कि अब राजकुमार का विवाह कर दिया जाय। यद्यपि बोधिसत्त्व की इच्छा किसी भी प्रकार के सांसारिक बंधनों में पड़ने के विरुद्ध थी, परंतु उन्होंने इस उद्देश्य से विवाह करना स्वीकार कर लिया कि इसके द्वारा लोक को यह विश्वास कराया जा सकेगा कि मनुष्य सांसारिक विलासों में डूबे रहकर भी उसी प्रकार उनसे ऊपर उठ सकता है जैसे पंक से उत्पन्न एक कमल का पुष्प जल के ऊपर उठ जाता है।

१. पाली अनुश्रुतियों के अनुसार यह समय खेतों की जुताई के आरंभ का था। इस अवसर पर यह रीति थी कि राजा स्वयं हल की मूँठ पर हाथ रखकर इस कार्य को विधिपूर्वक आरंभ करता था, जो कृषि के लिए शुभ समझा जाता था। राजकुमार इसी अवसर पर राजा के साथ गए थे।

उन्हें यह भी ज्ञात था कि पूर्व काल के बोधिसत्त्वों ने भी अपना विवाह किया था। अतः उन्होंने अपने विवाह के लिए कन्या में जो-जो गुण होने चाहिए उन्हें निश्चित कर बतला दिया। राजपुरोहित राजकुमार के लिए कन्या की खोज में अनेक स्थानों में गए और अंत में उन्होंने दंडपाणि की कन्या को वैसे ही स्वभाव और उन्हीं सब गुणों से संपन्न पाया जिन्हें बोधिसत्त्व चाहते थे। परंतु राजा ने यह अधिक अच्छा समझा कि स्वयं बोधिसत्त्व को ही अपने लिए कन्या-वरण करने का सुअवसर दिया जाय। अतः उन्होंने सभी विवाह योग्य शाक्य कन्याओं को बोधिसत्त्व के हाथों से बहुमूल्य धातुओं के पुष्पों की भेंट ग्रहण करने के लिए राजप्रासाद में निमंत्रित किया। निमंत्रण देने के सातवें दिन शाक्य-कन्याएँ प्रासाद में एकत्र हुई। बोधिसत्त्व के सौंदर्य और तेज से उनके नेत्र चौंधिया गए। केवल दंडपाणि की पुत्री गोपा ही उनके तेज को सहन करने में समर्थ हुई और राजकुमार के रूप को निहारती हुई कुछ दूर पर खड़ी रही। जब राजकुमार के निकट जाने की उसकी बारी आई तो वह चुपचाप उनकी ओर बढ़ी और उसे केवल सर्वोत्तम पुष्प ही नहीं मिले, राजकुमार की बहुमूल्य अँगूठी भी प्राप्त हुई। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को विदित हो गया कि राजकुमार ने गोपा को वरण किया है। गुप्त रूप से वहाँ भेजे गए राजा के दूतों ने भी इसे लक्ष्य किया और वे राजा को यह समाचार देने के लिए दौड़े।

इसके पश्चात् राजा शुद्धोदन ने दंडपाणि के पास राजपुत्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा, परंतु राजकुमार का पालन-पोषण राजप्रासाद के विलासमय वातावरण में होने के कारण दंडपाणि कुछ असमंजस में पड़ गए और उन्होंने उनके सामर्थ्य और गुणों के विषय में पूछताछ की। इसपर राजा कुछ निराश-से हो गये, क्योंकि उन्होंने सोचा कि संभव है राजकुमार की शक्ति और योग्यता के विषय में दंडपाणि का संदेह साधार हो। राजा का विषाद देखकर राजकुमार ने उन्हें सूचित किया कि मैं कला, शिल्प, रणकौशल अथवा बाहुबल के प्रदर्शन में किसी से भी प्रतियोगिता कर सकता हूँ, तब राजा आश्वस्त हुए। राजकुमार ने राजा से प्रार्थना की कि सभी शाक्य युवकों को अपना-अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर देने के लिए उपयुक्त आयोजन किया जाय। राजा ने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया और प्रदर्शन के लिए आवश्यक तैयारियाँ कराईं तथा समस्त शाक्य युवकों को उसमें सम्मिलित होकर भाग लेने के लिए निमंत्रित किया। इस प्रदर्शन में इन विषयों में प्रतियोगिता का आयोजन किया गया—(१) एक हाथी का शव उठाकर दूर फेंकना, (२) लिपियों का ज्ञान प्रदर्शित करना, जिसके लिए निर्णायक विश्वामित्र चुने गए, (३) गणित के प्रश्नों को शीघ्र और शुद्ध-शुद्ध हल करना, जिसके लिए निर्णायक थे गणना-

विशारद अर्जुन, (५) बाण चलाना (जिसके लिए राजकुमार ने अपने पूर्वज सिंहहनु का भारी धनुष लिया), (६) मल्लयुद्ध, (७) संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं में वैशिष्ट्य, (८) काव्यों और ग्रंथों की रचना, (९) ज्योतिष तथा अन्य शास्त्रों का ज्ञान, और (१०) वेद आदि ब्राह्मण साहित्य तथा तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन एवं राजनीति का ज्ञान।

यह घोषणा की गई कि जो व्यक्ति इन सब प्रतियोगिताओं में विजयी होगा उसी से गोपा का विवाह होगा। गोपा भी जयपताका लिए हुए वहाँ उपस्थित थी और प्रदर्शन देख रही थी। देवदत्त, सुंदरानंद तथा अन्य अनेक शाक्य युवक सभी अपने को सबसे योग्य सिद्ध करने के लिए परस्पर होड़ कर रहे थे। परंतु राजकुमार के सामने सबको नीचा देखना पड़ा। यहाँ तक कि राजकुमार की गणना-शक्ति को देखकर गणना के पंडित अर्जुन को भी मन ही मन उनकी विशिष्टता से पराभव का अनुभव करना पड़ा। यतः राजकुमार सभी प्रतियोगिताओं में विजयी सिद्ध हुए, अतएव दंडपाणि ने परम हर्षपूर्वक गोपा का विवाह उनके साथ कर दिया।

कुछ काल तक बोधिसत्त्व ने गोपा के साथ आनंदपूर्वक पारिवारिक जीवन व्यतीत किया। परंतु उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सांसारिक जीवन से विरत होने में बोधिसत्त्व को विलंब करते देख देवगण अधीर हो उठे। अतः वे बड़े विनय के साथ उनके निकट जा उपस्थित हुए और उन्हें उनके अनेक पूर्वजन्मों का स्मरण कराया जिनमें उन्होंने जीवों के कल्याण के लिए तथा पुण्यार्जन एवं छः पारमिताओं की सिद्धि के लिए घोर तप एवं त्याग किए थे। देवों ने उन्हें सांसारिक जीवों को जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु के दुःखों से मुक्त करने के लिए की गई उनकी पूर्व प्रतिज्ञाओं का भी स्मरण कराया। यद्यपि बोधिसत्त्व को किसी अन्य के परामर्श या पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं थी तथापि देवों और अप्सराओं ने उनके सम्मुख कुछ ऐसी गाथाओं का पाठ किया जिनमें यह प्रतिपादन किया गया था कि संसार का अस्तित्व स्वप्नवत् अस्थिर है, सांसारिक सुख मल-पात्र के सदृश वीभत्स एवं सर्पों से भरे जलाशय के समान भयानक हैं तथा संसार के समस्त दृश्य पदार्थ गुफा में हुई प्रतिध्वनि के समान, या जल में चंद्रमा के प्रतिबिंब के समान, अथवा रंगमंच पर अभिनय करनेवाले नटों के समान निस्सार हैं। उन्होंने और भी गाथाएँ पढ़ीं जिनका भाव यह था कि यह भौतिक जगत् एक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के समान या कुछ निमित्त एवं उपादानों—यथा मनुष्य के प्रयत्न और मूँज—से बनी हुई रस्सी के समान अथवा मनुष्य के प्रयत्न एवं ईंधन (जिनमें स्वतः अग्नि का कोई चिह्न नहीं है) से

प्रस्तुत की गई अग्नि के सदृश है। उनके द्वारा पठित अन्य गाथाओं का आशय यह था कि जीवों का बारंबार जन्म एक निरंतर घूमनेवाले चक्र के समान अथवा बीज से अंकुर और फिर अंकुर से बीज की उत्पत्ति के सदृश है, जिसका कहीं आदि या अंत नहीं। और सांसारिक सत्ताओं का कारण सत्य का अज्ञान (अविद्या) है, परंतु स्वयं उन सत्ताओं में अज्ञान की सत्ता नहीं है, जिस प्रकार कि मुद्रा से छाप तो बन जाती है, परंतु उस छाप में मुद्रा का अस्तित्व नहीं है। आँखों से रूप दिखाई पड़ते हैं, परंतु आँखों के भीतर रूप का अस्तित्व नहीं है। यह संसार मिथ्या (शून्य), अल्पस्थायी (क्षणिक) एवं प्रतिध्वनि के समान (प्रतिश्रुत्कोपम) है। यह जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु-जनित दुःखों से भरा हुआ है।

बोधिसत्त्व को पुनःपुनः ऐहिक सुखों की निस्सारता एवं गृहस्थ-जीवन से निवृत्ति की श्रेष्ठता का स्मरण कराया गया।

जिस रात को देवगण तथा अप्सराएँ गाथाओं का गान कर रही थीं उसी रात में राजा शुद्धोदन ने स्वप्न देखा कि उनका पुत्र देवों के मध्य, पीले वस्त्र धारण किए हुए, राजप्रासाद छोड़ने को उद्यत है। वे अपनी शय्या से उठे और चिंतित होकर अपने पुत्र के विषय में पूछताछ करने लगे। यह सूचना पाकर कि राजकुमार अपने शयनकक्ष में सोए हुए हैं, उनकी चिंता दूर हुई, परंतु उन्होंने राजकुमार के लिए आमोद-प्रमोद के अधिक से अधिक साधनों का प्रबंध करा दिया और राजप्रासाद की सुरक्षा के लिए बहुत भारी फाटक लगवा दिए, जो सैकड़ों रक्षकों द्वारा मिलकर खोले और बंद किए जा सकते थे।

चार दृश्य

दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमार ने वन-विहार के लिए बाहर जाने की इच्छा प्रकट की और अपने सारथी को आज्ञा दी कि रथ प्रस्तुत करे। जब राजा को राजकुमार की इस इच्छा की सूचना मिली तब उन्होंने राजकुमार से एक सप्ताह प्रतीक्षा करने के लिए कहा। उन सात दिनों के भीतर राजा ने इस बात की पूरी सावधानी रखने के लिए प्रबंधकों को भली भाँति सहेज दिया कि राजकुमार के सामने किसी भी प्रकार का कोई अप्रिय दृश्य न आने पाए। जब नगर भली भाँति स्वच्छ करके सजा दिया गया तो सारथी राजकुमार को रथ पर बैठाकर विहार के लिए ले चला। जब वे नगर में से जा रहे थे, उसी समय देवों ने एक वृद्ध पुरुष को प्रस्तुत किया जिसके चमड़े पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, जिसके बाल पक गए थे, जो दंतहीन और कुबड़ा था और एक लठिया के सहारे चल रहा था। उन्होंने उसे केवल राजकुमार और उनके सारथी के दृष्टि-पथ में उपस्थित किया। राजकुमार ने सारथी से उस वृद्ध के विषय में पूछा

और उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रत्येक मनुष्य की एक दिन यही गति होगी। उस दृश्य से उनका मन बहुत विचलित हो गया और वे प्रासाद में लौट आए। जब राजा ने राजकुमार के इतने शीघ्र लौट आने का कारण पूछा तो सारथी ने उस वृद्ध पुरुष के, तथा उसे देखकर राजकुमार के मन पर जो प्रभाव पड़ा उसके, विषय में उन्हें सब बातें बतला दीं। राजा ने और अधिक सतर्कता रखने की आज्ञा दी, परंतु दूसरे दिन जाने पर राजकुमार और सारथी ने एक ऐसे पुरुष को देखा जो ज्वर से पीड़ित होकर कराह रहा था और अपने ही मूत्र और विष्ठा में लपेटा हुआ था। पहले दिन की भाँति उस दिन भी उन्हें सारथी से ज्ञात हुआ कि एक दिन सबकी वैसी ही गति होनेवाली है, और वे प्रासाद में लौट आए। तीसरे दिन राजकुमार और सारथी ने कुछ लोगों को एक मृत मनुष्य का शव अर्थी पर श्मशान की ओर ले जाते हुए देखा, जिसके कुटुंबी उसके लिए रो-पीट रहे थे। राजकुमार को फिर उसी प्रकार बताया गया कि प्रत्येक मनुष्य की एक न एक दिन मृत्यु होती है, तब उनको विहार के लिए जाने की इच्छा नहीं रह गई। चौथे दिन उन्होंने पीला वस्त्र धारण किए हुए एक शांत पुरुष को देखा, जिसने अपनी इंद्रियाँ वश में कर ली थीं और जो हाथ में भिक्षापात्र लिए धीर गति से जा रहा था। सारथी से पूछने पर राजकुमार को विदित हुआ कि वह पुरुष अपने गृहस्थ जीवन को त्याग कर संन्यासी हो गया है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की साधना कर रहा है। राजकुमार को यह सोचकर बड़ा हर्ष हुआ कि मैं भी एक दिन संन्यास लेकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त करूँगा। उस दिन उन्होंने वन में जाकर खूब जी भरकर आनंद मनाया। जब वे प्रमोदवन में इस प्रकार आनंद में रम रहे थे, उसी समय राजा के दूतों ने आकर उन्हें यह समाचार दिया कि राजकुमार के पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस समाचार को सुनकर राजकुमार को बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। उन्हें भय हुआ कि कहीं इससे उनके सांसारिक जीवन से निवृत्त होने के उद्देश्य में विघ्न न पड़े, अतः उनके मुख से निकला—'राहुलो जातो', अर्थात् एक विघ्न उत्पन्न हुआ। राजा ने राजकुमार के मुख से निकले हुए इन शब्दों की सूचना पाकर नवजात शिशु का नाम 'राहुल' रक्खा। जब राजकुमार राजकुलोचित बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किए हुए प्रासाद को लौट रहे थे तो मार्ग में उनके एक दूर के संबंधवाली स्त्री कृशा गौतमी से उनकी भेंट हो गई, जिसने निम्नलिखित छंद कहा—

निब्बुता नून सा माता
निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी
यस्य यं इदिसो पति॥

(सुखी है अवश्य ही वह माता जिसका ऐसा पुत्र है, सुखी है निश्चय ही वह पिता भी। सुखी है निश्चय ही वह नारी भी, जिसका ऐसा पति है।)

इस छंद का 'निब्बुत' शब्द राजकुमार को लग गया और उससे उन्होंने शांति और गंभीरता का आशय ग्रहण किया। वे इस शब्द से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपना रत्नों का कंठहार उतारकर कृशा गोतमी के पास भेंट के रूप में भेज दिया। परंतु कृशा गोतमी ने उससे यह समझा कि राजकुमार उसके ऊपर रीझ गए हैं। राजकुमार प्रासाद में लौट आए और संगीत-निपुण नारियाँ उन्हें राग-रंग से रिझाने लगीं, परंतु उसमें उनका मन तनिक भी नहीं लगा।

राजकुमार यह सोचकर कि पिता की सहमति के बिना संन्यास लेना अनुचित होगा, प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व ही राजा के निकट उपस्थित हुए। राजकुमार के शरीर से निकलनेवाली ज्योति की किरणों से प्रासाद आलोकित हो उठा जिससे राजा बड़े चकित हुए। बोधिसत्त्व ने गृहस्थ जीवन को त्यागने के लिए राजा से अनुमति माँगी, परंतु जब उन्होंने राजकुमार के इस विचार का विरोध किया तो राजकुमार ने उनसे निवेदन किया कि यदि आप मुझे ये चार वरदान दें कि मैं वृद्ध न होऊँ, कभी बीमार न होऊँ, मेरी मृत्यु न हो, न मुझे पुनः जन्म लेना पड़े, तो मैं संन्यास न लूँगा। राजकुमार की इन माँगों को मूर्खतापूर्ण समझकर राजा तथा महाप्रजापति गोतमी ने रक्षकों और राजकुमार का मनोरंजन करनेवाली स्त्रियों की संख्या और बढ़ा दी जिससे वे किसी प्रकार प्रासाद के बाहर न जा सकें। परंतु राजकुमार को संन्यास लेने से रोकने के लिए किए गए राजा और उनके कर्मचारियों के प्रयत्नों को व्यर्थ करने के लिए देवगण स्वयं आ उपस्थित हुए। बोधिसत्त्व को स्मरण था कि उन्होंने पहले ही ये चार निश्चय किए थे—(१) तृष्णा की शृंखला तोड़कर संसार के कारागार से जीवों को मुक्त करने के लिए मैं सर्वज्ञता प्राप्त करूँगा, (२) मैं ज्ञान का प्रकाश फैलाऊँगा जो अज्ञान-तिमिर का नाश कर सांसारिक जीवों की ज्ञान-दृष्टि को निर्मल करेगा, (३) 'मैं'-'मेरा' के कारण उत्पन्न संपूर्ण भ्रम को दूर कर दूँगा, तथा (४) उस ज्ञान का प्रचार करूँगा जिससे यह निर्भ्रान्त प्रतीति हो जायगी कि जन्मों के अनंत चक्र केवल अग्नि के चक्र (अलातचक्र) द्वारा छोड़ी गई चमक के समान हैं।

जब राजा शुद्धोदन राजकुमार की बात का कोई उत्तर न दे सकने के कारण चुप रह गए तो राजकुमार अपने कक्ष में लौट आए और वहाँ देखा कि नर्तकियाँ बाल बिखराए निद्रा में मग्न हैं, कुछ दाँत पीस रही हैं, किन्हीं के फेन-भरे मुँह से लार बह रही है, कोई नींद में कुछ बक रही है और कोई विकृत मुद्राओं में पड़ी हुई हैं। राजकुमार

को ऐसा अनुभव हुआ जैसे वे श्मशान में अथवा राक्षसियों के बीच खड़े हों। इस बीभत्स दृश्य को देखकर वे अपने ही शरीर के विषय में विचार करने लगे, जो सोचने पर उन्हें केवल एक मलकोष मात्र जान पड़ा। उसी क्षण उन्होंने संन्यास ग्रहण करने के उद्देश्य से प्रासाद को त्याग देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने छंदक को बुलाया और प्रासाद से प्रस्थान करने के लिए उससे अपने प्रिय अश्व कंठक को प्रस्तुत करने को कहा। छंदक चाहता था कि वे वृद्धावस्था में संन्यास लें, परंतु उन्होंने उसकी अनुनय-विनय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उसे प्रबल युक्तियों द्वारा विश्वास करा दिया कि उनका तत्काल संन्यास लेना आवश्यक है। तब वे कंठक पर आरूढ़ हो, छंदक को अपने साथ लिए, राजप्रासाद से निकल पड़े।

राजकुमार का प्रव्रजन

वे रात भर चलते गए और शाक्यों, कोलियों, मल्लों और मैत्रेयों की राज्य-सीमाओं को पार कर भोर में घोड़े पर से उतर पड़े। उन्होंने अपने रत्नाभूषणों को छंदक के हवाले किया और उससे घोड़े को लेकर कपिलवस्तु लौट जाने को कहा। उन्होंने खड्ग से अपने केश काटकर ऊपर फेंक दिये जिन्हें त्रयस्त्रिंश देवगण स्वर्ग में ले गए। राजकुमार अपने राजकीय वेश को त्यागना चाहते थे और पीले वस्त्र की खोज में थे, उसी समय एक देव व्याध का रूप धर पीला वस्त्र पहने हुए उनके समक्ष उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने बहुमूल्य परिधान को उस व्याध के वस्त्रों से बदल लिया, जिन्हें धारण कर वे पूरे परिव्राजक के वेश में हो गए। उनके इस प्रकार पूर्ण रूप से प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के कारण देवगण बड़े प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन प्रातःकाल कपिलवस्तु में राजप्रासाद की स्त्रियों ने राजकुमार को कहीं न पाकर रोना-चिल्लाना शुरू कर दिया, जिससे राजा का ध्यान आकर्षित हुआ। वे घबराए हुए वहां दौड़े गए और कारण पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि राजकुमार प्रासाद छोड़कर चले गए। व्याध राजकुमार के वस्त्र लिए हुए कपिलवस्तु को लौट रहा था, उसे देख लोगों ने समझा कि इसी व्याध ने राजकुमार को मार डाला। उसी क्षण छंदक और कंठक भी वहाँ राजकुमार के आभूषणों के साथ आ पहुँचे और छंदक ने सारा समाचार कह सुनाया। राजकुमार के प्रव्रजन के समाचार ने सभी को शोक-सागर में मग्न कर दिया, फिर यशोधरा, राजा शुद्धोदन और महाप्रजापति गौतमी की दशा का तो कहना ही क्या!

इधर छंदक राजभवन की स्त्रियों को समझा-बुझा रहा था, उधर राजकुमार पैदल

ही सत्य की खोज में बढ़े जा रहे थे। उन्हें दो ब्राह्मण तपस्विनियों ने और उसके बाद ब्रह्मर्षि रैवतक और राजक त्रिदंडक ने अपने आश्रमों में रहने के लिए आमंत्रित किया, परंतु उन्होंने नम्रता के साथ उनके आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया और आगे बढ़ते गए। इस प्रकार वे वैशाली जा पहुँचे और वहाँ आड़ार कालाम के आश्रम में ठहर गए। आड़ार कालाम की सिद्धियों के विषय में पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वे 'आकिंचन्यायतन' (जिसमें मनुष्य को कोई कामना नहीं रह जाती) नाम की ध्यान की सप्तम भूमिका (समापत्ति) में पहुँच चुके थे। बोधिसत्त्व उनकी उस शिष्यमंडली में सम्मिलित हो गए जिसकी संख्या उस समय तीन सौ थी और कुछ ही समय में उन्होंने अपने दृढ़ संकल्प (छंद), वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा सप्तम भूमिका (समापत्ति) प्राप्त कर ली। आड़ार ने उनसे अपने सहाध्यापक के रूप में अपने ही आश्रम में रहने का अनुरोध किया, परंतु उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'मुझे अपनी सिद्धि से संतोष नहीं है क्योंकि मैं उसे अंतिम मुक्ति नहीं मानता।' वे वैशाली छोड़कर राजगृह की ओर चल पड़े और उष्ण कुंड के पारवाले द्वार से नगर में प्रवेश किया। जब वे भिक्षा के लिए अटन कर रहे थे, उस समय उनकी तेजोदीप्त आकृति और शांति गंभीर मुद्रा को देखकर नगर-निवासियों के हृदय में उनके प्रति भयमिश्रित आदर की भावना उत्पन्न हुई और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। वे राजभवन की ओर दौड़े और राजा को बोधि-सत्त्व के आगमन की सूचना दी। दूसरे दिन प्रातःकाल राजा उनसे मिला और अपना आधा राज्य उन्हें देना चाहा, परंतु उन्होंने नम्रतापूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया और राजा को क्षणिक सांसारिक सुखों के दोषों से अवगत किया। इसके अनंतर वे राजगृह के उपकंठ में गये और रुद्रक रामपुत्र के आश्रम में ठहरे। पता लगाने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि रुद्रक 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' नाम की ध्यान की अष्टम भूमिका तक पहुँच सकते हैं, जिसमें न इंद्रियानुभव होता है, न उसका अभाव ही होता है। आड़ार कालाम के द्वारा प्राप्त की हुई भूमिका से यह भूमिका उच्चतर थी, परंतु वह सिद्धि भी इस संसार (संसृत) की सीमा के भीतर की ही थी, लोकोत्तर नहीं, जिससे शांति और विश्रांति मिलती है, दुःखों का अंत हो जाता है, और अंत में पूर्ण रूप से निर्वाण प्राप्त हो जाता है। अपेक्षाकृत कम समय में और अल्प परिश्रम के द्वारा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की भूमिका प्राप्त कर लेने की बोधिसत्त्व की असाधारण शक्ति को देखकर रुद्रक के पाँचों ब्राह्मण शिष्यों ने अपने गुरु को छोड़कर गौतम के साथ रहना पसंद किया। उनके साथ गौतम गया गए और गयाशीर्ष गिरि के पास ठहरे।

बोधिसत्त्व अपने पाँच नए साथियों के साथ गयाशीर्ष गिरि पर गए और वहाँ कितने

ही तपस्वियों को अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए कठोर तपश्चर्या में निरत पाया। परंतु उन्होंने लक्ष्य किया कि उन तपस्वियों ने सांसारिक तृष्णाओं से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर पाया था। उनके घोर तपश्चर्या में लीन रहते हुए भी, सत्य अंतर्दृष्टि एवं ज्ञान के साक्षात्कार को कौन कहे, अलौकिक शक्तियों को भी प्राप्त करना अभी उनके लिए बहुत दूर की बात थी। वे गीली लकड़ियों से अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न कर रहे थे। बोधिसत्त्व ने विचार किया कि अग्नि तो सूखी लकड़ियों में से ही उत्पन्न की जा सकती है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश उसी के हृदय में हो सकता है जिसने सांसारिक तृष्णाओं से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त कर लिया है। और बोधिसत्त्व ने पहले ही उनसे अपने को मुक्त कर लिया था।

बोधिसत्त्व का तप

तब वे उरुविल्व सेनापति-ग्राम की ओर चले और जल से परिपूर्ण नेरंजना नदी का दृश्य देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उस समय के लोगों के धार्मिक विश्वासों का निरीक्षण करते हुए उन्होंने पाया कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में उलझे हुए हैं। कोई मंत्रों की शक्ति तथा ओंकार के जप में विश्वास करता है, कोई उच्चतर जीवन प्राप्त करने के लिए न केवल देवी-देवताओं की अपितु वृक्षों, सरोवरों, श्मशानों और चतुष्पथों की भी पूजा करता है, कोई मुक्ति प्राप्त करने के लिए शरीर को कष्ट देकर घोर तप करते हुए कुत्तों या गायों की भाँति जीवन व्यतीत कर रहा है और जटा और नख बढ़ाए हुए, शरीर में धूल लपेटे हुए है। कितने ऐसे भी थे जिनका विश्वास था कि एक पुत्र का जन्म हो जाने से उसके द्वारा उनका परलोक सुधर जायगा। इन अंधविश्वासों में लिप्त मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए बोधिसत्त्व ने कठोर तपस्या करने का निश्चय किया और छः वर्ष तक घोर तपस्या की। वे इतना कठोर श्रम करते थे कि घोर शीतकाल में भी उनकी काखों में पसीना आ जाता था। प्राणायाम में उनकी श्वास-क्रिया इस प्रकार बंद हो जाती थी कि कभी-कभी लोग भ्रम से उन्हें मृत समझ लेते थे। व्रतों और उपवासों की शक्ति में विश्वास करनेवालों का अज्ञान दूर करने के लिए उन्होंने केवल एक बेर या अन्न का एक दाना खाकर महीनों बिता दिए, जिससे कुछ दिनों तक वे केवल कंकाल मात्र रह गए थे। उनके शरीर में रक्त और मांस लेशमात्र भी नहीं रह गया और अस्थियाँ केवल नसों के द्वारा किसी प्रकार जुड़ी रहीं। दीर्घ काल तक स्नान न करने के कारण उनके शरीर पर मैल की पपड़ियाँ जम गईं

और उनका सोने सा दमकता रंग काला पड़ गया। इस प्रकार कृशकाय हो जाने पर एक दिन वे मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े।

बोधिसत्त्व की तपश्चर्या के छः वर्षों की अवधि में मार बराबर इस ताक में रहा करता था कि उनकी तपस्या में कहीं कोई त्रुटि दिखाई पड़े। परंतु जब उसे कोई त्रुटि नहीं मिली तो वह उनके सम्मुख प्रकट हुआ और उनसे शरीर को कष्ट देनेवाले कठिन अभ्यासों को छोड़कर यज्ञ तथा अन्य विहित कर्मों का मार्ग ग्रहण करने की प्रार्थना की; क्योंकि उसके कथनानुसार उनके द्वारा भी जीवन की उच्चतर अवस्थाएँ प्राप्त की जा सकती थीं।[1] परंतु बोधिसत्त्व मार की बातों में न आये और उन्होंने सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने तथा मार के लोक से ऊपर उठ जाने का अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया।

बोधिसत्त्व ने अनुभव किया कि केवल तपस्या के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, और उन्हें कृषिग्राम में हुए अपने समाधि के अनुभवों का अकस्मात् स्मरण हो आया। तब उन्होंने आहार ग्रहण कर तथा अपने कृश शरीर को दृढ़ बनाकर अपनी साधना के मार्ग को बदल देने का निश्चय किया।

सुजाता की खीर

उन दिनों उरुवेला में सेनानी नाम का एक भूस्वामी था, जिसके सुजाता नाम की एक कन्या थी। सुजाता ने पुत्रोत्पत्ति के लिए एक न्यग्रोध वृक्ष में निवास करनेवाले देव को खीर चढ़ाने की मनौती मानी थी। बोधिसत्त्व की तपस्या का वह छठा वर्ष था। अपनी मनौती के अनुसार उसने वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन उस वृक्ष-निवासी देव को खीर चढ़ाने की तैयारियाँ कीं। खीर पकाते समय उसने कुछ अलौकिक चमत्कार देखे और अपनी दासी पुण्णा को पहले से वृक्ष के नीचे भेज दिया। उस समय भगवान् न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, उनके शरीर से तेज की किरणें निकल रही थीं। पुण्णा को बड़ा विस्मय हुआ और वह सुजाता को यह समाचार देने के लिए दौड़ी कि बनदेव उसकी पूजा ग्रहण करने के लिए वृक्ष से उतरकर नीचे विराजमान हैं। सुजाता ने एक नवीन स्वर्णपात्र में प्रेमपूर्वक खीर परोसी, और तब अवसर के अनुकूल वस्त्रादि धारण कर खीर से भरा पात्र सिर पर लिए वह न्यग्रोध वृक्ष की ओर चली। वनदेव का साक्षात्

१. तुल० पधान सुत्त।

दर्शन कर वह परम प्रसन्न हुई। उसने उन्हें खीर अर्पित की[1] और भगवान् ने उसे स्वीकार किया। उन्होंने नदी में स्नान करने के पश्चात् खीर ग्रहण की। उनचास दिनों के निरंतर उपवास के अनतर (उन दिनों में उन्होंने स्नान वा आचमन भी नहीं किया था) उन्होंने प्रथम वार यह आहार ग्रहण किया। भोजन कर लेने के पश्चात् उन्होंने पात्र को यह कहते हुए नदी में फेंक दिया कि यदि मुझे बोधि प्राप्त होनेवाली होगी तो यह पात्र नदी में तैरेगा और धारा के प्रतिकूल चलेगा। ऐसा ही हुआ और वह पात्र धारा के प्रतिकूल नदी में तैरता हुआ अंत मे एक भवँर में पड़ गया और डूबकर नीचे काल नागराज के लोक में पहुँच गया।

बोधिसत्त्व के पाँचों ब्राह्मण साथियों ने देखा कि ये तपश्चर्या के द्वारा तो अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे और अब ये भोजन ग्रहण कर तथा सुख से जीवन व्यतीत करके उसे प्राप्त करना चाहते हैं। इससे वे बड़े निराश हुए। बोधिसत्त्व से उन्हें विरक्ति हो गई और वे उनका साथ छोड़ बनारस के निकट मृगदाव को चले गए।

स्नान-भोजन से स्वस्थ होकर भगवान् धीर गति से बोधि वृक्ष की ओर चले। देवों ने मार्ग को कुश-कंटकों और कंकरियों से रहित करके स्वच्छ-सुगम बना दिया। बोधिसत्त्व के शरीर से समस्त जीवों को आनंद देनेवाली तेज की किरणें निकलकर चारों दिशाओं में फैल रही थी। नागराज कलिक ने उनके चरणों के दर्शन किए और उसकी रानी सुवर्णप्रभास ने उनकी स्तुति की। इसके पश्चात् बोधिसत्त्व को स्वस्तिक नामक एक घसियारा (यवसिक) मिला, जिससे उन्होंने आसन

१. ललित विस्तर में दी हुई कथा इससे कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है—सुजाता बोधिसत्व के भक्तों में से थी। वह इस आशा से ब्राह्मणों को भोजन कराया करती थी कि उनके आशीर्वाद से बोधिसत्त्व की साधना सफल होगी और वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। देवों ने सुजाता को बोधिसत्त्व के लिए खीर पकाने की प्रेरणा की। तदनुसार उसने खीर पकाई और एक सोने के कटोरे में परोस कर उसे बोधिसत्त्व को खाने के लिए दिया। उन्होंने उसे ग्रहण करने के अनंतर कटोरे को नदी में फेंक दिया। उन्होंने नेरंजना नदी के शीतल जल में स्नान किया।

उस समय बोधिसत्त्व का कटिवस्त्र नितांत शीर्ण हो गया था और वे एक नया वस्त्र चाहते थे। उन्होंने निकटस्थ श्मशान में किसी शव पर का फेंका हुआ एक क्षौम-वस्त्र-खंड पाया और उसे उठा लिया। वे उसे धोना चाहते थे; परंतु उस स्थान के निकट कोई जलाशय न था, अतः देवों ने वहाँ अपनी दैवी शक्ति से एक जलाशय तथा उसके तट पर एक शिला प्रस्तुत कर दी, जिसपर बोधिसत्त्व ने उस वस्त्र को धोया।

के निमित्त कुछ घास माँगी। फिर वे यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके बोधिवृक्ष के नीचे आसीन हो गये कि भले ही शरीर सूख जाय और मांस और हड्डियां गल जायं, परन्तु मैं बोधि प्राप्त किए बिना आसन से नहीं उठूँगा। जब वे पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से उस स्थिति में बैठे हुए थे उस समय छहों दिशाओं के लोकों से आकर वहां एकत्र हुए अनेक बोधिसत्त्व उनकी रक्षा कर रहे थे।

मार-विजय

जब भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे बैठ हुए थे उस समय उन्होंने अनुभव किया कि मार-लोक के निवासी जो देवगण अपने पुण्यों के बल से कालांतर में बुद्धत्व प्राप्त करने के अधिकारी हैं उन्हें सम्यक् बोधि प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने बोधिवृक्ष के नीचे आसनस्थ होने की सूचना दे देना आवश्यक है। अतः उन्होंने मार के लोकों को प्रकाशित करनेवाली आलोक की किरणें प्रसारित कीं। उनकी इन आलोक-किरणों ने उनके कुटिल शत्रु मार को भी स्पर्श किया, जिसे अपने प्रताप के क्षीण होने के कई स्वप्न दिखाई पड़े। वह भयभीत होकर उठ बैठा ओर अपने पुत्रों और सेनापतियों को बुलाया, जिन्होंने यह कहकर उसके भय को दूर करने का प्रयत्न किया कि कोई शत्रु-सेना कितनी भी प्रचंड एवं बलशालिनी क्यों न हो, उसे पराजित करने के लिए हमारे पास पर्याप्त सेना और शक्ति है। मार की आज्ञा पाकर उन्होंने भयानक आकारवाले यक्षों, राक्षसों, कुंभांडों, उरगों और पिशाचों को उत्पन्न किया और उन्हें पूर्ण रूप से शस्त्रसज्ज कर दिया। मारपुत्रों ने मार का दक्षिण और वाम पार्श्व सँभाला और इस प्रकार अपने वीर योद्धाओं के साथ रणोद्यत हो मार बोधिसत्त्व से युद्ध करने को प्रस्थित हुआ। परन्तु बोधिसत्त्व के मुँह खोलने मात्र से मार और उसकी सारी सेना भयभीत हो गई। बोधिसत्त्व अपने सिर पर हाथ फेरते तो भी उन सबको ऐसा लगता कि उनपर खड्ग से प्रहार हो रहा है। वे बोधिसत्त्व पर भारी-भारी अस्त्र फेंकने लगे, परंतु उन्होंने देखा कि वे अस्त्र फूल बनकर बोधिवृक्ष की डालों में लटक जाते थे। तब बोधिसत्त्व ने उन्हें संबोधित कर कहा—'निस्संदेह तुम लोगों के स्वामी मार ने अनेक यज्ञ करके असाधारण शक्तियां प्राप्त कर ली हैं, परतु वैसे यज्ञ मैंने भी किए हैं और उनसे भी बढ़कर, मैंने अगणित दान दिए हैं। केवल धन-संपत्ति ही नहीं, मैंने अपना शरीर तक लोकहित के लिए अर्पित कर दिया है।' अपने इस कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने पृथ्वी माता की ओर संकेत किया, जो बारंबार कंपित होकर उनके कथन की पुष्टि करने लगीं।

मार बहुत निराश हो गया और युद्धक्षेत्र से लौटकर वह बोधिसत्त्व को उनके बोधि प्राप्त करने के निश्चय से पराङ्मुख करने के लिए कोई मृदु उपाय सोचने लगा। उसने अपनी रूपवती पुत्रियों को अपने शृंगार, हाव-भाव एवं संपूर्ण नारी-सुलभ युक्तियों द्वारा बोधिसत्त्व को मोहित करने की आज्ञा दी। वे सब भली भाँति शृंगार कर एक साथ बोधिसत्त्व के पास गई और अपने मधुर वचनों तथा अंगों की मोहक चेष्टाओं द्वारा उस महान् संत को लुभाने का यथाशक्ति प्रयत्न करने लगी। परंतु बोधिसत्त्व पर्वत के समान अचल रहे, उनके सुंदर रूप, हाव-भाव और मधुर वचनों का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में बोधिसत्त्व मुस्कराए और उन्होंने उन्हे इंद्रिय-भोगों के कुपरिणामों तथा सांसारिक सुखों की अस्थिरता का ज्ञान कराया। उन्होंने यह भी बतलाया कि संसार में बार-बार जन्म लेने का कारण विषय-तृष्णा है तथा यह शरीर मलों की खान है। मार-कन्याओं ने उनकी बातें सुनी-अनसुनी कर दी और उन्हें सांसारिक भोगों की ओर आकर्षित करने का पुनः प्रयत्न करने लगीं, परंतु वे पुनः असफल रहीं।

जब मार-कन्याएँ सब प्रयत्न करके थक गई और बोधिसत्त्व को उनके निश्चय से विरत न कर सकीं तो उन्होंने अपनी हार मान ली और अपने पिता से जाकर निवेदन किया कि बोधिसत्त्व राग, द्वेष और मोह से सर्वथा रहित है। वे स्त्रियों की सारी धूर्त-विद्या भली भाँति समझते हैं, और उसका उनपर कोई प्रभाव नही पड़ सकता। मार-कन्याओं को पूरा विश्वास हो गया था कि पृथ्वी और स्वर्ग की कोई भी शक्ति बोधि-सत्त्व को पराभूत नहीं कर सकती, और वे मार की सेनाओं को बड़ी सरलता से परास्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।

जब मार बोधिसत्त्व से युद्ध[1] कर रहा था उस समय देवगण बराबर उनके पार्श्व में खड़े उस युद्ध का अवलोकन कर रहे थे। उन्होंने बोधिसत्त्व की दृढ़ता और बुद्धि की प्रशंसा की और मार से भगवान् पर आक्रमण न करने का अनुरोध किया। बोधिसत्त्व ने कहा कि इसमें कोई संदेह नहीं कि मार कामधातु के स्वामी (कामेश्वर) हैं, परंतु मैं धर्म का स्वामी (धर्मेश्वर) हूँ। और सब प्रकार से मार से श्रेष्ठ हूँ। मार की सेना को पूर्ण रूप से ध्वस्त करके बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के नीचे दृढ़ आसन लगाकर बैठ गए।

१. मार और बोधिसत्त्व के युद्ध के वर्णन ने बढ़ते-बढ़ते ग्रंथ का रूप धारण कर लिया। द्रष्टव्य महासन्निपात-रत्न केतु-धारणी, अध्याय २, गिलगिट मैनु०, जिल्द ४।

बोधि की प्राप्ति

इसके अनंतर बोधिसत्त्व ध्यान मे लीन हो गए और शनैः-शनैः उनका उत्थान प्रथम भूमिका (सवितर्क-सविचार-विवेकज-पीति-सुख) से द्वितीय भूमिका (अवितर्क-अविचार-समाधिज-पीति-सुख) फिर द्वितीय से तृतीय (उपेक्षक-स्मृतिमान्-सुख-विहारी) और फिर तृतीय से चतुर्थ भूमिका (अदुःखासुख-उपेक्षा-स्मृति-परिशुद्धि) पर होता गया। जब वे ध्यान की चतुर्थ भूमिका में थे तब रात्रि के प्रथम प्रहर में उन्हें दिव्य चक्षु तथा शुद्ध अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे वे समस्त जीवों के स्वभाव को जान सकते थे। द्वितीय प्रहर में उन्हें जीवों के पूर्वजन्मों की बातें जानने की शक्ति प्राप्त हुई और रात्रि के अंतिम प्रहर में उन्हें अनुभव हुआ कि उनके रहे-सहे दोषों का भी पूर्ण रूप से नाश हो गया (आस्रव-क्षय-ज्ञान)। इस भूमिका में उन्हें इस सत्य का ज्ञान हुआ कि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्य होता है; और जब वे इस सत्य पर मनन कर रहे थे उस समय उन्हें कारण-परंपरा के नियम (प्रतीत्य-समुत्पाद) का भी ज्ञान हो गया, जिससे उन्होंने यह पूर्ण रूप से समझ लिया कि सत्य का अज्ञान (अविद्या) ही सांसारिक दुःखों का मूल कारण है। तब उन्होंने कारण-परंपरा के नियम पर विलोम क्रम से विचार किया और उन्हें बोध हुआ कि अविद्या का नाश ही अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। तदनंतर उन्हें दुःख, समुदय (दुःख का कारण), निरोध (दुःख का नाश) और मार्ग (दुःख के नाश का उपाय)—इन चार सत्यों का ज्ञान हुआ। उन्होंने अविद्या, संस्कार, तृष्णा इत्यादि कारण-शृंखला की बारह कड़ियों में से प्रत्येक में चारों सत्यों का विनियोग किया और पाया कि प्रत्येक कड़ी का आदि और अंत है और उसके अंत का एक मार्ग है। प्रातःकाल उन्हें परम सत्य अर्थात् बोधि का साक्षात्कार हुआ और वे पूर्ण ज्ञानी, 'बुद्ध' अथवा प्रबुद्ध हो गए। उन्हें सृष्टि के दृश्य पदार्थों के अस्थिर स्वभाव का ज्ञान हो गया और साथ ही उन्होंने परम तत्त्व का, जीवन (भूत कोटि) के अंत का भी ज्ञान अधिगत कर लिया।

देवों ने उनकी बोधि-प्राप्ति से आनंदित होकर उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा की और अत्यंत भावपूर्ण शब्दों में उनका स्तवन किया।

सात सप्ताह

इस अद्भुत सफलता के बाद बुद्ध जन्म, जरा, और मृत्यु से सर्वदा के लिए मुक्ति दिलानेवाली अपनी साधना के सिद्ध हो जाने के शांत आनंद (प्रीत्याहार-व्यूह) का अनु-

भव करते हुए एक सप्ताह तक बोधिवृक्ष के नीचे आसीन रहे। दूसरे सप्ताह में वे विचार-मग्न होकर टहलते रहे और तीसरे सप्ताह में, जिस प्रकार से उन्होंने सत्य का ज्ञान प्राप्त किया उसपर विचार करते हुए बोधि-वृक्ष की ओर देखते रहे। चौथे सप्ताह में वे फिर थोड़ी दूर तक टहलते रहे। इसी सप्ताह मार ने उनके पास आकर यह प्रार्थना की कि 'अब आप परिनिर्वाण (महाकाल) को प्राप्त हों।' बुद्ध ने उसकी बात नहीं मानी और कहा कि जब तक मैं अपने शिष्यों को पूर्ण रूप से अपने सिद्धांतों और उपदेशों का ज्ञान न करा लूँ और अपने भिक्षु-संघ को भली भाँति संघटित और संस्थापित न कर लूँ तब तक मैं तुम्हारी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता। मार इससे बहुत हताश और दुःखी हुआ और उसने अपनी कन्याओं से कहा कि जिसने राग, द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त कर ली है उसको वश में करने का कोई भी प्रयत्न कभी सफल नही हो सकता। मार की कन्याएँ भी उसकी इस बात से सहमत थीं। अतः उन्होंने भगवान् बुद्ध के निकट जाकर उनसे अपनी दुष्चेष्टाओं के लिए क्षमा-प्रार्थना की। पाँचवाँ सप्ताह बुद्ध ने नागराज मुचिलिंद के राजभवन में व्यतीत किया, जो उनके शरीर को लपेट कर और उनके ऊपर अपना फन फैलाकर धूप और वर्षा से उनकी रक्षा करता रहा। मुचिलिंद के राजभवन से वे गड़ेरिए के न्यग्रोध वृक्ष के निकट गये, जो उस समय एक देव था, और उसके नीचे ध्यान करते हुए उन्होंने छठा सप्ताह व्यतीत किया। सातवाँ सप्ताह बुद्ध ने तारायण वृक्ष के नीचे बिताया, जहाँ उन्हें दक्षिणापथ से उत्तरापथ जाते हुए त्रपुस और भल्लिक नामक दो व्यापारी मिले। उन दोनों व्यापारियों के पास बड़े हृष्ट-पुष्ट और बलवान् बैलों की एक जोड़ी थी। वे मार्ग में आनेवाली किसी विपत्ति को पहले ही जान लेते थे। आगे-आगे चलनेवाले ये दोनों बैल बुद्ध के पास आकर रुक गये और फिर एक इंच भी आगे नहीं बढ़े। वे दोनों व्यापारी इस प्रकार बैलों के अकस्मात् रुक जाने के कारण का पता लगाने लगे। उसी समय कुछ देवों ने, जो पूर्वजन्म में उन व्यापारियों के संबंधी थे, उन्हें उस स्थान के निकट बुद्ध की उपस्थिति की सूचना दी और उनसे भगवान् को मधु तथा अन्य भोज्य पदार्थ देने का अनुरोध किया। व्यापारियों ने सहर्ष उनकी बात मान ली। परंतु उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिए बुद्ध के पास कोई पात्र नही था, अतः चार लोकपाल उसी क्षण चार रत्नजटित सोने के कटोरे लेकर वहाँ उपस्थित हुए। बुद्ध ने उन्हें लेना स्वीकार नहीं किया और एक पत्थर का कटोरा ले लिया। त्रपुस और भल्लिक को बोधि-प्राप्ति के बाद प्रथम बार भगवान् बुद्ध को भोजन कराने और इस प्रकार उनके सर्व-प्रथम उपासक होने का गौरव प्राप्त हुआ।

सातवें सप्ताह में जब भगवान् बुद्ध तारायण वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे तो उन्हें प्रतीत हुआ कि जिस सत्य का उन्होंने साक्षात्कार किया है वह इतना गंभीर और सूक्ष्म है कि सामान्य बुद्धि के मनुष्यों के लिए उसको समझना कठिन है। वह शब्दों से अगम्य, तर्कों से परे, अचल-स्वभाव है और उसमें संपूर्ण भूत-जगत् तथा काम, क्रोध, मोह आदि का अंत हो जाता है। अत. उस सत्य को प्रचारित करने का प्रयत्न करना केवल शक्ति का अपव्यय करना है। महाब्रह्मा उनके इन विचारों को जानकर तत्क्षण वहाँ आये और उनसे सत्य का उपदेश करने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि कुछ लोग जिनका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास सामान्य जनों की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि का है, सत्य को हृदयंगम करने में समर्थ होंगे। उन्होंने यह भी कहा कि संसार में इस समय घोर अज्ञान का अंधकार छाया हुआ है और यदि सत्य धर्म का उपदेश न किया जायगा तो लोग और अधिक अज्ञानग्रस्त होकर उन्मार्गगामी हो जायँगे। तब बुद्ध ने अपने दिव्य नेत्रों से संसार का अवलोकन किया और देखा कि उसमें अनेक प्रकार के लोग हैं जिनमें कुछ अवश्य सत्य धर्म को हृदयंगम करने में समर्थ होंगे। तब उन योग्यतम व्यक्तियों का पता लगाने लगे जो उनके उपदेशों से लाभान्वित हो सकते थे। पहले उन्हें रुद्रक रामपुत्र का और फिर आड़ार कालाम का ध्यान आया। परंतु वे दोनों उस समय संसार छोड़ चुके थे, अतः उन्होंने उन पांचों ब्राह्मण तपस्वियों को सत्य धर्म का उपदेश देने का निश्चय किया जो उस समय बनारस के निकट मृगदाव में रहते थे। वे उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट स्तर पर पहुँचे हुए तथा उनके उपदेशों को समझने में समर्थ जान पड़े। अतः वे गया छोड़कर बनारस के पथ पर अग्रसर हुए। मार्ग में उन्हें एक आजीवक साधु मिला जो उनके शांत और तेजस्वी रूप को देखकर बहुत प्रभावित हुआ और जिसने उनसे उनके गुरु का नाम जानना चाहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि 'मेरे समान ज्ञानी कोई नहीं है, मेरा कोई गुरु नहीं है, मैं सम्यक् बुद्ध हूँ।' आजीवक साधु के चले जाने पर वे उत्तर दिशा में चले और गंगातट पर पहुँचे। उन्होंने एक केवट से पार उतारने के लिए कहा तो उसने उतराई माँगी। तब वे वायु-मार्ग से उड़कर गंगा पार हो गए। केवट को इससे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और राजा बिंबिसार भी इससे बहुत दुःखी हुए। इसके बाद राजा ने केवटों को आज्ञा दे दी कि वे साधुओं को बिना शुल्क लिए पार उतार दिया करें।

———

अध्याय ४

बुद्ध का धर्म-प्रचार

बुद्ध का धर्म-प्रचार-कार्य सारनाथ से प्रारंभ हुआ। वाराणसी से चलकर बुद्ध अपने पुराने ब्राह्मण साथियों को उपदेश देने के लिए मृगदाव पहुँचे, जो इसिपत्तन (ऋषियों का नगर) के नाम से प्रसिद्ध था। भगवान् बुद्ध को अपनी ओर आते देख उन पाँचों ब्राह्मणों ने प्रतिज्ञा की कि हमारे पुराने मित्र होने पर भी ये तपोभ्रष्ट हो गए, अतः हम इनका स्वागत नही करेंगे। परंतु जब बुद्ध उनके निकट पहुँच गए तो उनकी शांत, गंभीर, देवोपम आकृति से वे ब्राह्मण ऐसे अभिभूत हुए कि उन्हें अपनी प्रतिज्ञा भूल गई। उन्होंने आगे बढ़कर उचित आदर और विनय के साथ उनका स्वागत किया। पहले उन्होंने भगवान् को अपने मित्र के समान 'आयुष्मन्' कहकर संबोधित किया, जिसपर उन्होंने आपत्ति की और उनसे कहा कि वे उन्हें अपना गुरु समझें और उन्हें गुरु कहकर ही संबोधित करें।

उन्होंने देखा कि उन पाँचों ब्राह्मणों को एक साथ सत्य धर्म में विश्वास कराना सरल नहीं है, अतः उन्होंने उनमें से दो को भिक्षा माँगने के लिए बाहर भेज दिया और शेष तीनों को अपने सत्य धर्म का रहस्य समझाया। जब भिक्षार्थ गये हुए विप्र लौट आये तो दूसरे दिन उन तीनों को भिक्षा के लिए भेजकर उन्होंने अन्य दो को धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने पहले उन्हें यह समझाया कि गृहस्थी का सुखमय जीवन तथा तपस्या का कष्टमय जीवन–दोनों ही दो अंतिम कोटि के हैं, अतः अनुचित हैं। उनका त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मध्यम मार्ग के अंतर्गत उन्होंने तीन बातें बतलाई––(१) वचन, कर्म तथा जीविका के साधन पर संयम (सम्मा वाचा, कम्मन्त तथा आजीव), (२) अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण, अर्थात् दृढ़ निश्चय, अभ्यास, ध्यान एवं समाधि के द्वारा सद्गुणों का अर्जन तथा दोषों का त्याग (सम्मा सङ्कप्प, वायाम, सति, समाधि) तथा (३) सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति, अर्थात् चार सत्यों एवं द्वादश कारण-परंपरा का ज्ञान (सम्मा दिट्ठि)।

चार सत्यों में से प्रथम सत्य यह है कि 'यह संसार दुःखमय है' और इसके साथ सदव जन्म, जरा, रोग और मृत्यु का चक्र लगा रहता है। जीव इस कारण भी दुःख पाता है कि वह जो कुछ चाहता है वह उसे प्राप्त नहीं होता और उसे ऐसे लोगों की

संगति प्राप्त होती है जिनसे वह मिलना भी नहीं चाहता। दूसरे शब्दों में, जिन पंचभूतों से जीव का शरीर बना हुआ है उनके साथ दुःख और पीड़ा का नित्य संबंध है। दूसरा सत्य यह है कि 'दुःख का कारण इच्छा या तृष्णा है' जो मनुष्य के सांसारिक जीवन में बार-बार उत्पन्न होती और बढ़ती ही जाती है। तृष्णा का सबसे बुरा रूप वह है जिसमें मनुष्य मृत्यु के समय यह कामना करता है कि वह फिर से इस संसार में जन्म ले। तीसरा सत्य है 'दुःख का नाश', जो इच्छा या तृष्णा को पूर्णतः नष्ट करके ही किया जा सकता है। चौथा और अंतिम सत्य यह है कि 'दुःख और पीड़ा के नाश का उपाय उपर्युक्त अष्टांग धर्मवाला मध्यम मार्ग है।'

द्वादश कारण-परंपरा[1] के सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'तृष्णा' द्वितीय सत्य है, और वह अनुभूति या वेदना से उत्पन्न होती है। अनुभूति या 'वेदना' स्वयं छहों इंद्रियों का अपने-अपने इंद्रियार्थों या विषयों से संबंध होने पर उत्पन्न होती है। षडिंद्रियों की उत्पत्ति मनुष्य के संसार में जन्म लेने के कारण होती है, और जन्म के कारण हैं कर्मों के प्रभाव (संस्कार), जिन्हें वह पूर्व जन्मों से प्राप्त करता है, जिनमें विश्व के मूल सत्य के ज्ञान के अभाव के कारण उसका जीवन 'अविद्या' में लिप्त रहता है। बार-बार जन्म लेने का कारण 'इच्छा, विशेषतः पुनर्जन्म की इच्छा' है, जिसमें जरा, रोग और मरण अवश्यंभावी हैं। बुद्ध ने बारंबार इस बात पर जोर दिया कि पुनर्जन्म की तृष्णा (भावतृष्णा) ही पंचतत्त्वों के संयोग का कारण है जिससे जीव की देह का निर्माण होता है। ये तत्त्व (नाम-रूप) अनित्य एवं दुःख के मूल हैं तथा कामना के योग्य विषय नहीं हैं। अतएव यह अत्यंत आवश्यक है कि मनुष्य तृष्णा से बचने का उपाय स्वयं करे, इसके लिए किसी मनुष्य या ईश्वर के भरोसे न रहे (आत्मशरण अनन्यशरण)।

उपर्युक्त उपदेश और उसकी व्याख्या से पाँचों ब्राह्मण तपस्वियों की दृष्टि निर्मल हो गई। पाँचवें दिन जब बुद्ध के उपदेशों में उन पाँचों की कुछ गति होने लगी तो बुद्ध ने 'अनत्तलक्खनसुत्त' का व्याख्यान किया जिसमें उन्होंने अपने धर्म के मूल सिद्धांत बतलाए, जिनका सार यह है कि जीव के निर्माण-तत्त्वों (स्कंधों) से पृथक् आत्मा (अत्त=आत्मन्) नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिन पाँच तत्त्वों से देही का निर्माण होता है वे हैं—रूप, वेदना, (अनुभूति), संज्ञा (सञ्ञा), संस्कार (संखारा) और विज्ञान (विञ्ञान)। आत्मा का अस्तित्व न पृथक्-पृथक् इन पाँचों स्कंधों में

१. और विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय ८।

से किसी में है, न वह इनके समवाय में है। इन स्कंधों के बाहर भी कहीं उसका अस्तित्व नहीं है। इस उपदेश से उन पाँचों ब्राह्मणों के ज्ञान-नेत्र खुल गए और उन्हें तत्काल अर्हत् पद प्राप्त हो गया।

उन पाँचों बुद्ध-शिष्यों के व्यक्तिगत इतिहास के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है। अनुश्रुतियों से जो कुछ थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

(१) **अञ्ञात-कोंडञ्ञ—(अज्ञात कौंडिन्य)**—ये कपिलवस्तु के निकट द्रोण-वस्तु के एक संपन्न ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने वेदों और अन्य ब्राह्मण-शास्त्रों का अध्ययन किया था। जिन ब्राह्मणों को राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के जीवन का भविष्य पूछने के लिए निमंत्रित किया था उनमें ये भी थे। ये उन पाँचों ब्राह्मणों में ज्येष्ठ थे जिन्होंने बुद्ध के साथ तपस्या की थी और यही उनके उपदेशों को समझनेवाले सर्वप्रथम शिष्य थे तथा उनके भक्तों में सर्वश्रेष्ठ मानकर लोग इनकी प्रशंसा करते थे। अर्हत् पद प्राप्त करने के बाद ये गुरु की आज्ञा लेकर एकांत वन में चले गए। कहा जाता है कि वहाँ वन के हाथी उनकी सेवा करते थे।

(२) **भद्दिय**—बुद्ध के उपदेशों को समझनेवाले द्वितीय ब्राह्मण थे।

(३) **वप्प**—कपिलवस्तु के वासेट्ठ कुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध के ऋषिपत्तन में आने के दूसरे ही दिन वे 'सोतापन्न' हो गए।

(४–५) **महानाम** और **अस्सजि**—पाँचों ब्राह्मणों में कनिष्ठ थे और पाँचों में से ये ही दोनों बुद्ध की शिक्षाओं से लाभान्वित होनेवाले अंतिम व्यक्ति थे। चित्तगहपति महानाम से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने उन्हें अंबटक वन दान कर दिया था। अस्सजि ने 'ये धम्म हेतुप्पभवा' इत्यादि श्लोक कहकर सारिपुत्त को बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट किया था, इस कारण उनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई।

पूर्ण, नालक और सभिय

पाँचों ब्राह्मणों को अपने धर्म का अनुयायी बनाकर कुछ काल तक बुद्ध ऋषिपत्तन में ही रहे। उस समय पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, नालक और सभिय[1] ने जो सभी बुद्ध के सम-

१. महावस्तु (३, पृ० ३७७तथा आगे) तथा अभिनिष्क्रमण सूत्र (पृ० २७४ तथा आगे) में पूर्ण मत्रायणीपुत्र, असित ऋषि के भांजे नालक, और एक विख्यात तार्किक स्त्री के पुत्र सभिय के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन श्रेष्ठिपुत्र यश की दीक्षा के पहले किया गया है।

सामयिक साधु थे, बुद्ध के उपदेशों की बड़ी प्रशंसा की। परंतु संभवतः वे भिक्षु नहीं हुए, यद्यपि महावस्तु में कहा गया है कि बुद्ध ने "एहि भिक्षु" मंत्र का उच्चारण करके उन्हें भिक्षु-संघ में सम्मिलित किया था। इसमें संदेह नहीं कि ये तीन साधु इसके एक-दो वर्ष के बाद बौद्ध-संघ में सम्मिलित हुए और उन्होंने भिक्षुओं में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। पूर्ण मैत्रायणीपुत्र ने भिक्षु-संघ में सम्मिलित होने के कुछ ही समय बाद बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनंद को उपदेश दिया था। पूर्ण मैत्रायणीपुत्र कपिलवस्तु के निकट कोसल के द्रोणवस्तु नामक स्थान के निवासी एक संपन्न ब्राह्मण के पुत्र थे। उन्होंने राजकुमार सिद्धार्थ के प्रव्रज्या-ग्रहण के ही दिन गृह त्याग किया था। वे हिमालय में चले गए और ध्यान एवं समाधि के अभ्यास में उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनके २९ शिष्य थे और सभी वेदांगों के पंडित थे। पूर्ण ने अपने शिष्यों को गौतम बुद्ध के आविर्भाव तथा वाराणसी में उनके प्रथम धर्म-व्याख्यान की सूचना दे दी थी। वे तीसों ऋषि बौद्ध भिक्षु-संघ में सम्मिलित होने के लिए वाराणसी गए और बुद्ध ने उन्हें भिक्षु बनाया। पाली ग्रंथों में वर्णन है कि पूर्ण अञ्ञातकोण्डञ्ञ के भाजे थे, जिन्होंने उनको भगवान् बुद्ध के वाराणसी से प्रस्थान करने के कुछ ही समय बाद कपिलवस्तु में दीक्षा दी थी। पूर्ण की बुद्ध से भेंट पहले-पहल श्रावस्ती में हुई थी। उन्होंने अर्हत् पद प्राप्त किया। वे बड़े विद्वान् थे और उन्होंने सारिपुत्त सहित अनेक भिक्षुओं की शंकाओं का समाधान किया था। बुद्ध उन्हें धम्मकथिकों का प्रधान कहा करते थे।

नालक—कात्यायन-गोत्रीय तथा अवंती के राजा के कुलगुरु के द्वितीय पुत्र थे। उनके मामा ऋषि असित थे, जो विंध्य पर्वत में निवास करते थे। उन्होंने नालक के ज्येष्ठ भ्राता उत्तर को संपूर्ण शास्त्रों की शिक्षा दी, जिसके बाद वह अवंती में 'मर्कट' नामक स्थान में अध्यापक हो गया। नालक ने बहुत शीघ्र ही संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर लिया और वे विंध्य पर्वत में जाकर ऋषि असित के शिष्य हो गए। जब बुद्ध वाराणसी में प्रथम बार अपना उपदेश देने के बाद वहीं ठहरे हुए थे उस समय ऋषि असित की आज्ञा से नालक वहाँ गए और धर्मसंघ में सम्मिलित होने के लिए बुद्ध से प्रार्थना की, जिन्होंने सहर्ष उनकी इच्छा पूर्ण की।

उपर्युक्त कथा का वर्णन सुत्तनिपात के नालकसुत्त में किया गया है और बताया गया है कि नालकसुत्त का उपदेश धम्मचक्कपवत्तनसुत्त के सात दिनों के बाद किया गया था। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पाली अनुश्रुति में नालक और महाकात्यायन को एक ही नहीं कहा गया है, जैसा कि महावस्तु में।

सभिय––दक्षिण देश की एक विख्यात तार्किक महिला के पुत्र थे। उन्हें संपूर्ण कलाओं और शास्त्रों, विशेषतः तर्कशास्त्र की तथा परिव्राजक-वाङ्मय, की शिक्षा दी गई थी। जब वे षोडश जनपदों में परिव्राजक के रूप में भ्रमण कर रहे थे उस समय वे वाराणसी भी गए थे और उन्होंने बुद्ध से शास्त्रार्थ किया था। बुद्ध के द्वारा दिए गए अपने प्रश्नों के उत्तरों से वे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने धर्मसंघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की, जिसे बुद्ध ने तत्काल पूर्ण किया। उक्त कथा का वर्णन पाली ग्रंथों (सुत्तनिपात) में भी हुआ है परंतु वहाँ सभिय और बुद्ध की भेंट वेलुवन में बताई गई है।

यश––जब बुद्ध ऋषिपत्तन में ठहरे हुए थे उन दिनों वाराणसी नगर में यश अथवा यशोद नामक एक बड़ा धनाढ्य श्रेष्ठि-पुत्र निवास करता था। उसके तीन प्रासाद थे, जो अलग-अलग वर्ष की तीनों ऋतुओं में सुखद निवास के योग्य बनाए गए थे। वह सदा नर्तकियों और गायिकाओं से घिरा हुआ भोग-विलास में डूबा रहता था। एक दिन अर्द्ध रात्रि में उसकी निद्रा खुली तो उसने नर्तकियों को विकृत मुद्राओं में सोते हुए पाया, जैसे कि राजकुमार सिद्धार्थ ने अपनी प्रव्रज्या की रात्रि में अपने प्रासाद की नर्तकियों को पाया था। इसके बाद यश अपने प्रासाद से बाहर निकल गया और नदी-तट पर जाकर खुले मैदान में उच्च स्वर से यह कहता हुआ घूमने लगा कि 'मै दुःखी हूँ, मै विपन्न हूँ' (उप्पदुतं वो उप्पसट्ठं वो)। बुद्ध ने, जो उस समय वरुणा नदी के तट पर बैठे हुए थे, उसकी वह आर्त वाणी सुन ली। उन्होंने समझ लिया कि यश ने पूर्व जन्मों में इतने पुण्य अर्जित कर लिए हैं कि उसे इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त होगी। उन्होंने उसे निकट बुलाया और पहले उसको दान-धर्म और नियमों के पालन का तथा दिव्य जीवन प्राप्त करने के उपायों, एवं सांसारिक भोगों को भोगने के कुपरिणामों का उपदेश किया (दानकथं सीलकथं सग्गकथं कामानं आदीनवं संकिलेसं)। जब उन्होंने देखा कि उनके उपदेश का अनुकूल प्रभाव पड़ा और उसका मन कुछ शांत हुआ जिससे वह उच्चतर आध्यात्मिक उपदेशों को ग्रहण करने की स्थिति में हो गया, तब उन्होंने उसे धर्म के चतुस्सूत्रों तथा द्वादश कारण-परंपरा का रहस्य बतलाया। इससे तत्काल यश की अंतर्दृष्टि निर्मल हो गई और उसे दिव्य शक्तियों के साथ-साथ पूर्ण मुक्ति भी मिल गई।

यश के माता-पिता अपने पुत्र को प्रासाद में न पाकर उसकी खोज में निकले और उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ वरुणा-तट पर भगवान् बुद्ध विराजमान थे। उन्होंने बुद्ध से अपने पुत्र के विषय में पूछा तो पहले उन्होंने अपनी दिव्य शक्ति से यश को अदृश्य

कर दिया और उसके माता-पिता को दान, धर्म एवं नियमों के पालन का उपदेश किया। जब उनका मन शांत हुआ तब उन्होंने रहस्यमय आवरण को दूर कर दिया जिससे श्रेष्ठि-दंपति ने अपने पुत्र को वहाँ बैठे हुए देखा। अपने प्रिय पुत्र को पाकर वे बड़े प्रसन्न हुए, परंतु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए समुद्यत है तो वे दुःखी हो गए। परंतु फिर जब उन्हें विदित हुआ कि उसे दिव्य आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो गई है तो उन्होंने अपने सौभाग्य, अथवा अपने प्रिय पुत्र से वियुक्त होने के दुर्भाग्य को माथे चढ़ाया। उसके बाद वे बुद्ध के अनुयायी हो गए।

यह सुनकर कि यश बुद्ध का शिष्य बनकर भिक्षु हो गया है, उसके चार मित्र विमल, सुबाहु, पूर्ण (पुण्णजी) और गवांपति, जो सभी श्रेष्ठि-कुलों के थे, पचास अन्य व्यक्तियों के साथ भिक्षु हो गए। इन चारों में से गवांपति बहुत प्रसिद्ध हुए। उन्हें दिव्य शक्तियाँ (ऋद्धियाँ) प्राप्त हुईं; अंत में अर्हत् पद भी प्राप्त हो गया। वे साकेत में अंजनवन में रहते थे। सहजाति (चेदि देश) में उन्होंने चतुस्सूत्र धर्म का उपदेश दिया जो उनके कथनानुसार उन्हें साक्षात् बुद्ध भगवान् से प्राप्त हुआ था। प्रथम धर्म-परिषद् (संगीति) के अधिवेशन के समय वे बहुत वृद्ध हो गए थे, अतः उन्होंने उस अधिवेशन की कार्यवाहियों में कोई भाग नहीं लिया। उनके पूरण नाम के एक घनिष्ठ मित्र थे, जो उपर्युक्त पूर्ण या पुण्ण हो सकते हैं। सर्वास्तिवाद की अनुश्रुति है कि परिषद् के अधिवेशन के समय गवांपति बहुत अस्वस्थ थे। उसके बाद शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गई और पुण्ण ने उनकी अंत्य क्रिया की।[१]

बुद्ध के शिष्यों की संख्या अब ५९ तक पहुँच चुकी थी। वे सब शिष्य मानवीय अथवा दैवी सभी बंधनों से मुक्त थे। बुद्ध ने उनके पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेने के कारण उनकी प्रशंसा की और उनसे इस प्रकार कहा—"भिक्षुओ, तुम भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाकर भ्रमण करो। तुममें से कोई दो एक साथ मत जाना। 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' तथा देवों और मनुष्यों के कल्याण के लिए तुम भ्रमण करो और सत्य धर्म का उपदेश करो जिसका आदि, मध्य और अंत सभी कल्याणमय है, तथा लोगों को शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन की शिक्षा दो।" बुद्ध का विश्वास था कि संसार में ऐसे लोग भी हैं जिनका आध्यात्मिक विकास हो चुका है परंतु जिन्हें सिद्धि प्राप्त करने के लिए कुछ और उपदेश देने की आवश्यकता है। विशेषतः ऐसे ही लोगों के लिए उन्होंने भिक्षु-

१. रॉकहिल, लाइफ ऑव बुद्ध, पृ० १४९।

संघ का निर्माण किया। शिष्यों को धर्म-प्रचार के लिए भेजकर अपने लिए उन्होंने कहा कि मैं सत्य का उपदेश करने के लिए गयाशीर्ष गिरि पर जा रहा हूँ।[१]

गयाशीर्ष के मार्ग में उन्हें तीस प्रतिष्ठित कुलों के युवक वन में अपनी पत्नियों के साथ विहार करते हुए मिले। एक युवक की संगिनी एक वारवनिता थी जो उस मित्र-मंडली की कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर चंपत हो गई। उस स्त्री को खोजते हुए वे बुद्ध के पास पहुँचे और उनसे उसके विषय में पूछा। भगवान् ने उन्हें उपदेश दिया कि 'तुम उस स्त्री को न खोजकर अपने आत्मा को खोजो।' इस उपदेश से उन युवकों के मन परिवर्तित हो गए और वे बुद्ध के शिष्य हो गए।

इसके पश्चात् बुद्ध गयाशीर्ष पहुँचे और उन्होंने वहाँ के श्रेष्ठ ऋषियों को, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों को, बौद्ध धर्मानुयायी बनाने का प्रयत्न किया।

काश्यप--पहले बुद्ध जटिल काश्यपों की यज्ञशाला में गए और आश्रम में रहने की अनुमति माँगी। परंतु जटिलों ने स्थान का अभाव बताकर यज्ञकुंड के निकट के स्थान की ओर संकेत करके उनसे कहा कि रहने के लिए केवल यही स्थान यहाँ मिल सकता है, परंतु वहाँ एक विषधर नाग रहता है। बुद्ध ने उस स्थान को स्वीकार कर लिया और सारी रात वहाँ उन्होंने ध्यान में बैठे-बैठे बिता दी। उस नाग के मुँह से निकली हुई विषैली वायु उनके चारों ओर फैल गई, परंतु जब उसने फिर भी उन्हें शांत, गंभीर और अचल पाया तो नतफण होकर उनकी पूजा की। काश्यपों को, रात्रि-विश्राम के लिए उस स्थान को स्वीकार करने के कारण, बुद्ध के दुर्भाग्य पर दया आ रही थी, परंतु प्रातःकाल यह देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही कि बुद्ध न केवल जीते-जागते और प्रसन्न हैं, अपितु नाग को वे अपने भिक्षापात्र में लिए हुए हैं। अपनी कुछ अन्य अलौकिक शक्तियाँ उन्हें दिखलाकर बुद्ध ने उन काश्यपों को अभिभूत कर लिया और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उन्होंने उन्हें अग्नि के विषय में (आदित्त परियाय सुत्त) उपदेश दिया, जिसमें उन्हें बतलाया कि वास्तविक अग्नि तो राग, द्वेष और मोह में रहती है जो इंद्रियों और इंद्रियार्थों के संयोग से उत्पन्न संस्कारों से उत्पन्न होती है। यही अग्नि हमारे जन्म, जरा एवं मरण के दुःखों का कारण है। इस अग्नि से अपनी रक्षा करने का केवल एक ही उपाय है, वह यह कि मनुष्य इंद्रियों और उनके विषयों की उपेक्षा करके उनके द्वारा उत्पन्न संस्कारों से अपने को अप्रभावित रखे। इस प्रकार की निस्संगता, तटस्थता एवं समभाव के द्वारा ही मनुष्य अपने मन को

१. विनय० १, पृ० २१।

वासनारहित करके वह अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सकता है जिनसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[१]

इस व्याख्यान को श्रवण कर वास्तविक अग्नि का रहस्य उरुविल्व काश्यप की समझ में आ गया और उन्होंने यज्ञाग्नि की शक्ति में अपना विश्वास त्याग दिया। उन्होंने बुद्ध के व्याख्यान की बड़ी प्रशंसा की और ज्ञान तथा दिव्य शक्तियों में बुद्ध से अपने को न्यून मानकर उनकी महत्ता स्वीकार की। वे उनके शिष्य हो गये और अपने वस्त्रों और यज्ञपात्रों को उन्होंने नदी की धारा में फेंक दिया। उनके दो भाई 'नदी काश्यप' और 'गया काश्यप', जो नदी के उतार की ओर रहते थे, अपने ज्येष्ठ भ्राता के वस्त्रादि को नदी में बहते देखकर डर गए और तुरंत उनके पास गए। परंतु अपने भ्राता को बौद्ध भिक्षुओं का वस्त्र पहने हुए देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भी आदित्तपरियाय सुत्त का श्रवण किया और अपने भ्राता की भाँति बुद्ध की शिष्यता स्वीकार की।

तब भगवान् अपने इन नए जटिल शिष्यों तथा अन्य शिष्यों को साथ लेकर राजा बिंबिसार के यष्टिवन (लट्ठि वन) में गए, जहाँ राजा ने उनका बड़े आदर से स्वागत किया। राजा उन जटिल तपस्वियों के बड़े भक्त थे और जब उन्होंने उन्हें बुद्ध के शिष्यों के साथ बैठे हुए देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे यह निश्चय न कर सके कि उस ऋषि-मंडली के नेता बुद्ध हैं अथवा वे जटिल ऋषि। राजा के संदेह को दूर करने के लिए जटिल काश्यप ने घोषित किया कि 'मैंने यह अनुभव कर लिया कि कामनाओं का अंत करने तथा पुनर्जन्मों के चक्र को रोकने में मेरी अग्नि-पूजा और शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्या का कोई फल नहीं है, अतः मैं निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा से बुद्ध का शिष्य हो गया हूँ। बुद्ध के अनुरोध करने पर जटिल ऋषि ने सभा के सम्मुख अपने द्वारा प्राप्त की हुई दिव्य शक्तियाँ प्रदर्शित कीं और अपनी सिद्धियों के द्वारा बुद्ध के ज्ञान और शक्ति की अद्वितीयता का लोगों को विश्वास करा दिया।

राजा बिंबिसार—जब लोगों का मन शांत, स्वस्थ और श्रद्धायुक्त हो गया तब भगवान् बुद्ध ने उन्हें आत्मा एवं अहंकार के अनस्तित्व तथा सांसारिक पदार्थों की अनित्यता पर उपदेश दिया। उन्होंने किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व को असिद्ध कर दिया। उनका तर्क था कि ऐसा आत्मा—प्रभु और ईश्वर—क्यों अपने को सांसारिक

१. विनय० १, पृ० ३४-३५।

दुःखों में डालेगा ? जन्म-मरण के कारणरूप तथा मुक्ति के मार्ग में बाधक अहंकार की भावना के परित्याग की आवश्यकता का प्रश्न ही क्यों उपस्थित हो ?

अतएव न कोई कर्ता है, न कोई ज्ञाता, न कोई प्रभु, न कोई आत्मा। उन्होंने समझाया कि इंद्रियों तथा उनके इंद्रियार्थों के संपर्क से संस्कारों की उत्पत्ति होती है। ये संस्कार तृष्णा-बीज के जनक हैं। इस तृष्णा-बीज से जो अंकुर उत्पन्न होता है वह स्वयं न वह बीज है, न उस बीज से भिन्न ही है। यही सत्य है। राजा उनके इस व्याख्यान को सुनकर बहुत आनंदित हुआ और उसे सत्य का साक्षात्कार हो गया।

इसके अनंतर राजा ने बुद्ध से अपने वेलुवन में निवास करने की प्रार्थना की और बुद्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। यहाँ उन्होंने अपने धर्म-सिद्धांतों का उपदेश देकर तथा अपने शिष्यों को प्रशिक्षित करके इस पृथ्वी पर अपना संघ स्थापित करने का निश्चय किया।

इसके कुछ समय बाद तक भगवान् बुद्ध वेलुवन में रहे और वहाँ अपने और शिष्य बनाए, जिनमें सारिपुत्त तथा मौग्गलायन सबसे विशिष्ट थे। ये दोनों पहले संजय वेलट्ठिपुत्त के शिष्य थे।

सारिपुत्र—इनके बौद्ध धर्म-संघ में सम्मिलित होने की कथा इस प्रकार है—एक दिन बुद्ध के दो शिष्य अश्वजित् (अस्सजि) और वास्प (वप्प) भिक्षाटन करते हुए राजगृह नगर में पहुँचे। वे जितेंद्रिय थे और उनका मन शांत था। सारिपुत्त, जो उपतिष्य नाम से प्रसिद्ध थे, उनकी उदात्त एवं गंभीर मुद्रा तथा शांत व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गए। सारिपुत्त ब्राह्मण-कुलोत्पन्न थे। उनके माता-पिता तर्कशास्त्र के पंडित थे और वे स्वयं एक विशिष्ट विद्वान् थे। सारिपुत्त ने अश्वजित् से उनके गुरु का नाम और परिचय पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—'मेरे गुरु इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न महात्मा बुद्ध हैं जो सर्वज्ञ तथा देवों और मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ हैं।' जब सारिपुत्त ने उनके गुरु के उपदेशों के विषय में पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैंने अभी-अभी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की है और उसके सिद्धांत इतने सूक्ष्म एवं गंभीर हैं कि मैं अभी उन्हें पूर्ण रूप से अधिगत नहीं कर सका हूँ। मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ कि एक श्लोक उद्धृत कर दूँ जिसमें भगवान् के उपदेशों का सार सन्निविष्ट है।' तत्पश्चात् उन्होंने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

"ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः॥"

[जो पदार्थ हेतु से उत्पन्न है उनका हेतु तथागत ने बतला दिया है। उनका निरोध (जिस प्रकार किया जा सकता है वही) महाश्रमण का सिद्धांत है।]

सारिपुत्त ने, जिनका पहले ही पर्याप्त आध्यात्मिक उत्थान हो चुका था, उक्त श्लोक के वास्तविक तात्पर्य को अवगत कर लिया और उसके तर्क और युक्ति की प्रशंसा की। उनके हृदय में तत्काल यह विश्वास हो गया कि ईश्वर तथा आत्मा सत्ताहीन हैं और संसार के समस्त पदार्थ कारण से उत्पन्न हुए हैं। संसार के जो पदार्थ दुःख के कारण है, नित्य सुख को प्राप्त करने के लिए उनके बीज को ही नष्ट कर देना चाहिए।

मौद्गलायन—सारिपुत्त के एक मित्र थे जिनका नाम था मौद्गलायन। आध्यात्मिक साधना में वे भी सारिपुत्त के समान ही थे। एक दिन दोनों मित्र अलग-अलग एक गुरु की खोज में निकले जो उन्हें सत्य का दर्शन करा सके। दोनों ने एक-दूसरे से प्रतिज्ञा की कि जिसको पहले सत्य का दर्शन हो जाय वह तुरंत दूसरे को उस सत्य और उसके द्रष्टा एवं प्रतिपादक का पता देगा। अतः सारिपुत्त मौद्गलायन के घर गए और जो कुछ हुआ था उसकी सूचना उन्हें दी। मौद्गलायन ने भी सत्य के तत्त्व को अवगत कर लिया और उन्हें ज्ञान-दृष्टि प्राप्त हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्हें जो इतने शीघ्र सत्य का साक्षात्कार हो गया उसका कारण उनके पूर्वजन्मों का सचित पुण्य था, जिससे उनका ज्ञान परिपक्व हो गया और उनके दोषों का क्षय हो गया।

इसके बाद उन दोनों मित्रों ने अपने पुराने गुरु संजय को छोड़ दिया और वे बुद्ध के भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गए। संजय के अन्य ढाई सौ शिष्यों ने भी उन दोनों का अनुसरण किया। बुद्ध ने दूर से उन्हें आते हुए देखकर ब्रह्मा के स्वर में कहा—'ये दोनों मित्र, जो मेरे पास आ रहे हैं, मेरे प्रधान शिष्य होंगे।' और जब वे उनके निकट आये तो बुद्ध ने उनका स्वागत किया। तुरंत ही उन दोनों ने अपने वस्त्र, त्रिशूल, कमंडलु और जटा को त्याग दिया और मुंडित एवं पीतवस्त्रधारी भिक्षु हो गए। उन दोनों को अर्हत् पद प्राप्त हो गया। उसके बाद ढाई सौ अन्य साथियों सहित दोनों ने भक्तिपूर्वक बुद्ध को प्रणाम किया और वे भिक्षु-संघ के एक पार्श्व में बैठ गए।

महाकाश्यप—इस घटना के कुछ ही काल के अनंतर, जब बुद्ध राजगृह और नालंदा के बीच बहुपुत्रक चैत्य में ठहरे हुए थे, तब वहाँ काश्यप अग्निदत्त (पाली—पिप्फलिमाणव) नाम के एक ब्राह्मण ऋषि आए, जो पहले राजगृह के एक बड़े संपन्न गृहस्थ थे और जिनकी पत्नी अत्यंत सुंदरी थी। वे अपना सर्वस्व त्याग कर अपनी स्त्री भद्रा कापिलेया (पाली—भद्दा कपिलानी) सहित संन्यासी हो गए थे। युवावस्था में काश्यप की विवाह करने की इच्छा नहीं थी, परंतु अपने माता-पिता के आग्रह पर उन्होंने इस शर्त

पर विवाह करना स्वीकार कर लिया था कि कन्या ऐसी मिले जो उनके द्वारा उनकी रुचि के अनुसार बनवाई गई एक सुंदर स्वर्ण-मूर्ति के समान हो। खोजते-खोजते सागल में एक धनाढ्य ब्राह्मण कन्या उस मूर्ति के समान आकृतिवाली मिल गई। उसकी भी प्रवृत्ति संसार की ओर नहीं थी। उनका विवाह संपन्न हो गया, परंतु पति पत्नी दोनों ने यह समझौता कर लिया कि एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करेंगे। जब काश्यप के माता-पिता का देहांत हो गया तब वे दोनों संसार से निवृत्त हो गए और दोनों ने दो भिन्न मार्ग पकड़े। ब्राह्मण मुनि होने के कारण काश्यप का मन शरीर और आत्मा की एकता और दोनों के भेद के विषय में अत्यंत संशयग्रस्त हो रहा था। उधर उनकी पत्नी एक नास्तिक-संघ में सम्मिलित हो गई। काश्यप एक ऐसे गुरु की खोज में थे जो उनके संदेहों का निवारण कर सके। वे शाक्य मुनि की शांत एवं गंभीर आकृति से बहुत प्रभावित हुए और बड़ी श्रद्धा के साथ उनके निकट गए। उन्होंने अपने संदेहों के निवारणार्थ उनसे सहायता की प्रार्थना की। बुद्ध ने भी उन्हें सर्वथा योग्य तथा उन सब गुणों से संपन्न पाया जो उनके सच्चे शिष्य बनने के लिए आवश्यक थे। बुद्ध ने उनका स्वागत किया और 'सम्यक् प्रहाण' का चतुःसूत्री उपदेश दिया जिसके ये चार अंग हैं—(१) वर्त्तमान पापों को नष्ट करना, (२) भविष्य में उनकी वृद्धि न होने देना, (३) वर्त्तमान पुण्यों की रक्षा करना और (४) जहाँ तक हो सके उनकी वृद्धि करना। इसके अतिरिक्त उन्होंने विनय के नियमों के पालन के महत्त्व तथा इंद्रियों और इंद्रियगत अनुभवों के नियंत्रण पर, सांसारिक पदार्थों के गुणों के ग्रहण न करने पर तथा अंत में चार सत्यों पर अपने व्याख्यान दिए। काश्यप ने शरीर और आत्मा के संबंध में अपने पुराने विश्वासों को त्याग दिया और उन्हें विश्वास हो गया कि मानव-जीवन के दुःखों का अंत विनय के नियमों के समुचित पालन द्वारा किया जा सकता है। इसके साथ ही उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि विनय के नियमों के अभ्यास को दुःखों के निवारण का हेतु नही मानना चाहिए। उन्होंने दस 'कुशलों'[1] और दस 'अकुशलों' की शिक्षा के महत्त्व को समझा। वे तीन दोषों (आस्रवों[2]) तथा राग, द्वेष एवं मोह से मुक्त हो गए और उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ। उन्हें 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्षा' (उपेक्खा) रूप ब्रह्म-विहार भी प्राप्त हुए और उन्होंने अरूप ब्रह्मलोक में जन्म पाने

१. दस कुशल ये हैं—हिंसा, चोरी, बुरे आचरण, असत्य, कठोर वचन, परनिंदा, असंगत भाषण, लोभ, द्वेष और कुविचारों से बचना।

२. काम, भव, अविद्या।

की कामना नहीं की, जिसके कि वे अधिकारी थे। पाली अनुश्रुति में बुद्ध के महाकाश्यप से वस्त्र-परिवर्तन को बहुत महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि एक दिन बुद्ध एक वृक्ष के नीचे कठोर धरती पर बैठने जा रहे थे उस समय महाकाश्यप ने अपने कोमल सूती वस्त्र को चौपर्त कर उसे बुद्ध के बैठने के लिए गद्दी की तरह धरती पर बिछा दिया। बुद्ध को उसका कोमल स्पर्श अच्छा लगा और काश्यप की प्रार्थना पर वे अपने खुरदुरे साण वस्त्र को काश्यप के सूती वस्त्र से बदलने को तैयार हो गए। बुद्ध ने उन्हें भिक्षुओं (धूतवादों) में श्रेष्ठ कहकर उनकी प्रशंसा की। काश्यप की पत्नी भद्दा कपिलानी भी राजगृह आई और नास्तिकों के एक आश्रम में ठहरी। वह बौद्ध-संघ में प्रवेश नहीं पा सकी, क्योंकि उस समय बुद्ध ने भिक्षुणियों के संघ-निर्माण की स्वीकृति नहीं दी थी। उनके स्वीकृति देने के कुछ समय बाद वह महाप्रजापति गौतमी के द्वारा भिक्षुणी बनाई गई और यथासमय उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ। बुद्ध ने उसे उन भिक्षुणियों में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की थी, जिन्हें अपने पूर्व जन्म की बातें स्मरण थी।

बुद्ध का कपिलवस्तु में आगमन

जब बुद्ध राजगृह में ठहरे हुए थे उस समय राजा शुद्धोदन ने अपने प्रधान पुरोहित के पुत्र उदायी को, जिसका जन्म राजकुमार सिद्धार्थ के ही जन्म के दिन हुआ था, छंदक और अन्य राजपुरुषों के साथ बुद्ध के पास उन्हें कपिलवस्तु में बुलाने के लिए भेजा। कालुदायी और उसके साथी बुद्ध के पास गए और उनके उपदेशों को सुनकर उनके मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। उचित अभ्यास के द्वारा यथासमय उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ। उन्होंने बुद्ध को राजा की इच्छा से अवगत कराया। बुद्ध ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और साठ दिन में १८० मील पैदल चल कर वे राजगृह से कपिलवस्तु गए और वहाँ से अनतिदूर न्यग्रोध की पहाड़ी पर ठहरे। बुद्ध के संघ का यह दूसरा वर्ष था।

राजा राजकुमार (अब संन्यासी) का यथोचित स्वागत करने के लिए अपने बहुत से परिचरों को साथ लेकर न्यग्रोध पहाड़ी की ओर चले। जब वे पहाड़ी के निकट पहुँचे तो चिर वियोग के बाद अपने प्रिय पुत्र को देखने की आशा में उनका हृदय आनंद से उछलने लगा, और जब उन्होंने सिर के चारों ओर प्रभामंडल से युक्त बुद्ध को पीत-वस्त्रधारी भिक्षुओं के बीच बैठे हुए देखा तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु अपने पुत्र की शांत और गंभीर मुद्रा को देखकर उनका सारा आनंद फीका पड़ गया। बुद्ध, पिता

बिसूरने लगी कि एक राजकुमार, जिसे सुसज्जित राजरथ पर सुंदर बहुमूल्य छत्र के नीचे चलना चाहिए था, आज हाथ में भिक्षापात्र लिये तपती धूप में धूलभरी सड़कों पर नंगे पाँवों पैदल जा रहा है। सबसे अधिक दुःख राहुल की माता यशोधरा को हुआ, जिसे अपने राजकुमार पति का द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगना बहुत बुरा लगा। वह दौड़ी हुई अपने श्वसुर राजा शुद्धोदन के पास गई और उनसे राजकुमार को इस कार्य से विरत करने की प्रार्थना की। राजा ने बहुत प्रयत्न किया कि महाश्रमण भिक्षा माँगना छोड़ दें। परंतु वे दाता के संबंध में उसके धनी वा दरिद्र अथवा उच्च वा नीच होने का कोई विचार किए बिना, जो कुछ उससे प्राप्त हो जाय उसी से जीवन-निर्वाह करने के अपने दृढ़ निश्चय पर अटल रहे।

भगवान् ने धर्म के अनेक उपदेश दिए, जिससे राजा शुद्धोदन रानी महाप्रजापति सहित उनके परम भक्त हो गए।

यशोधरा—जब सभी शाक्य पुरुष और स्त्रियाँ बुद्ध के प्रति अपना आदर प्रदर्शित कर रही थीं उस समय यशोधरा अपने प्रकोष्ठ के बाहर नहीं निकली। बुद्ध स्वयं अपने दो मुख्य शिष्यों के साथ उसके पास गये और उन्हें राजा शुद्धोदन से ज्ञात हुआ कि जब से उन्होंने (बुद्ध ने) गृह त्याग किया तभी से वह केवल एक पीत वस्त्र धारण कर तथा दिन में केवल एक बार आहार ग्रहण कर कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत कर रही थी। बुद्ध ने इसपर उसकी प्रशंसा करते हुए उसके पूर्व जन्म की एक कथा सुनाई जिससे प्रकट होता था कि पूर्व जन्म में भी वह बोधिसत्त्व से कितना अधिक प्रेम करती थी। जब बुद्ध उसके प्रकोष्ठ से बाहर आए तो उसने राहुल को अपने पिता के साथ जाकर उनसे अपना पैतृक दाय माँगने की आज्ञा दी। राहुल अपने पिता के पीछे-पीछे उनके आश्रम तक गया और वहाँ बुद्ध के आदेश से सारिपुत्त ने उसे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद जब महाप्रजापति ने भिक्षुणी-संघ की स्थापना की तब यशोधरा भी भिक्षुणी हो गई और उसे छः उच्च शक्तियाँ (अभिज्ञा) प्राप्त हुईं।

बुद्ध के प्रति राजा शुद्धोदन की निष्ठा देखकर सभी शाक्य उनके प्रति श्रद्धावान् हो गये और विशिष्ट शाक्य-कुलों के कुछ युवकों ने बुद्ध का शिष्य होने और भिक्षु-संघ में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। उनमें आनंद, अनुरुद्ध, भद्दिय, कंबिल, नंद और देवदत्त भी थे। राजपुरोहित का पुत्र उदायी तो पहले ही भिक्षु और अर्हत् हो चुका था, छंदक और उपालि ने भी शाक्य राजकुमारों का अनुसरण किया और वे भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गए। बुद्ध ने अनुपिय वन में स्वयं उन सबको दीक्षित किया। राजकुमार सिद्धार्थ का एक मात्र पुत्र राहुल भी श्रमण बना लिया गया।

आनंद—आनंद राजा शुद्धोदन के भाई अमितोदन का पुत्र था। वह पुण्ण मंतानी-पुत्त के उपदेश श्रवण कर स्रोतापन्न हुआ था। भिक्षु-संघ की स्थापना के बीसवें वर्ष बुद्ध ने उसे अपना सेवक बना लिया और वह पचीस वर्ष तक उनकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए उनकी सेवा में तत्पर रहा। आनंद के पहले उपवान उनकी सेवा किया करता था।

अनुरुद्ध—अनुरुद्ध शुद्धोदन के दूसरे भाई द्रोणोदन का पुत्र था। उसे बहुत शीघ्र दिव्य चक्षु प्राप्त हो गए थे। सारिपुत्त ने उसे ध्यानयोग की शिक्षा दी थी और बुद्ध की सहायता से उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ था। वह प्रायः निरंतर बुद्ध के साथ रहा। बुद्ध उसे दिव्य चक्षु प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ मानकर उसकी प्रशंसा करते थे।

भद्दिय—भद्दिय एक प्राचीन अभिजात शाक्य कुल में उत्पन्न हुआ था और अनुरुद्ध का परम मित्र था। अनुरुद्ध की माता उसे भिक्षु-संघ में सम्मिलित नहीं होने देना चाहती थी, तब भद्दिय के ही यह प्रतिज्ञा करने पर कि वह अनुरुद्ध के साथ रहेगा, उसने अनुरुद्ध को अनुमति दी थी। भद्दिय ने दीक्षित होने के कुछ ही मास के अनंतर अर्हत् पद प्राप्त किया था।

नंद—नंद राजा शुद्धोदन और रानी महाप्रजापति का पुत्र था। कपिलवस्तु में बुद्ध के अभ्यागमन के तीसरे ही दिन उसके राज्याभिषेक और विवाह की तिथि नियत थी। बुद्ध उसके घर भिक्षा माँगने गए, परंतु जब राजकुमार नंद ने उनका भिक्षा-पात्र भर दिया तो उन्होंने उसे अपने हाथ में नहीं लिया। उनके प्रति श्रद्धाशील होने के कारण राजकुमार ने भी उनसे उसे ले जाने को नहीं कहा। अतः उस भिक्षापात्र को लेकर नंद को उनके साथ विहार तक जाना पड़ा, जहाँ बुद्ध ने उसे गृह त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करने का का उपदेश दिया। राजकुमार नंद का मन अपनी भावी पत्नी जनपद-कल्याणी में बसा हुआ था, इस कारण वह भिक्षु होना नहीं चाहता था। उसका मन परिवर्तित करने तथा सांसारिक जीवन की अस्थिरता को सिद्ध करने के लिए बुद्ध ने कुछ अप्सराएँ उत्पन्न कीं, जिनकी सुंदरता जनपदकल्याणी से कहीं बढ़कर थी। उनमें से एक इस शर्त पर नंद को देने को कहा कि वह भिक्षु बन जाय और उनके उपदेशों के अनुसार अभ्यास और आचरण करे। राजकुमार नंद सहमत हो गया और कुछ ही समय में कठिन परिश्रम के द्वारा उसने अपनी गृह-जीवन की दुर्बलताओं से मुक्त होकर अर्हत् पद प्राप्त किया।

देवदत्त—देवदत्त शाक्य सुप्पबुद्ध (बुद्ध के मामा) का पुत्र और यशोधरा का भाई था। दीक्षित होने के कुछ ही समय के बाद उसने कुछ अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर लीं,

जिनके द्वारा वह अजातशत्रु का समर्थन प्राप्त करने में समर्थ हुआ। बुद्ध के संघ के सैंतीसवें वर्ष उसे बुद्ध के सुयश से द्वेष हो गया और वह उनका शत्रु हो गया (देखिए आगे पृ० ८८-९०)।

उपालि—उपालि, जो विनय के नियमों का मानो आश्रय-स्थान था और बुद्ध के प्रधान शिष्यों में से अन्यतम था, कपिलवस्तु के एक नाई परिवार में उत्पन्न हुआ था। वह शाक्य युवकों के साथ अनुपिय वन गया था और उनकी दीक्षा के समय उनके त्यागे हुए सब आभूषण उसे प्राप्त हुए थे। उसे लेने से उसका मन हिचका और उसने भिक्षु बनने का निश्चय कर लिया। बुद्ध ने शाक्य राजकुमारों की कुलीनता का अभिमान तोड़ने के लिए उस नाई को सबसे पहले स्वयं दीक्षा दी, क्योंकि भिक्षु के रूप में उसके उन सबसे ज्येष्ठ होने के कारण उन्हें उसका अभिवादन करना पड़ा। विनय के पंडितों में श्रेष्ठ होने के कारण बुद्ध उसकी प्रशंसा करते थे। बुद्ध के जीवन-काल मे भी वह भिक्षुओं को विनय की शिक्षा देता था और विनय के नियमों एवं उनकी व्याख्या के संबंध में सर्वोपरि प्रमाण माना जाता था।

छंदक—छंदक राजकुमार सिद्धार्थ का परिचारक और सारथी था। जब बुद्ध का कपिलवस्तु में प्रथम बार अभ्यागम हुआ उस समय वह भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गया।

राहुल—राहुल जब सात वर्ष के बालक थे तभी श्रमण बना लिए गए थे। वे स्वयं बुद्ध की तथा उनके प्रधान शिष्यों की निरंतर देखरेख में रखे जाते थे। कहा जाता है कि एक बार इस नियम का पालन करने के लिए कि पूर्ण दीक्षित भिक्षुओं को श्रमणों के साथ एक ही कमरे में नहीं सोना चाहिए, राहुल ने एक रात बुद्ध के शौचालय के आँगन में सो कर बिताई थी। बुद्ध ने जब उन्हें प्रातःकाल वहाँ सोते पाया तो वे बहुत अप्रसन्न हुए और राहुल के शिक्षकों—सारिपुत्त और मोग्गलायन—को आदेश दिया कि वे श्रमण के जीवन की सामान्य आवश्यकताओं का ध्यान रखा करें।[१] भिक्षुओं द्वारा अपने प्रति पक्षपात किए जाने पर राहुल सदा उससे अपने को बचाते थे। अठारह वर्ष के होने पर उन्हें उच्चतर शिक्षा दी गई और कालांतर में उन्होंने अर्हत् पद प्राप्त किया।[२] साधकों में सर्वोत्तम कहकर बुद्ध उनकी प्रशंसा करते थे।

अनाथपिंडिक—कपिलवस्तु से प्रत्यागत होने पर जब बुद्ध राजगृह के सीमावर्ती

१. जातक, सं० १६।
२. मज्झिम निकाय, राहुलवाद सुत्त।

सीतावन चैत्य में ठहरे हुए थे उस समय सुदत्त नथी स्वर्णमुद्राएँ वन की भूमि के लिए
धनी श्रेष्ठि राजगृह आया और अपने मित्र, मगधम सुनकर उसे भी श्रद्धा हो गई और
वहाँ ज्ञात हुआ कि प्रसिद्ध महात्मा शाक्यमुनि सीद्ध को भेंट करने की हुई। तब बुद्ध
उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी, अतः वह उनके दर्शनों पंडिक ने जेतवन की भूमि का और
में बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ, जिन्होंने उसे उ का संकल्प किया। तब सारिपुत्त के
कहा कि तुमने अच्छा किया कि अपनी निद्रा कोके विशाल शालाओं का निर्माण किया,
सुनने के लिए आए। रीं। यह विहार लोक में बहुत प्रसिद्ध
सर्वत्र पीत-वस्त्रधारी भिक्षु दिखलाई

बुद्ध ने उससे कहा कि 'तुम्हारे संपूर्ण धन-वै
श्रद्धा और विश्वास का कारण तुम्हारे पूर्व जन्से श्रावस्ती गए तो नगर फूलों और
शील और त्याग-धर्म का उपदेश करूँगा जिससे मधुर कलरव से नगर की शोभा अत्यंत
उसमें दुःख का अभाव नहीं होगा। अतः यह जाए हुए राजप्रासाद-सा दिखाई पड़ता
स्थायी सत्ता नहीं है और वे केवल कुछ क्षणभसुगंध फैल रही थी। वह सब प्रकार से
तुम्हें उस अवस्था को प्राप्त करने में प्रवृत्त होनाा। बुद्ध के वहाँ पधारने पर अनाथ-
मृत्यु जनित दुःखों का सर्वथा अभाव है।' उन्हर बुद्ध और उनके चतुर्दिक्व्यापी संघ को
कीं कि सर्वशक्तिमान् एवं विश्व के स्रष्टा ईश्वरया।
यदि ऐसा कोई ईश्वर होता तो उसके द्वारा उत्पकर राजा प्रसेनजित् अपने परिजनों
पड़ता। भला कौन पिता चाहेगा कि उसकी संउन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करके कहा कि
है तो उसे अपनी सृष्टि-रचना का कार्य बंद न करमहात्मा के चरणों से मेरे राज्य की भूमि
को अपने-आप विकसित होने के लिए नहीं छोड़
द्वारा उत्पन्न किये हुए होते तो कर्मों और उनकेव और विषय-भोगों में रमता है, अतः
न होता। यदि सभी जीव उस ईश्वर से अभिन्नसत्कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ अथवा
उसी के कर्म हुए। यदि यह तर्क उपस्थित कि
कारण ईश्वर नहीं, प्रकृति के नियम (स्वभाव)**के कपिलवस्तु में प्रथम अभ्यागम तक**
क्योंकि जड़ कारण से चेतन कार्य (जीव) की उ**पाया जाता। उसके बाद, पाली ग्रंथों**
तर्क-विरुद्ध है कि कार्य अपने कारण से नितांत **टकर राजगृह आये, जहाँ अनाथपिंडिक**
'स्वभाव' से उत्पन्न हुए हैं तो उससे मुक्ति पाने **वस्ती जाने का निमंत्रण स्वीकार किया।**
सुख दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इसी प्रकार **डिक की भेंट उनके कपिलवस्तु जाने के**
की जा सकती है। आत्मा सृष्टि का कर्ता हो ना**वस्ती गये जहाँ उन्होंने तीसरा चौमासा**
की स्वतंत्र सत्ता तो है नहीं, उन्हें भी आत्मा से उ**दूसरी, तीसरी और चौथी वर्षाएँ (वस्सा)**
दुःख क्यों उत्पन्न करने लगा? दुःख और सुख

जिनके द्वारा वह अजातशत्रु का समर्थर के समस्त सत्तावान् पदार्थ बिना किसी कारण
सैंतीसवें वर्ष उसे बुद्ध के सुयश से द्वेष या अभाव से ही उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में, समस्त
आगे पृ० ८८-९०)। रण से उत्पन्न होते हैं।

उपालि—उपालि, जो विनय के f अनाथपिंडिक का हृदय नम्र और मृदुल हो गया।
प्रधान शिष्यों में से अन्यतम था, कपिलकी समझ में भली भांति आ गया। तब उसने
वह शाक्य युवकों के साथ अनुपिय वन सी हूँ, जो धन-धान्य से पूर्ण है और जहां लोग शांति-
हुए सब आभूषण उसे प्राप्त हुए थे। उका राजा सिंहवंशीय प्रसेनजित् बड़ा उदार और
बनने का निश्चय कर लिया। बुद्ध ने इन् के निमित्त वहां एक विहार का निर्माण कराऊँ।
तोड़ने के लिए उस नाई को सबसे पहलेए किसी निवासस्थान की आवश्यकता नहीं है,
उसके उन सबसे ज्येष्ठ होने के कारण वासियों के कल्याण के लिए भगवान् उसे स्वीकार
के पंडितों में श्रेष्ठ होने के कारण बुद्ध उ निर्दोष एवं निःस्वार्थ होने के कारण बुद्ध उससे
भी वह भिक्षुओं को विनय की शिक्षा देत होता है, अतः कृपण बनकर उसे संचित रखने
के संबंध में सर्वोपरि प्रमाण माना जाता ड़े रहने की अपेक्षा मनुष्य के लिए यही उत्तम है

छंदक—छंदक राजकुमार सिद्धार्थरुप सभी के प्रिय होते हैं और सभी श्रेष्ठ और
का कपिलवस्तु में प्रथम बार अभ्यागमते हैं। उसे कभी भय और पश्चात्ताप नहीं होता।
हो गया। ता। निश्चय ही इस जीवन के बाद वह देवलोक

राहुल—राहुल जब सात वर्ष के र क्रोध को त्यागकर मानसिक शांति का अनुभव
स्वयं बुद्ध की तथा उनके प्रधान शिष्यों ज्ञान प्राप्त करता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य
है कि एक बार इस नियम का पालन क हो जाने पर उससे छाया, फूल और फल प्राप्त
के साथ एक ही कमरे में नहीं सोना दान उसे आनंद, सौंदर्य, प्रचुर भोजन-वस्त्र तथा
आँगन में सो कर बिताई थी। बुद्ध ने दान का एक सर्वोत्तम प्रकार विहारों का निर्माण
अप्रसन्न हुए और राहुल के शिक्षकों—स।
वे श्रमण के जीवन की सामान्य आवश्में प्रस्तावित विहार के लिए एक उपयुक्त स्थल
अपने प्रति पक्षपात किए जाने पर राहुलअनाथपिंडिक एक सुंदर स्थल की खोज में निकला
के होने पर उन्हें उच्चतर शिक्षा दी गईगया। राजकुमार जेत को अपना वन बहुत प्रिय
किया।[२] साधकों में सर्वोत्तम कहकर कुता हूँ जब उसका क्रेता मूल्य में उसे स्वर्ण-मुद्राओं

अनाथपिंडिक—कपिलवस्तु से प्रप्रसन्न हुआ और गाड़ियों में स्वर्ण-मुद्राएँ भर-भर
ार जेत ने कहा 'मैं वस्तुतः इस भूमि को बेचना
मूल्य में उपस्थित किया गया। जब राजकुमार
उनके शिष्यों के लिए विहार बनवाने के प्रयोजन

१. जातक, सं० १६।
२. मज्झिम निकाय, राहुलवाद

से ली जा रही है तो उसने कहा कि 'मैं केवल आधी स्वर्णमुद्राएँ वन की भूमि के लिए लूँगा और वृक्ष मेरी ही संपत्ति रहेंगे।' बुद्ध का नाम सुनकर उसे भी श्रद्धा हो गई और उसकी इच्छा उन वृक्षों को अपनी ओर से बुद्ध को भेंट करने की हुई। तब बुद्ध और संघ के प्रतिनिधि सारिपुत्त को अनाथपिंडिक ने जेतवन की भूमि का और राजकुमार जेत ने उसके वृक्षों का दान करने का संकल्प किया। तब सारिपुत्त के अधीक्षण में स्थपतियों ने दिनरात परिश्रम करके विशाल शालाओं का निर्माण किया, जो सुंदरता में राजप्रासादों से भी बढ़कर थीं। यह विहार लोक में बहुत प्रसिद्ध हुआ और श्रावस्ती के पथों और वीथियों में सर्वत्र पीत-वस्त्रधारी भिक्षु दिखलाई पड़ने लगे।'

राजा प्रसेनजित्—बुद्ध जब कपिलवस्तु से श्रावस्ती गए तो नगर फूलों और फौव्वारों से सजाया गया और सुंदर पक्षियों के मधुर कलरव से नगर की शोभा अत्यंत आकर्षक हो गई। जेतवन विहार एक खूब सजाए हुए राजप्रासाद-सा दिखाई पड़ता था और उसमें चारों ओर पुष्पों तथा धूप की सुगंध फैल रही थी। वह सब प्रकार से भगवान् बुद्ध के निवास के योग्य बनाया गया था। बुद्ध के वहाँ पधारने पर अनाथ-पिंडिक ने एक सर्पाकृति स्वर्णपात्र से जल ढार कर बुद्ध और उनके चतुर्दिक्व्यापी संघ को भूमिसहित उस जेतवन विहार का दान कर दिया।

नगर में बुद्ध के आगमन का समाचार पाकर राजा प्रसेनजित् अपने परिजनों और परिचरों सहित तुरंत विहार में गए और उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करके कहा कि 'यह मेरा परम सौभाग्य है कि भगवान् बुद्ध जैसे महात्मा के चरणों से मेरे राज्य की भूमि पवित्र हुई।'

बुद्ध ने लक्ष्य किया कि राजा का मन वैभव और विषय-भोगों में रमता है, अतः उन्होंने उन राजाओं की चर्चा की जिन्हें अपने सत्कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ अथवा

१. बुद्ध के विभिन्न जीवन-चरितों में उनके कपिलवस्तु में प्रथम अभ्यागम तक की घटनाओं के कालक्रम में विशेष अंतर नहीं पाया जाता। उसके बाद, पाली ग्रंथों में यह लिखा मिलता है कि बुद्ध कपिलवस्तु से लौट कर राजगृह आये, जहाँ अनाथपिंडिक से उनकी पहली भेंट हुई और उन्होंने उसका श्रावस्ती जाने का निमंत्रण स्वीकार किया। परंतु संस्कृत ग्रंथों के अनुसार बुद्ध से अनाथपिंडिक की भेंट उनके कपिलवस्तु जाने के पहले ही हुई और बुद्ध कपिलवस्तु से लौटकर श्रावस्ती गये जहाँ उन्होंने तीसरा चौमासा बिताया। पाली ग्रंथों में कहा गया है कि बुद्ध ने दूसरी, तीसरी और चौथी वर्षाएँ (वस्सा) राजगृह में बिताईं।

पापों के कारण नरक भोगना पड़ा था। उन्होंने उन्हें प्रजा पर अत्याचार न करने, जीव-हिंसा से विरत होने, अपनी इंद्रियों को वश में करने और अधर्मपूर्ण विधियों का त्याग कर सन्मार्ग पर चलने का, तथा कष्टमय तपों और व्रतों का प्रचार एवं मिथ्या विचारों का प्रतिपादन करनेवाले पाखंडी गुरुओं से बचते रहने का उपदेश दिया। उन्होंने राजा से राजधर्म का पालन करने, अपने को दूसरों से बहुत बड़ा न समझने, अपनी बुद्धि से विचार कर कार्य करने तथा सांसारिक पदार्थों की अनित्यता पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने का अनुरोध किया। आगे उन्होंने उन्हें यह भी समझाया कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से कभी बच नहीं सकता, वह जो बोयेगा वही उसे काटना पड़ेगा। धतूरे के पेड़ में से गेहूँ के दाने नहीं पा सकता। जन्म, जरा, रोग और मृत्यु की अचल-अलंघ्य दीवार के घेरे में मनुष्य बंदी है, वह उसमें से निकलकर भाग नहीं सकता। इस पृथ्वी पर एक सिकता-कण से लेकर सुमेरु पर्वत तक तथा एक लघु कीट से लेकर अरूप-लोक के जीवों तक सभी नाशवान् हैं। बुद्धिमान् पुरुष जगत् के इस मिथ्या और अनित्य रूप को तथा सदा मृत्यु के समान दुःख देनेवाले दुःख की सत्ता को जानकर सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने और उसके द्वारा जन्म-मरण के चक्र तथा तज्जनित उन दुःखों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है।

इसमें संदेह है कि बुद्ध के इन उपदेशों का राजा पसेनदि के मन पर कोई प्रभाव पड़ा, क्योंकि न तो ब्राह्मणों के यज्ञों और कर्मकांड पर से उसका विश्वास हटा, न उन नास्तिक गुरुओं के प्रति उसके आदर-भाव में कोई कमी हुई जिन्हें बुद्ध ने अधर्म-मार्ग का प्रदर्शक बतलाया था। इसके विपरीत, उस राजा की यह इच्छा थी कि वे मिथ्या-चारी गुरु गौतम बुद्ध के यश को उन अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन द्वारा अपकर्षित करें जो साधारण लोगों के लिए धार्मिक वा दार्शनिक शास्त्रार्थों की अपेक्षा अधिक रुचिकर थीं।

बुद्ध और उनके संघ की लोकप्रियता के बढ़ने के साथ-साथ उन मिथ्याचारी धर्म-गुरुओं और उनके अनुयायियों का प्रभाव सर्वसाधारण पर से अनुदिन घटता जा रहा था। पाली ग्रंथों में बुद्ध और उनके शिष्यों द्वारा उन गुरुओं के पराभव की कुछ कथाएं मिलती हैं।

पहली कथा के अनुसार राजगृह के एक धनी सेठ (सेट्ठि) ने एक बहुत लंबे बांस के ऊपरी सिरे पर एक लाल चंदन का कटोरा रखकर यह घोषणा की कि कटोरा उस मुनि या संन्यासी को दिया जायगा जो हवा में ऊपर उठकर उसे ले सके। मिथ्याचारी

मुनियों में से किसी में इतनी शक्ति न थी, अतः वे निराश हो गए। उस समय पिंडोल भरद्वाज उधर के मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने अपने एक भक्त के द्वारा उस घोषणा की बात सुनी और बुद्ध तथा संघ की महत्ता स्थापित करने के लिए वे आकाश में उड़ते हुए गये और उस कटोरे को ले लिया। जब बुद्ध के पास यह समाचार पहुँचा तो अपने शिष्यों द्वारा अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन को उन्होंने उचित नहीं समझा और सभी भिक्षुओं के लिए उसका निषेध कर दिया। परंतु अपने को उन्होंने उस प्रतिबंध से मुक्त रखा और जब वे अपने धर्म के प्रचार के लिए आवश्यक समझते थे तो अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करते थे।[1]

दूसरी कथा वैशाली में फैली हुई महामारी से संबंधित है, जिससे वहाँ के निवासियों के बचने का कोई उपाय संभव नहीं प्रतीत हो रहा था। वे अन्य सभी धर्मगुरुओं के पास गए, किंतु कोई भी उस भयंकर महामारी से उन्हें बचाने का उपाय न बता सका। अंत में वे बुद्ध के निकट गए जो उनके दुःख को दूर करने के उद्देश्य से वैशाली गए। जैसे ही वे नगर में प्रविष्ट हुए, महामारी बंद हो गई और वहाँ के निवासी स्वस्थ और आनंदित हो गए।

तीसरी कथा में सावत्थी में बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित उस चमत्कार का उल्लेख है जिसमें उन्होंने कुछ ही क्षणों में एक आम का वृक्ष उगा दिया था और फिर उसी भाँति आकाश में गमन किया था जैसे वे कपिलवस्तु में कर चुके थे। एक विशाल सभा में, जिसमें राजा पसेनदि की प्रजा बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थी, उक्त चमत्कार का प्रदर्शन करने के बाद बुद्ध का यश फिर एक बार चमक उठा और मिथ्याचारी मुनियों को विशाल जन-समूह के समक्ष उनसे पराभूत होना पड़ा।

अलौकिक शक्तियों की प्रतियोगिता में बुद्ध की समता न कर सकने पर उन्होंने बुद्ध को दुष्ट उपायों से कलंकित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने चिंचा माणविका नाम की एक धूर्त किंतु सुंदर स्त्री को, जो उनके भक्तों में से थी, बुद्ध के चरित्र को लांछित करने के लिए नियुक्त किया। उसे आदेश दिया गया कि वह प्रतिदिन सायंकाल जेतवन विहार में जाया करे, रात्रि किसी दूसरे स्थान पर व्यतीत करे और प्रातःकाल यह प्रकट करे कि वह जेतवन से निकलकर आ रही है। चिंचा ने उनके आदेशों के अनुसार कार्य किया और कुछ समय के बाद जब बुद्ध एक बार धर्म का प्रवचन कर रहे थे उसी समय वह वहाँ गर्भवती होने का स्वाँग करके उपस्थित हुई और लोगों से कहा कि यह गर्भ बुद्ध का है।

१. विनय० २, पृ० ११०।

उस स्त्री की ऐसी धूर्तता देखकर इंद्र के हृदय को बड़ा आघात लगा और उसने उपस्थित जनसमूह के समक्ष यह सिद्ध करके कि यह वस्तुतः गर्भवती नहीं है, उसकी सारी दुष्टता प्रकट कर दी। उसके बाद लोगों ने उसे खूब पीटा और अंत में अपने दुष्कर्म के फलस्वरूप वह भयंकर अग्नि में जल मरी।

महाप्रजापति—जब बुद्ध श्रावस्ती में ठहरे हुए थे, उन्हीं दिनों शाक्यों और कोलियों में बड़ा कटु विवाद हो गया। इन दोनों जातियों में एक से पिता के नाते और दूसरी से माता के नाते बुद्ध का घनिष्ठ संबंध था। विवाद रोहिणी नदी से पानी लेने के विषय में था। रोहिणी दोनों जातियों के राज्यों के बीच से बहती थी। कोलियों ने एक बाँध बनाकर नदी के प्रवाह को रोक दिया और उसे अपने खेतों को सींचने के लिए मोड़ लिया। अन्न पकने के पहले केवल एक बार उन खेतों को सींचना आवश्यक था। शाक्यों ने उनकी आवश्यकता और उनके कहने-सुनने पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और कहा कि हम अपने पड़ोसियों से अन्न क्रय करने के लिए अपने शोणरत्नों, नीलमणियों और कार्षापणों को नष्ट नहीं करेंगे। दोनों पक्ष एक-दूसरे को गालियाँ देने और प्रत्येक के वंश में दोष दिखलाने लगे। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि दोनों पक्ष रोहिणी के दोनों तटों पर आमने-सामने युद्ध के लिए आ डटे। बुद्ध की इच्छा नहीं थी कि उनके संबंधी आपस में लड़ें और दोनों जातियों के लोग मारे जायँ। इसलिए वे उस स्थान पर गए और व्याख्यान और दृष्टांतों के द्वारा उन्हें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कुपरिणामों से अवगत कराने का प्रयत्न किया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा वे न केवल उस विवाद को शांत करने में सफल हुए अपितु उन्होंने उनमें से अनेक को भिक्षु बनकर अपने संघ में सम्मिलित होने के लिए तैयार कर लिया, जिसके कारण अनेक स्त्रियों को पतिविहीन होना पड़ा। वे सब स्त्रियाँ एकत्र होकर महाप्रजापति गौतमी के पास गईं और उससे एक भिक्षुणी-संघ स्थापित करने का आग्रह किया। जब बुद्ध प्रथम बार कपिलवस्तु गए थे तो महाप्रजापति ने उनसे स्त्रियों के धार्मिक जीवन के लिए कोई व्यवस्था करने की प्रार्थना की थी, परंतु वह इस आधार पर अस्वीकृत हुई थी कि स्त्रियाँ गृहस्थ-जीवन के लिए अधिक योग्य हैं और उन्हें गृहस्थी में ही उपासिका बनकर पुण्य-संचय करना चाहिए।

अपने बुद्धत्व के पाँचवें वर्ष, जब बुद्ध वैशाली में ठहरे हुए थे तो उन्हें मृत्युशय्या पर पड़े हुए राजा शुद्धोदन को देखने के लिए वहाँ से कपिलवस्तु जाना पड़ा था। राजा की मृत्यु के पश्चात् वे वैशाली लौट आए और वहीं शोक से व्यथित महाप्रजापति गौतमी भी उन शाक्य और कोलिय स्त्रियों को साथ लिए जा पहुँची जिनके पति पहले

ही भिक्षु हो चुके थे। उन सबने सिर मुड़ाकर पीले वस्त्र पहिन लिए। महाप्रजापति ने पुनः बुद्ध से भिक्षुणी-संघ बनाने की अनुमति देने के लिए प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने अस्वीकार किया और कहा कि स्त्रियों को केवल साधारण भक्त बनकर रहना चाहिए, भिक्षुणी नहीं होना चाहिए। परंतु अंत में आनंद के कहने से उन्होंने अपना विचार बदल दिया और इस शर्त पर भिक्षुणी-संघ बनाने का सम्मोदन किया कि भिक्षुणियाँ उनके द्वारा अपने ऊपर लगाए गए आठ प्रतिबंधों को स्वीकार करें।[1] महाप्रजापति ने अनिच्छापूर्वक उन प्रतिबंधों को स्वीकार किया और भिक्षुणी-संघ का निर्माण किया, जिसमें ऐसी बहुत सी स्त्रियाँ सम्मिलित हुई जो वियोग के कारण व्यथित थीं या पारिवारिक जीवन से ऊब गई थी, अथवा जिनके पति भिक्षु हो गए थे।

कहा जाता है कि बुद्ध ने अपनी छठी वर्षा मंकुल की पहाड़ी पर बिताई। इस पहाड़ी की पहचान अभी तक नहीं हुई है और न किन्हीं धर्म-व्याख्यानों में उनका उल्लेख हुआ है।[2] यह श्रावस्ती के निकट का कोई एकांत स्थान हो सकता है जहाँ से बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गए थे।

१. वे आठ प्रतिबंध इस प्रकार हैं—
   (१) भिक्खुणी, चाहे वह कितनी भी ज्येष्ठ क्यों न हो, भिक्खु का सम्मान करे, किंतु भिक्खु कदापि भिक्खुणी का सम्मान न करे।
   (२) भिक्खुणी किसी ऐसे विहार में वस्सा (वर्षा) न बिताए जहाँ कोई भिक्खु न हो।
   (३) भिक्खुणी प्रति पक्ष में भिक्खुओं द्वारा भिक्खुणियों के उपदेश के लिए नियत दिन तथा उपोसथ की तिथि किसी भिक्खु से पूछ लिया करे।
   (४) भिक्खुणी पहले भिक्खु-संघ में, फिर भिक्खुणी-संघ में 'पवारणा' अवश्य करे।
   (५) भिक्खुणी पहले भिक्खु-संघ से, फिर भिक्खुणी-संघ से मनत्त-अनुशासन अवश्य ग्रहण करे।
   (६) भिक्खुणी भिक्खुणी-पतिमोक्ख के छः पचित्तिय नियमों (६३-६८) की शिक्षा के बाद क्रमशः दोनों संघों से उपसंपद प्राप्त करे।
   (७) भिक्खुणी भिक्खु की निंदा कदापि न करे।
   (८) भिक्खुणी कभी भिक्खु को उपदेश न दे, न भिक्खुओं के लिए उपोसथ या पवारणा की तिथि नियत करे।

२. यह सुनपरन्त का मंकुलाराम नहीं है।

सातवें बुद्ध-संवत् में अपनी माता महामाया को उपदेश देने के लिए बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में गए थे, जहाँ वह उस समय एक देवी के रूप में रहती थीं। पाली ग्रंथों में कहा गया है कि बुद्ध ने सातवीं वर्षा वहीं व्यतीत की। 'धम्मसंगनि' की टीका में सुरक्षित पिछली अनुश्रुतियों में कहा गया है कि मर्त्य होने के कारण बुद्ध को प्रतिदिन पृथ्वी पर भोजन के समय भोजन करने के लिए आना पड़ता था, जिसे सारिपुत्त उनके लिए प्रस्तुत रखते थे। भोजन के अनंतर वे प्रतिदिन सारिपुत्त को अपनी माता को दिए गए उपदेशों का सार बतला दिया करते थे। यह सार एक विषय-सूची (मातिका) के रूप में था, जिसे अभिधम्म पिटक के रूप में विस्तारित कर सारिपुत्त ने अपने शिष्यों को प्रदान किया।[1]

त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में अपने उपदेशों का व्याख्यान समाप्त करने के बाद बुद्ध जंबूद्वीप में सांकाश्य (जिला फर्रुखाबाद) नामक स्थान पर आए। उनके अवतरण का दृश्य प्राचीन मूर्तिकारों का एक प्रिय विषय था, जिसे वे पृथ्वी को स्पर्श करती हुई एक सीढ़ी बनाकर व्यक्त किया करते थे।

बुद्ध आठवीं वर्षा भग्ग देश में (जहाँ कौशांबी के राजा उदेन के पुत्र बोधिराजकुमार ने उनका सत्कार किया) सुंसुमार गिरि पर व्यतीत करने के बाद कौशांबी गए और नवीं वर्षा वहीं व्यतीत की। दसवीं वर्षा उन्होंने वहाँ के निकटस्थ वन पारिलेय्यक में बिताई। कौशांबी में मुख्य घटना यह हुई कि धम्मकथिकों के गुरु की किसी छोटी-सी भूल पर वहाँ के धम्मकथिकों और विनयधरों में झगड़ा हो गया। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि बुद्ध के हस्तक्षेप करने पर भी दोनों पक्षों में समझौता न हो सका। कौशांबी के भिक्षुओं और श्रमणों का ऐसा झगड़ालू स्वभाव देख बुद्ध को उनसे विरक्ति हो गई

१. किंतु एक ग्रंथ, अभिधम्मपिटक का कथावत्यु, ऐसा है जो सारिपुत्त द्वारा निर्मित नहीं है। सर्वास्तिवादियों के अनुसार अभिधर्मपिटक के प्रत्येक ग्रंथ के कर्ता अलग-अलग हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) आर्य कात्यायनीपुत्र का जनप्रस्थान सूत्र, षट्पादों सहित,
(२) स्थविर वसुमित्र का प्रकरणपाद,
(३) स्थविर देवशर्मा का विज्ञानकाय,
(४) आर्य सारिपुत्त का धर्मस्कन्ध,
(५) आर्य मौद्गलायन का प्रज्ञप्ति शास्त्र,
(६) पूर्ण का धातुकाय,
(७) महाकौस्थिल का संगीति-पर्याय।

और वे पारिलेय्यक वन में चले गए, जहाँ एक हाथी और एक बंदर उनकी सेवा करते थे। बुद्ध का यह भाव देख कौशांबी के भिक्षुओं और श्रमणों को पश्चाताप हुआ और आपस में मेल करके वे भगवान् के निकट क्षमा-प्रार्थना करने के लिए गए। इस अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओं के पारस्परिक कलह के कुपरिणामों के विषय में उपदेश दिया।

कौशांबी से संबंधित केवल एक कथा और प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मागंडिया के पिता ने अपनी सुंदरी कन्या मागंडिया का विवाह बुद्ध से करने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसकी माता ने, जो मनुष्य के लक्षणों का ज्ञान रखती थी, इस प्रयत्न का विरोध किया था। बुद्ध के उस विवाह-प्रस्ताव पर ध्यान न देने के कारण मागंडिया ने उसे अपना अपमान समझा और उसने बुद्ध से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। अपने अतुल सौंदर्य के कारण वह कौशांबी के राजा उदेन की रानी बनी और एक बार उसने षड्यंत्र करके अपनी सपत्नी रानी सामावती को, बुद्ध के प्रति उसकी भक्ति होने के कारण, कलंकित करने का प्रयत्न किया। परंतु अंत में राजा को उसके घृणित उद्देश्य का पता लग गया।

ग्यारहवीं वर्षा में बुद्ध ने राजगृह के निकट ब्राह्मणों के एकनाला नामक ग्राम में निवास किया। उस समय कृषि-भरद्वाज नामक एक संपन्न ब्राह्मण ने कृषि-पर्व मनाया। उसने इस अवसर पर बड़ी धूमधाम से तैयारियाँ कीं, बहुत से बैल और हल एकत्र किए, उन्हें भली भाँति सजाया और उत्सव में सम्मिलित होनेवाले सहस्रों मनुष्यों को भोजन कराया। कृषि-भरद्वाज ने बहुत पुण्य अर्जित किए थे, और बुद्ध ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के लिए इस अवसर को उपयुक्त समझा। अतः वे उस स्थान पर गये जहाँ उत्सव मनाया जा रहा था और वहाँ एक ऊँचे टीले पर बैठ गए। उनकी देह से तेज की किरणें निकल रही थीं। उनके दिव्य तेज को देख लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और वे जाकर उनके चारों ओर जुट गए और उन्हें प्रणाम किया। ब्राह्मण इससे अप्रसन्न हुआ और उसने यह कहकर बुद्ध का उपहास किया कि यह कोई निठल्लू है, अपने पसीने की कमाई खानेवाला कृषक नहीं। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भी कृषक हूँ, यद्यपि भिन्न प्रकार का। मेरा खेत धर्म है। उसमें से कामनाओं का वन काटकर उसे ज्ञान के हल से जोतना पड़ता है। उसमें शुचिता का बीज बोया जाता है और धार्मिक नियमों के पालन द्वारा उसका सिंचन और पोषण किया जाता है। तब उसमें निर्वाण का शस्य उत्पन्न होता है। बुद्ध के इस उत्तर को सुनकर ब्राह्मण के मन में अकस्मात् परिवर्तन हो गया और वह तत्काल भगवान् का अनन्य भक्त हो गया।

बुद्ध एकनाला छोड़कर श्रावस्ती गए, जहाँ वेरंज के कुछ ब्राह्मणों ने उन्हें निमंत्रित

किया था। यह स्थान (=वैरंभ, दक्षिण पंचाल में) मथुरा के निकट था। बुद्ध ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और वे वहाँ बारहवीं वर्षा में निवास करने के लिए गए। सर्वास्तिवाद की अनुश्रुति में कहा गया है कि बुद्ध वहाँ वैरंभ के ब्राह्मण शासक राजा अग्निदत्त के निमंत्रण पर गए। वहाँ ऐसा हुआ कि उस स्थान पर बुद्ध और उनके शिष्यों के निवास करते समय एक दुर्भिक्ष पड़ा और वहाँ के निवासी भिक्षुओं को भोजन नहीं दे सके। कहा जाता है कि अग्निदत्त के ब्राह्मण मंत्री वहाँ बुद्ध का रहना पसंद नहीं करते थे, और उन्हीं की कुमंत्रणा से राजा अग्निदत्त ने अपनी प्रजा द्वारा भिक्षुओं को भोजन दिए जाने का निषेध कर दिया। सौभाग्य से घोड़ों के व्यापारियों का एक सार्थ उस समय उसी स्थान से होकर जा रहा था और वे अपने पास घोड़ों के लिए जौ लिए हुए थे। व्यापारियों ने उस अन्न की एक नियत मात्रा भिक्षुओं को दी जिससे वे भूखों मरने से बच गए। मौद्गलायन और बुद्ध के कुछ अन्य शिष्यों की इच्छा थी कि दिव्य शक्ति द्वारा अन्न प्राप्त किया जाय, परंतु बुद्ध ने इसका निषेध कर दिया। कहा जाता है कि बुद्ध की एक स्त्री भक्त घोड़ों के खाने योग्य उस अन्न को छाँट पीसकर उसे मनुष्यों के खाने योग्य बना दिया करती थी। विनय के इस नियम का पालन करने के लिए कि भिक्षुओं को वर्षा एक ही स्थान पर व्यतीत करनी चाहिए, भिक्षुओं ने उन अश्व-व्यापारियों द्वारा वर्षा-यापन के लिए दिए गए अन्न की परिमित मात्रा से किसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह किया। वर्षाकाल समाप्त होने पर राजा अग्निदत्त की बुद्धि ठिकाने आई। उसे अपनी भूल समझ में आ गई और पश्चात्ताप करते हुए उसने बुद्ध से उसके लिए क्षमा-प्रार्थना की। बुद्ध ने सहर्ष उसे क्षमा कर दिया और एक दिन उसका निमंत्रण स्वीकार कर उसके यहाँ पधारे। उसके बाद बुद्ध और उनके शिष्य उस स्थान को छोड़कर सोरेय्य, संकास्य, कनौज और इलाहाबाद होते हुए बनारस पहुँचे।

महाकात्यायन—बनारस में निवास करते समय बुद्ध की भेंट महाकात्यायन से हुई, जो उनके अत्यंत विशिष्ट शिष्यों में से अन्यतम थे। वे अवंती के राजा चंड प्रद्योत के राजपुरोहित के पुत्र थे। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने पिता के पद के अधिकारी हुए। राजा ने बुद्ध को अपने देश में निमंत्रित करने के लिए महा-कात्यायन को उनके पास भेजा। सात व्यक्तियों के साथ वे बुद्ध के पास गए और उनके उपदेशों को सुनकर अर्हत् हो गए। उन्होंने बुद्ध से राजा का निमंत्रण निवेदित किया, परंतु बुद्ध ने अवंती जाना स्वीकार नहीं किया और कहा कि कात्यायन अब स्वयं राजा को व्याख्या-सहित धर्म का उपदेश कर सकते हैं। उज्जैनी में महाकात्यायन मक्करकट

वन में कुररघर पपात के निकट एक कुटी में रहते थे। परंतु उनका अधिक समय मगध और कोसल में बीता, जहाँ वे बुद्ध के उपदेशों के जटिल अंशों की सरल व्याख्या करके लोगों को समझाया करते थे। उन्होंने उज्जेनी में बुद्ध-धर्म का एक केंद्र स्थापित किया। वहाँ उन्होंने एक धनाढ्य सेट्ठि के पुत्र श्रोण कोटिकर्ण तथा उस स्थान के कुछ ब्राह्मणों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्ध धर्म के इस केंद्र ने बुद्ध के निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद द्वितीय संगीत के समय विशेष महत्त्व प्राप्त किया और अशोक तथा उसकी रानी (महिंद और संघमित्ता की माता) ने इसको बहुत उन्नत किया।

बुद्ध के शिष्य वेरंज मे दुर्भिक्ष की विपत्ति से किसी प्रकार बच तो गए, परंतु वे अत्यंत कृशकाय और दुर्बल हो गए। बुद्ध के एक संपन्न शाक्य संबंधी महानाम ने उन्हें अपने घर निमंत्रित किया। बुद्ध ने उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया और तेरहवीं वर्षा कपिलवस्तु के निकट चालियगिरि पर बिताई, जहाँ महानाम ने बुद्ध और उनके शिष्यों की सुविधा का पूरा ध्यान रखा और उन्होंने पुनः अपना पूर्व स्वास्थ्य और बल प्राप्त कर लिया।

बुद्ध ने चौदहवी और पंद्रहवीं वर्षाएँ क्रमशः श्रावस्ती और कपिलवस्तु में बिताईं। इन दोनों चौमासों में इन स्थानों में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

सोलहवीं वर्षा बुद्ध ने श्रावस्ती के निकट आलवी नामक स्थान में व्यतीत की। इस स्थान पर एक ही महत्त्वपूर्ण घटना हुई। वह थी आलवक यक्ष और आलवी के राजा के पुत्र का बौद्ध हो जाना। इस घटना की अनुश्रुति इस प्रकार है—

आलवक यक्ष—आलवी का राजा एक बार आखेट के लिए वन में गया और वहाँ आलवक यक्ष के हाथों में पड़ गया जो उसे खा जाने को उद्यत हुआ। राजा ने उस यक्ष को प्रतिदिन एक मनुष्य भोजन के लिए देने की प्रतिज्ञा करके उससे मुक्ति पाई। पहले उसने अपने राज्य के अपराधियों को उस यक्ष के हवाले किया और फिर आलवी के प्रत्येक कुटुंब को आज्ञा दी कि वे अपने एक-एक पुत्र को उसकी भेंट करें। अंत में राजा की पारी आई और उसने अपने पुत्र आलवक कुमार को यक्ष के पास भेजा। उस समय बुद्ध आलवी में पहुँचे और जब यक्ष हिमवंत में गया हुआ था उसी समय उसके निवास-स्थान पर जाकर वे उसके सिंहासन पर आसीन हुए। लौटकर जब यक्ष ने बुद्ध को अपने सिंहासन पर बैठा पाया तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। परंतु बुद्ध ने उसका क्रोध शांत कर दिया और क्रमशः अपने उपदेशों के द्वारा उसे अपने वश में कर लिया। आलवक यक्ष बुद्ध का भक्त हो गया और अपने कर्मो के लिए लज्जित हुआ। उसने राजा के पुत्र को

अपने भोजन के लिए स्वीकार नहीं किया और उसके बाद राजकुमार बुद्ध का शिष्य होकर अंत में 'अनागामी' हो गया।

सत्रहवीं और उन्नीसवीं वर्षा बुद्ध ने राजगृह में व्यतीत की और अठारहवीं चालियगिरि पर। शेष वर्षाएँ उन्होंने श्रावस्ती में बिताईं।

वर्षाओं की परंपरा-प्राप्त सूची को बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्य का कालक्रमिक विवरण नहीं समझना चाहिए। वे वर्ष के नौ सूखे महीनों मे विभिन्न स्थानों में धर्मोपदेश किया करते थे और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वर्षा किसी नियत स्थान पर बिताते थे। अनेक ऐसे शिष्य थे जो अंग, अवंती, गंधार आदि दूर देशों से वर्ष भर उनके पास आते रहते थे। बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी थी और उन सबका वर्णन ग्रंथों में नहीं आया है। हमें ऐसे अनेक व्यक्तियों और स्थानों के नाम[1] मिलते हैं जिन्हें और जहाँ बुद्ध ने अपने धर्म का उपदेश दिया। बुद्धचरित के इक्कीसवें सर्ग (सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, पृ० २४१ तथा आगे) में अश्वघोष ने उन प्रमुख शिष्यों की एक सूची दी है जिन्हें बुद्ध ने त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरने के बाद शिष्य बनाया था। वह सूची कालक्रमिक नहीं मानी जा सकती। परंतु उससे हमें भगवान् बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्यों की सबसे पुरानी परंपरा प्राप्त होती है। नागों और यक्षों के अतिरिक्त अन्य अनुयायियों के नाम निम्नलिखित क्रम से दिए गए हैं :—

१. **ज्योतिष्क**—यह राजगृह के एक अत्यंत वैभव-संपन्न सेट्ठि का पुत्र था। अपने पूर्व-जन्मों के संचित पुण्य के कारण इस जन्म में उसे असंख्य बहुमूल्य रत्न प्राप्त थे, जिनसे राजा बिंबिसार के मन में भी ईर्ष्या उत्पन्न होती थी। वह पाँच अतुल-संपत्तिशाली (अमितभोग) व्यक्तियों में अन्यतम था।[2] परंतु उसने अपना सर्वस्व त्याग दिया और भिक्षु होकर उसने अर्हत् पद प्राप्त किया।

२. **जीवक**—जीवक निश्चय ही बुद्ध के समय का बहुत प्रसिद्ध वैद्य रहा होगा और इसी कारण उसके संबंध में अनेक कथाएँ प्रचलित हो गईं। पाली अनुश्रुतियों में कहा गया है कि मगध के राजा बिंबिसार ने अपनी राजधानी राजगृह की सबसे सुंदरी कन्या सालावती को अपनी राजगणिका चुना, जो वैशाली की गणिका आम्रपाली से रूप-स्पर्धा कर सके। सालावती के एक पुत्र (जीवक) उत्पन्न हुआ। गणि-

१. उन स्थानों और व्याख्यानों के संक्षिप्त उल्लेख के लिए द्रष्टव्य दत्त, 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', खंड १।

२. अंगुत्तर भाष्य, १, पृ० २२०।

काओं की रीति के अनुसार उसे एक वन में छोड़ दिया गया। अभय ने, जो एक गणिका के गर्भ से उत्पन्न राजा बिंबिसार का पुत्र था, उस शिशु को पाया और उसे अपना पुत्र बना लिया। इसी कारण जीवक 'कोमारभच्च' (=कुमारभृत्य, राजकुमार द्वारा पोषित) नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] जीवक जब बड़ा हुआ तब उसे अपने वेश्या के गर्भ से जन्म का वृत्तांत ज्ञात हुआ और उसने वैद्य बनकर अपनी जीविका अर्जित करने का निश्चय किया। वह तक्षशिला गया, जहाँ उस देश के राजा पुष्करसारि ने उसका स्वागत किया। राजकुमार अभय के अनुरोध पर उस राजा ने जीवक का परिचय आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य आत्रेय से करा दिया। आत्रेय जीवक की असाधारण बुद्धि देखकर बहुत प्रभावित हुए। जब वे रोगियों को देखने जाते तो अपने सहायक के रूप में जीवक को साथ ले जाते। उन्होंने अपने शिष्य को अपनी अपेक्षा भी अधिक बुद्धिमान् पाया और उसे बहुत मानने लगे, जिससे उसके सतीर्थों को ईर्ष्या होने लगी। जीवक के बिंबिसार, चंडप्रद्योत तथा अन्य अनेक श्रीमंत पुरुषों और स्त्रियों को चिकित्सा से नीरोग करने एवं पारिश्रमिक के रूप में उनसे अपार धन और संपत्ति प्राप्त करने के संबंध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। केवल औषध में ही नहीं, शल्य-चिकित्सा में भी उसकी निपुणता के अनेक उल्लेख मिलते हैं। जब संभवतः अपने यश तथा वैद्यकर्म द्वारा उपार्जित धन से जीवक का मन भर गया तब वह बुद्ध की कुछ सेवा करने के लिए व्याकुल हो उठा। कहा जाता है कि एक बार जब बुद्ध उदरामय से पीड़ित हुए, तब जीवक ने उन्हें औषधयुक्त फूल सुँघाकर नीरोग कर दिया था।

जीवक भिक्षुओं की निःशुल्क चिकित्सा करता था, इस कारण बहुत से रोगी उससे निःशुल्क चिकित्सा प्राप्त करने के उद्देश्य से भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गए और उन्होंने संघ के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी। कहा जाता है कि बुद्ध की बोधि-प्राप्ति के बीसवें वर्ष जीवक उनका भक्त हो गया और अपना आम्र-वन भिक्षुओं

१. संस्कृत अनुश्रुति में जीवक एक व्यापारी की परित्यक्ता स्त्री के गर्भ से उत्पन्न बिंबिसार का अवैध पुत्र कहा गया है। बिंबिसार ने उसके पालन-पोषण के लिए उसे अभय राजकुमार को सौंप दिया था और उसी के द्वारा उसका पालन-पोषण हुआ था। सुकुमार होने के कारण उसके पैरों में घाव हो जाते थे और उनसे टपके हुए रक्त के चिह्न उन स्थानों पर पड़ जाया करते थे। एक दिन उन रक्त-चिह्नों को देखकर बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को जूते पहनने की अनुमति दे दी, क्योंकि श्रोण कोटिविंश ने केवल अपने प्रति विशेष कृपा के रूप में जूते पहनना अस्वीकार कर दिया था।

के निवास के लिए संघ को अर्पित कर दिया। वह सोतापन्न की अवस्था तक पहुँच चुका था। विनय के वे नियम उसी के प्रयत्न से बने थे जिनके अनुसार भिक्षुओं को औषध अथवा शल्य-चिकित्सा के द्वारा रोगोपचार कराने की अनुमति मिली। जीवक ने एक बार यह प्रश्न उठाया कि बौद्ध भिक्षु मांस खा सकते हैं या नहीं।[१] बुद्ध ने उसे समझाया कि 'भिक्षु सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव (मेत्ता) रखता है, अतः वह जान-बूझ-कर अपने खाने के लिए मांस नहीं माँग सकता। वह इस बात का विचार नहीं करता कि उसे कौन-सी विशेष वस्तु भोजन के लिए दी जा रही है, अतः यदि भिक्षा में उसे मांस मिले तो वह उसे खा सकता है। परंतु वह मांस विशेष रूप से उसी के लिए बनाया हुआ नहीं होना चाहिए। उसके मन में इस बात का संदेह भी न होना चाहिए कि वह मांस विशेष रूप से उसी के लिये बनाया गया है।'

३. **अभय राजकुमार**—यह उज्जयिनी की एक गणिका के गर्भ से उत्पन्न बिंबिसार का पुत्र था। संस्कृत अनुश्रुति में अभय राजकुमार आम्रपाली नाम की गणिका से उत्पन्न बिंबिसार का पुत्र कहा गया है। पहले वह जैनों (निगंठ नाटपुत्त) का अनुयायी था, परंतु उसकी शंकाओं का समाधान करके बुद्ध ने उसे बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित कर लिया।[२] अंत में वह भिक्षु हो गया और उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

४. **श्रोण कोटिविंश**—यह अंग की राजधानी चंपा (वर्तमान भागलपुर) के एक अत्यंत धनाढ्य सेट्ठि का पुत्र था। उसकी हथेलियाँ और पैर के तलवे इतने सुकुमार थे कि वह नंगे पाँव नहीं चल सकता था। वह बौद्ध धर्म का सच्चा भक्त और भिक्षु हो गया था और स्तूपों और पवित्र स्थानों की परिक्रमा (चंक्रमण) करता हुआ ध्यानमग्न रहा करता था।

५. **न्यग्रोध**—यह एक विशिष्ट परिब्बाजक (परिव्राजक) था, जो राजगृह के उदुंबरिकाराम में रहता था। वह केवल एकांतवास का उपदेश देने और तपस्या को प्रोत्साहन न देने के कारण बुद्ध की आलोचना किया करता था, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए वह तपस्या को बहुत आवश्यक समझता था। बुद्ध के एक व्याख्यान द्वारा उसके विचारों में परिवर्तन हो गया।[३]

६. **उपालि गहपति**—यह नालंदा का निवासी था और निगंठ नाटपुत्त के पक्के

१. मज्झिम०, १, पृ० ३६९।
२. वही, १, पृ० ३९२; ३, पृ० १६९; संयुत्त०, ५, पृ० ४५५।
३. दीघ०, ३, पृ० ३६ तथा आगे।

अनुयायियों और समर्थकों में से था। एक दिन वह अपने गुरु और उनके उपदेशों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के उद्देश्य से बुद्ध के पास गया परंतु भगवान् बुद्ध ने उसे निरुत्तर कर दिया और उसे अपना भक्त बना लिया। बुद्ध के प्रति उसकी आस्था और भी बढ़ गई जब उन्होंने उसे यह अनुमति दे दी कि निगंठ नाटपुत्त के शिष्यों को पूर्ववत् दान आदि दिया करे।[1]

७. **पुक्कुसाति (पुष्कर सारि = फ़ो-किया-लो)**—यह तक्षशिला (गंधार) का राजा था और बिंबिसार का समकालीन था। गंधार और मगध के बीच व्यापार करनेवाले कुछ व्यापारियों के द्वारा इन दोनों राजाओं में मित्रता हो गई। पुक्कुसाति ने एक बार बिंबिसार के लिए कुछ बहुमूल्य उपहार भेजे और बदले में बिंबिसार ने उसके पास एक स्वर्ण-पत्र भेजा, जिसपर बुद्ध के कुछ चुने हुए उपदेश खुदे थे। उन्हें पढ़कर पुक्कुसाति ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। उसने पीले वस्त्र धारण कर लिए और संपूर्ण मार्ग पैदल चलकर वह बुद्ध से मिलने के लिए राजगृह पहुँचा। बुद्ध उस समय श्रावस्ती में निवास कर रहे थे। बुद्ध ने लक्ष्य किया कि राजा ने सिद्धि प्राप्त करने योग्य बहुत से पुण्य संचित कर लिए हैं, अतः शीघ्र वे पुक्कुसाति से मिलने के लिए राजगृह चल पड़े। वे भग्गव के आश्रम में उससे मिले, परंतु वहाँ उन्होंने अपने को प्रकट नहीं किया। वे पुक्कुसाति से प्रश्नोत्तर करने लगे और उसे धातुविभंग सुत्त का उपदेश दिया। तब पुक्कुसाति को पता चला कि वक्ता स्वयं बुद्ध ही हैं। उसने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।[2]

८. **कूटदंत**—एक विद्वान् ब्राह्मण आचार्य था जिसे बिंबिसार ने खानुमत ग्राम की आय उसके गुरुकुल का व्यय चलाने के लिए अर्पित कर दी थी। वह ब्राह्मण शास्त्रों की विधि से एक यज्ञ करने जा रहा था, किंतु बुद्ध ने उसमें हस्तक्षेप किया और उसके यज्ञ को सदाचार और धार्मिक नियमों के पालन के यज्ञ के रूप में परिवर्तित कर दिया।[3]

९. **पञ्चशिख**—हीनयान[4] और महायान[5] दोनों शाखाओं के बौद्ध ग्रंथों में बहुत सुख्यात व्यक्ति था। वह गंधर्व था और इस कारण बहुत निपुण संगीतज्ञ था। वह

१. मज्झिम० १, पृ० ३७१ तथा आगे।
२. मज्झिम० ३, पृ० २३७–४७।
३. दीघ० १, पृ० १२७ तथा आगे।
४. वही २, पृ० २६३ तथा आगे।
५. समाधि राजसूत्र, पृ० २७४।

बासुरी बजाकर बुद्ध और उनके उपदेशों की प्रशंसा किया करता था। बुद्ध और देवों, विशेषतः शक्र, के बीच वह मध्यस्थ का कार्य करता था। वह बुद्ध का बहुत बड़ा प्रशंसक और अनुयायी था। भद्दा सुरिय वच्चसा उसकी पत्नी थी।

१०. **नंदमाता**—यह बुद्ध की एक विशिष्ट शिष्या थी। नंदमाताएँ दो थीं—एक उत्तर, दूसरी वेलुकंटकी। हो सकता है ये दोनों नाम—उत्तर नंदमाता और वेलुकंटकी (वेलुकंटक ग्राम की) नंदमाता—एक ही स्त्री के रहे हों। नंदमाता ने सारिपुत्त और अन्य भिक्षुओं का सत्कार करके बहुत पुण्य अर्जित किया था। वह सकृदागामी[1] हो गई थी। वेलुकंटकी नंदमाता संभवतः बोधिप्राप्ति के ग्यारहवें वर्ष में बौद्ध हुई थी। वह इस कारण भी प्रसिद्ध है कि उसने पिटक के कुछ ग्रंथ—विशेषतः सुत्त-निपात का पारायणवग्ग—कंठस्थ कर लिए थे।

११. **विशाखा**—अंग देश के एक बहुत बड़े धनी सेट्ठि मेंडक के पुत्र धनंजय की पुत्री थी। उसका जन्म भद्दिय नगर में हुआ था, जहाँ बुद्ध एक बार सेल ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्तियों को उपदेश देने गए थे। उस समय विशाखा केवल सात वर्ष की थी। उसने बुद्ध को देखा और उसे उनके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई। उसके पितामह मेंडक बुद्ध और अन्य भिक्षुओं को प्रतिदिन अपने घर पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए निमंत्रित करते थे। राजा प्रसेनजित् की प्रार्थना पर धनंजय को राजा बिंबिसार ने कोसल भेज दिया, जहाँ कोसल-नरेश ने साकेत में उसके निवास के लिए स्थान नियत कर दिया, और वह वहीं बस गया। विशाखा की अवस्था जब विवाह के योग्य हुई तो श्रावस्ती के एक अन्य धनी श्रेष्ठि मिगार ने उससे अपने पुत्र पुण्णवड्ढन का विवाह करने का निश्चय किया। मिगार निगंठ नाटपुत्त और उनके संघ का भक्त और समर्थक था और चाहता था कि उसकी पुत्रवधू विशाखा भी उनकी भक्त हो जाय। परंतु उसने अपने श्वसुर के इस आदेश का पालन करना अस्वीकार कर दिया और कुछ कठिनाइयों के बाद वह उलटे अपने श्वसुर को बुद्ध का भक्त बनाने में सफल हुई। विशाखा प्रतिदिन ५०० भिक्षुओं को भोजन कराती थी। बुद्ध ने उसे अनुमति दे दी थी कि वह वर्षाकाल में सावत्थी में आनेवाले सभी भिक्षुओं और भिक्षुणियों को भोजन और वस्त्र, रोगियों को औषध तथा प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी को खीर दान किया करे। उसने पुब्बाराम विहार का निर्माण कराया था, जो मिगारमातुपासाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। वह १२० वर्ष तक जीवित रही और उसके कितने ही

१. अंगुत्तर० १, पृ० २६, ८८; २, पृ० १६४; ४, पृ० ३४७।

नाती-पोते हुए। बुद्ध ने उसे संघ को दान देनेवाली स्त्रियों में प्रधान कहकर उसकी प्रशंसा की थी।

१२. **सोणदंड** (श्रोणदण्ड)——यह ब्राह्मण शास्त्रों का एक प्रसिद्ध आचार्य था। वह अंग की राजधानी चंपा में निवास करता था और बिंबिसार ने उसके जीवन-निर्वाह के लिए एक ग्राम दे दिया था। एक बार वह बुद्ध से मिला था और उनसे ब्राह्मणों की जाति-श्रेष्ठता के विषय में बातें की थी। परंतु बुद्ध ने उसे विश्वास करा दिया कि मनुष्य की श्रेष्ठता और निकृष्टता का निश्चय उसके नैतिक गुणों के ही आधार पर किया जा सकता है, जन्म के आधार पर नहीं। सोणदंड अवस्था में बुद्ध से बहुत ज्येष्ठ था परंतु उसने अपने को बुद्ध का अनुयायी घोषित किया।[१]

१३-१४. **केनिय** (कैनेय ऋषि) और **सेल** (शैल ऋषि)——ये दोनों ऋषि जटिल थे और बुद्ध के जीवन के अंतिम समय में बौद्ध हुए थे (गिलगिट मैनु०, ३,१, पृ० २५९ और आगे)। कैनेय ऋषि चार सत्यों पर बुद्ध का उपदेश सुनकर बहुत प्रभावित हुए और उनका आध्यात्मिक उत्थान हुआ जिससे उन्हें अनागामी अवस्था प्राप्त हुई। उन्होंने बुद्ध को आठ प्रकार के फलों के रस पीने को दिए, जिन्हें बुद्ध ने केवल अपने ही लिए स्वीकार नहीं किया अपितु कुछ प्रतिबंधों के साथ भिक्षुओं को भी उन्हें ग्रहण करने की अनुमति दी। बुद्ध ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, इससे कैनेय को बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने बुद्ध और उनके भिक्षुओं को अपने आश्रम में भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोर से ही वे संघ के सत्कार के लिए बड़ी-बडी तैयारियाँ करने लगे जिससे उनके मित्र शैल ऋषि का ध्यान आकर्षित हुआ। शैल ऋषि बुद्ध और उनके संघ की कीर्ति सुनकर संघ में प्रविष्ट होने के लिए उत्कंठित हुए। भोजन के समय के पहले ही वे अपने ५०० शिष्यों के साथ बुद्ध के पास गए और दीक्षा लेकर भिक्षु संघ में प्रविष्ट हो गए। जब कैनेय भिक्षुओं को भोजन परोस रहे थे तो उन्होंने अपने मित्र शैल को अपने शिष्यों सहित भिक्षुओं की पंक्ति में बैठे देखकर उन्हें बड़ा हर्ष और आश्चर्य हुआ। कैनेय ने भी तत्काल भिक्षु-संघ में प्रविष्ट होने का निश्चय कर लिया और दूसरे दिन बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की।[२] इन दोनों ऋषियों के शिक्षण का भार महाकप्फिन, सारिपुत्त और मोग्गलायन को दिया गया।

१. दीघ० १।

२. पाली अनुश्रुति में केनिय और सेल के बौद्ध होने का वर्णन इस प्रकार मिलता है——केनिय और सेल अंग देश में आपण के निवासी थे। केनिय धनाढ्य ब्राह्मण था और सेल एक विशिष्ट ब्राह्मण आचार्य था, जिसके अनेक शिष्य थे। ये जटिलों के

१५. **अंगुलिमाल**—कोसल के राजा प्रसेनजित् के गुरु का पुत्र था। उसके पिता का नाम भग्गव अथवा गग्ग था और माता का मंतानी। वह तक्षशिला भेजा गया और वहीं उसने विद्याध्ययन किया। वह अपने अन्य सतीर्थों से विद्या में आगे बढ़ गया, जिसके कारण वे उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने आचार्य और अंगुलिमाल के बीच मतभेद उत्पन्न कर दिया, फलतः उससे अपना पिंड छुड़ाने के लिए आचार्य ने ९९ मनुष्यों की अंगुलियाँ उससे गुरुदक्षिणा में माँगीं। अंगुलिमाल उन्हें यह गुरुदक्षिणा देना अपना धर्म समझ कोसल चला गया। वहाँ वह मार्ग के किनारे छिपकर बैठा रहता और उधर से जानेवाले यात्रियों का वध कर देता। इस प्रकार उसने ९९ मनुष्यों को मारकर उनकी अंगुलियाँ एकत्र कीं। संयोग से सौवीं बलि उसकी माता की ही होनेवाली थी। बुद्ध को ज्ञात हुआ कि अंगुलिमाल के बहुत पुण्य संचित हैं, परंतु यदि वह मातृहत्या का महापातक करेगा तो वे सब पुण्य नष्ट हो जायँगे। अतः अविलंब उस स्थान पर पहुँचे जहाँ अंगुलिमाल छिपा बैठा था और सौवें व्यक्ति वे स्वयं हो गए। अपनी असाधारण शक्ति के द्वारा उन्होंने अगुलिमाल की बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाया और उसे संघ में प्रविष्ट कर लिया। उसके पश्चात् शीघ्र ही अंगुलिमाल को अर्हत् पद प्राप्त हुआ (मोनेस्टिक बुधिज्म, पृ० २४९)। उसकी दीक्षा बुद्ध की बोधिप्राप्ति के बीसवें वर्ष में हुई।

१६. **ब्रह्मायु**—ये मिथिला के एक ब्राह्मण आचार्य थे। बुद्ध जब विदेह गए थे, उस समय उनकी अवस्था १२० वर्ष की थी। उन्होंने अपने शिष्य उत्तरमाणव को यह पता लगाने के लिए भेजा कि क्या बुद्ध में महापुरुषों के बत्तीसों लक्षण विद्यमान हैं। जब उत्तर के द्वारा इस बात का प्रमाण मिल गया तो मखादेव आम्रवन में वे बुद्ध से मिलने गए। ब्रह्मायु ने एक विशाल जनसमूह (जो उनके प्रति श्रद्धावान् था) के समक्ष बुद्ध के चरण सहलाए और उनके व्याख्यान सुने। उन्होंने बुद्ध और उनके भिक्षुओं को अपने घर निमंत्रित किया और एक सप्ताह तक उनका सत्कार किया। बुद्ध से इस मिलन के कुछ ही समय बाद ब्रह्मायु की मृत्यु हो गई और वे अनागामी हुए (मज्झिम०, २,१४६)।

अनुयायी थे। केनिय बुद्ध से मिला और उसने उनको तथा उनके भिक्षुओं को मधुर पेय पीने के लिए दिए तथा उनके उपदेशों को श्रवण किया। सेल पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और वह केनिय के साथ बुद्ध का शिष्य हो गया (मोनेस्टिक बुधिज्म पृ० २७३-७५)।

१७. **महालि**——महालि लिच्छिवि था और संभवतः पुराण कस्सप का अनुयायी था। वह देह और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। वह बुद्ध से वैशाली की कूटागारसाला में मिला था। उसने अष्टांग मार्ग तथा अन्य विषयों पर बुद्ध के व्याख्यान सुने और वह उनका भक्त हो गया।

१८. **सीह**——यह एक लिच्छवि सेनापति तथा निगंठ नाटपुत्त का अनुयायी था। उसे बुद्ध के उपदेशों के विषय में भ्रमपूर्ण सूचना मिली थी। एक बार अनेक लिच्छवियों के साथ जब वह बुद्ध से मिला तो उनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ। उसने बुद्ध और उनके शिष्यों को अपने घर निमंत्रित किया और उन्हे सामिष भोजन कराया। इसपर निगंठ नाटपुत्तों ने उनकी कटु आलोचना की। इसी अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओं के मांस खाने के संबंध में पाँच प्रतिबंध लगा दिए (विनय०, १, २३३; ४, १७९)। सीह अनेक लिच्छवियों के साथ बुद्ध का अनुयायी हो गया। तथापि बुद्ध ने उसे निगंठों को दान आदि देते रहने की अनुमति दी, इससे बुद्ध के प्रति उसकी भक्ति और बढ़ गई।

१९. **सच्चक**——यह लिच्छवियों का गुरु तथा निगंठ नाटपुत्त का बड़ा भक्त था। बुद्ध से शास्त्रार्थ (चूल-सच्चकसुत्त) में पराजित होकर वह उनका अनुयायी हो गया। उसके चार पुत्रियाँ थीं जो सारिपुत्त से शास्त्रार्थ करने के बाद भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट हो गईं (मज्झिम० १, २३४ तथा आगे)।

२०. **जानुस्सोणि**——ये एक धनाढ्य और प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य थे। ये प्रायः जेतवन विहार में बुद्ध से मिलने जाया करते थे। अनेक विषयों पर इन्होंने उनसे शास्त्रार्थ भी किया था। ये कोसल के राजा के गुरु थे और संभवतः बुद्ध के शिष्य हो गए थे।

२१. **वक्कालि** (सं० वक्रपालि)——वक्कालि का जन्म श्रावस्ती के एक श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल में हुआ था। यह भिक्षु हो गया था और बुद्ध के शरीर से इसे बहुत मोह था। बुद्ध ने इससे कहा कि तुम्हें बुद्ध का वास्तविक दर्शन तभी मिल सकता है जब तुम उनके 'धम्म' का तत्त्व समझ लो। वह गृध्रकूट पर्वत पर से गिरकर प्राण देने जा रहा था, परंतु बुद्ध ने उसे रोक लिया और उसे ध्यान और अन्य क्रियाओं का अभ्यास करने का आदेश दिया। तिसपर भी उसने छुरी से आत्महत्या कर ही डाली। जब उसे असह्य पीड़ा हो रही थी उसी समय वह अर्हत् हो गया और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई।

२२. **बावरी**——ये कोसलपति के राजपुरोहित थे और संन्यास लेकर दक्षिणापथ

चले गए थे, जहाँ अस्सक में गोदावरी नदी के तीर एक आश्रम में रहते थे। इन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया था। उस अवसर पर एक ब्राह्मण को ५०० मुद्राएँ न देने के कारण उसने इन्हें शाप दे दिया जिससे ये बहुत चिढ़ गए। शाप के भय से इन्होंने अपने शिष्यों को बुद्ध के पास उसके मोचन का उपाय पूछने के लिए भेजा। वे शिष्य पतिट्ठान, माहिस्सती, उज्जेनी, गोनद्ध, वेदिसा और कोसंबी होते हुए साकेत पहुँचे, परंतु वहाँ उन्हें विदित हुआ कि अभी-अभी बुद्ध ने नगर छोड़ा है। तब वे सेतव्या, कपिलवत्थु, कुसीनारा, पावा, भोगनगर और वेसाली होते हुए राजगृह आए। वहाँ वे बुद्ध के व्याख्यानों को सुनकर अर्हत् हो गए, परंतु उनमें से एक, अर्थात् बावरी का भतीजा पिंगिय, अनागामी ही रहा। पिंगिय बावरी के पास लौट आया और बुद्ध से उसने जो कुछ सीखा था उसे कह सुनाया। पिंगिय के मुख से बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या सुनकर बावरी भी अनागामी हो गए और पिंगिय को अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

२३. **सुनक्खत्त**—यह वैशाली का एक लिच्छवि राजपुत्र था। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह बुद्ध का निजी सेवक हो गया। कुछ समय तक वह बुद्ध के साथ रहा, परंतु अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन न करने तथा सृष्टि के प्रारंभ के विषय में उसके प्रश्नों का उत्तर न देने के कारण वह उनसे असंतुष्ट हो गया, और बौद्ध संघ को छोड़कर क्रमशः कोरखत्तिय, कंदरमसक और पाटिकपुत्त का शिष्य हुआ। वह इन गुरुओं की योग और तप की उन कठिन क्रियाओं का प्रशंसक था जिनका कि बुद्ध निषेध कर चुके थे।[१]

२४. **देवदत्त**—बुद्ध के जीवन के अंतिम वर्षों में देवदत्त उनकी अनुदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता देखकर उनसे जलने लगा और किसी प्रकार उनकी कीर्ति नष्ट करने का उपाय सोचने लगा।

पाली अनुश्रुतियों में वर्णन है कि राजकुमार सिद्धार्थ का ममेरा भाई और साला देवदत्त बड़ा ही ईर्ष्यालु और कुटिल प्रकृति का मनुष्य था और अपने कई पूर्व जन्मों में वह सिद्धार्थ का शत्रु रह चुका था। वह उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और वह आनंद, उपालि और अनिरुद्ध के साथ ही भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुआ था।[२] उसने कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर ली और कुछ ऋद्धियाँ

१. दीघ०, पातिक सुत्त।
२. देखिए पृ० ६७-८।

भी प्राप्त कर लीं, जिससे वह अजातशत्रु को अपने सिद्ध होने का विश्वास दिलाने में समर्थ हुआ। उसने कोकालिक और कोटमरक तिस्स आदि अपने ही–जैसे कुछ भिक्षुओं और थुल्लनंदा आदि कुछ भिक्षुणियों को मिलाकर अपने दल में कर लिया। उसे दंडपाणि एवं सुप्पबुद्ध-सदृश कुछ बौद्धों का भी समर्थन प्राप्त हो गया। बुद्ध के जीवन के अंतिम दिनों में देवदत्त चाहता था कि अन्य धर्माधिष्ठाताओं की भाँति बुद्ध उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दें। बुद्ध ने उससे स्पष्ट कह दिया कि मैं किसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत नहीं करूँगा, सारिपुत्त और मौद्गलायन-जैसे अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्यों को भी नहीं, फिर तुम-जैसे दुर्मन व्यक्तियों को मनोनीत करने का तो कोई प्रश्न ही नही है। बुद्ध की इस अस्वीकृति से देवदत्त बहुत क्रुद्ध हुआ और कुछ दुष्ट भिक्षुओं को मिलाकर एक नया संघ संघटित करके उसका नेता बन गया। उसे राजकुमार अजातशत्रु का समर्थन भी प्राप्त हो गया, जो अपने वृद्ध पिता राजा बिंबिसार का वध करने का षड्यंत्र रच रहा था। अजातशत्रु की सहायता से देवदत्त ने बुद्ध के प्राण लेने का कई बार प्रयत्न किया––पहले उनका वध करने के लिए गुंडों को नियुक्त किया, फिर पर्वत से उनके ऊपर एक भारी शिला गिरवाई और अंत में उनके ऊपर नालागिरि नामक एक मदमत्त हाथी छोड़वाया। गुंडे तो बुद्ध के निकट जाते ही उनके भक्त हो गए और शिला जब ढुलककर उनके ऊपर आ रही थी तो वह बीच में दो छोटी शिलाओं पर अटक कर रह गई। उसका एक छोटा-सा खंड आकर बुद्ध के पैर में लगा, जिससे उनके रक्त निकलने लगा। नालागिरि हाथी के विषय में कहा जाता है कि नगर में सैकड़ों मनुष्यों को कुचलता हुआ वह भयंकर वेग से दौड़ने लगा। जब वह उस पथ पर आया जिसपर बुद्ध और उनके भिक्षुगण जा रहे थे तो कुछ भिक्षु तो इधर-उधर भागे और अनेक शिष्यों और भक्तों ने बुद्ध से प्रार्थना की कि वे उस क्रुद्ध हाथी से अपनी रक्षा के लिए उसके मार्ग से हट जायँ। परंतु आनंद दृढ़ता के साथ उनके पार्श्व में ही डटा रहा। बुद्ध तनिक भी इधर-उधर नहीं हटे और शांत भाव से चलते रहे। नालागिरि उनके निकट पहुँचकर उनके ऊपर झपटा, परंतु यह देखकर सब चकित रह गए कि वह क्रुद्ध और मदमत्त हाथी जाकर भगवान् बुद्ध के चरणों के निकट बैठ गया और चुपचाप उनकी झिड़कियाँ सुनने लगा। उनके नालागिरि को इस प्रकार वश में कर लेने का समाचार वायुवेग से चारों ओर फैल गया और उसके साथ बुद्ध की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई, यहाँ तक कि अजातशत्रु को भी उनके सामने नत होना पड़ा। उसने बुद्ध के निकट जाकर उनसे क्षमा की याचना की और उनमें अपना दृढ़ विश्वास प्रकट किया। अपने दुष्ट उपायों से बुद्ध की कोई हानि

करने में असफल होकर देवदत्त ने कुछ ऐसे भिक्षुओं को एकत्र किया जो बुद्ध द्वारा शिष्यों और भिक्षुओं को दी गई सुविधाओं को उचित नहीं समझते थे। वह असंतुष्ट व्यक्तियों का नेता बन गया और उसने भिक्षुओं के लिए ये नियम निश्चित किए—(१) प्रत्येक भिक्षु को अरण्यवासी होना चाहिए, (२) उसे केवल भिक्षा मांगकर जीवन-निर्वाह करना चाहिए, गृहस्थों का निमंत्रण कदापि स्वीकार न करना चाहिए। (३) उसे केवल घूर (कूड़ा) पर से इकट्ठे किए हुए चीथड़ों से बनाए गए चीवर का ही उपयोग करना चाहिए, किसी अन्य वस्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिए, (४) उसे सदा वृक्षों की छाया में ही शयन करना चाहिए, छत के नीचे कभी नहीं सोना चाहिए, और (५) उसे बुद्ध के द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों के साथ भी मत्स्य वा मांस का सेवन नहीं करना चाहिए। कहा जाता है कि अपने दुष्कर्मों के कारण देवदत्त को चिरकाल तक नरक भोगना पड़ा।

अंतिम यात्रा

अपने उपदेशों के प्रचार तथा भिक्षु-संघ के संघटन का कार्य समाप्त करके भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण में प्रवेश करने का निश्चय किया। अपना देहत्याग कुशीनगर में करने के विचार से उन्होंने राजगृह से प्रस्थान किया। पाटलिपुत्र का ग्रामपति ब्राह्मण वर्षकार बुद्ध के राजगृह से प्रस्थान करने का समाचार पाकर उनके पास गया और उसने अजातशत्रु की ओर से उनसे पूछा कि वज्जियों को किस उपाय से विजित किया जा सकता है। बुद्ध ने उत्तर में वज्जियों के कुछ विशिष्ट गुणों और कार्यों का उल्लेख करते हुए कहा कि उन्हीं गुणों और कार्यों के कारण वज्जिगण अजेय हैं। राजगृह छोड़ने के बाद भगवान् अंबलट्ठिका और नालंदा (पावारिकंबवन) होते हुए पाटलि-गाम पहुँचे, जो उस समय केवल एक छोटा सा ग्राम था, जिसकी देखरेख अजातशत्रु के दो ब्राह्मण अधिकारी, सुनीढ़ और वस्सकार, किया करते थे। राजा ने उन दोनों अधिकारियों को आज्ञा दे रखी थी कि पड़ोसी शत्रुओं, विशेषत: वज्जियों, के आक्रमण से राज्य की रक्षा के लिए उस ग्राम की दृढ मोरचेबंदी कर दें। पाटलिगाम के निवासी भक्तों तथा अजातशत्रु के ब्राह्मण अधिकारियों ने बुद्ध और उनके संघ का बड़ा आदर-सत्कार किया। ब्राह्मण अधिकारियों ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए जिस द्वार तथा घाट से होकर बुद्ध पाटलिगाम से गए उसका नाम क्रमशः 'गोतमद्वार' तथा 'गोतमतित्थ' रख दिया।

पाटलिपुत्त छोड़ने के बाद बुद्ध कोटिगाम और नादिका (गिजकावसथ) होते हुए वैशाली (अंबपालिवन) गए। मार्ग में जहाँ वे ठहरते थे वहाँ लोगों को धर्म का उपदेश करते थे। अपने आम्रवन में बुद्ध के आगमन का समाचार पाकर गणिका अंबपाली उनके पास, उन्हें तथा उनके संघ को अपने निवास्थान पर पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए निमंत्रण देने गई। बुद्ध ने उसके मोहक सौंदर्य तथा स्त्री-सुलभ हाव-भाव का उल्लेख करते हुए अपने भिक्षु-शिष्यों को सचेत कर दिया कि वे सावधान होकर अपनी इंद्रियों पर संयम रखें। जब अंबपाली निमंत्रण देकर अपने घर लौटने लगी तब उसकी भेंट उन लिच्छवि सरदारों से हुई जो बुद्ध और उनके संघ को भोजन का निमंत्रण देने का गौरव प्राप्त करने में अंबपाली से पिछड़ गए थे। वे स्वयं बुद्ध को पहले निमंत्रण देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अंबपाली से अपना निमंत्रण वापस लेने का आग्रह किया और इसके लिए उसे धन भी देना चाहा, परंतु उसने अस्वीकार कर दिया। उसने बुद्ध और उनके शिष्यों के स्वागत की पूरी तैयारी की और उन्होंने तृप्त होकर भोजन किया। भोजन-दान के पश्चात् उसने भिक्षुओं के निवास के लिए अपना अंबवन दक्षिणा में दे डाला। भगवान् बुद्ध ने उसकी उदारता और उसके धर्मभाव की बड़ी प्रशंसा की और उसे धन और रूप की चंचलता को जानकर धर्म को ही सर्वोत्तम आभूषण समझने का उपदेश दिया। उन्होंने लिच्छवियों को भी संबोधित कर उपदेश दिया कि वे सदाचार का पालन करें, सदा सन्मार्ग पर चलें और धन एवं शक्ति के लोभ तथा अभिमान पर विजय प्राप्त करें। उन्होंने उन्हें उन मिथ्याचारी गुरुओं से सावधान रहने को कहा जो एक पशु का-सा जीवन व्यतीत करके, या तीन बार स्नान करके, या अग्नि में आहुतियाँ देकर, अथवा हृदय को मलिन रखते हुए भी कठोर तपस्या करके आध्यात्मिक शुद्धता प्राप्त करने का दावा करते थे।

कुछ समय तक अंबपाली के वन में रहने के पश्चात् बुद्ध अपने संघ के साथ वर्षा ऋतु व्यतीत करने के लिए वेलुवगाम गए। वहाँ वे बहुत बीमार पड़ गए, परंतु अपनी अस्वस्थता को उन्होंने दबा रखा, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अपने असंख्य भक्तों को सूचना दिए बिना ही परिनिर्वाण प्राप्त करना उचित न होगा। आनंद भगवान् बुद्ध को पुनः स्वस्थ देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि "मैं जानता हूँ कि भगवान् अपने शिष्यों को अंतिम बार उपदेश दिए बिना परिनिर्वाण नहीं प्राप्त करेंगे"। परंतु भगवान् ने उससे कहा कि "अब मैं अस्सी वर्ष का हो चुका हूँ और अपने शरीर को एक जर्जर रथ की भाँति किसी प्रकार चलाए चल रहा हूँ। मेरे शिष्यों को अब

मुझे अपना गुरु और नेता नहीं समझना चाहिए। मेरे सच्चे शिष्यों को उचित है कि वे आत्मनिर्भर हों, मेरे उपदेशों में विश्वास रखें (अत्तदीपो अत्तसरणो अनञ्ञसरणो, धम्मदीपो धम्मसरणो अनञ्ञसरणो) तथा चार स्मृत्युपस्थानों का अभ्यास करें।"

बुद्ध फिर वैशाली लौट आए और आनंद से कहा कि "मुझे यहां के उदेन, गोतमक, सत्तंबक, बहुपुत्त, सरंदद और चापाल 'चेतिय' (चैत्य) बहुत अच्छे लगते हैं।" चापाल चेतिय में रहते हुए उन्होंने आनंद से कहा कि जो चार ऋद्धिपादों (१. इच्छा, २. विचार, ३. सादृश्य और ४. अन्वीक्षा की प्रवृत्तियों को एकाग्र करने की शक्ति) पर अधिकार कर लेता है वह यदि चाहे तो एक कल्प जीवित रह सकता है। भगवान् के इस संकेत को आनंद समझ नहीं सका अतः उस समय उसने उनसे एक कल्प भर जीने की प्रार्थना नहीं की। उसी समय वहां मार भगवान् के समक्ष प्रकट हुआ और उसने उनसे निवेदन किया—"अब आपका लोक में धर्म की स्थापना करने तथा अनेक सच्चे शिष्य बनाने का शुभ संकल्प पूरा हो गया है, अतः आपको अब परिनिर्वाण में प्रवेश करना चाहिए।" बुद्ध ने स्वीकार कर लिया और कहा कि "मैं तीन मास के पश्चात् देहत्याग करूंगा।" जब उन्होंने ऐसा निश्चय किया उस समय उनके कथन की सत्यता की पुष्टि करने के लिए पृथ्वी कांपने लगी। आनंद को जब यह विदित हुआ कि उसके प्रिय गुरु ने अपनी आयु की अंतिम सीमा निश्चित कर दी तो वह शोक-विह्वल हो गया। भगवान् ने उसे यह कहकर समझाया कि प्रियजनों का वियोग संसार में एक अवश्यंभावी घटना है, जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु भी ध्रुव है।

इसके पश्चात् बुद्ध ने वैशाली और उसके आसपास के सब भिक्षुओं को महावन कूटागारसाला में एकत्र होने की आज्ञा दी और उन्हें स्मरण कराया कि उनके संपूर्ण उपदेशों की समष्टि सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म है।[1] फिर अंतिम बार वैशाली की ओर देखकर उन्होंने वहाँ से बिदा ली। भंडगाम, हत्थिगाम और जंबुगाम पार करके वे भोगनगर पहुँचे और वहां अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि वे सदाचार (शील), ध्यान (समाधि), ज्ञान-प्राप्ति (पञ्ञा) और मुक्ति (विमुत्ति) संबंधी नियमों के पालन का विशेष ध्यान रखें। फिर उन्होंने उन्हें बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता की परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करने का आदेश दिया।

१. ये इस प्रकार हैं—४ स्मृत्युपस्थान, ४ सम्यक् प्रहाण, ४ ऋद्धिपाद, ५ इंद्रियां, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ मार्ग।

भोगनगर से वे पावा गए। वहाँ वे चुड नामक एक लोहकार-पुत्र के आम्रवन में ठहरे, जिसने उन्हें पूर्वाह्ण का भोजन करने के लिए अपने यहाँ निमंत्रित किया। चुड ने 'सूकर-मद्दव' पकाकर भिक्षुओं को भोजन के लिए दिया। बुद्ध ने शूकर-मद्दव केवल अपने लिए ग्रहण किया और उसे भिक्षुओं को देने से चुड को यह कहकर मना कर दिया कि वे उसे पचा नहीं सकेंगे। उन्होंने स्वयं उसे खा तो लिया, परंतु वे बहुत बीमार पड़ गए और उन्हें असह्य वेदना होने लगी। तब वे कुशीनगर चले गए और एक वृक्ष के नीचे एक चौपरत किए हुए चीवर पर लेट गए। पुक्कुस मल्लपुत्त ने, जो उनका उपासक हो गया, उन्हें एक उत्तम चीवर दिया। तब उन्होंने ककुट्ठा नदी में स्नान किया और फिर कुशीनगर के मल्लों के सालवन में गए। भगवान् की मृत्यु का समय निकट होने का समाचार पाकर संपूर्ण वैशाली व्यथित हो गई और ऐसी शोक-संतप्त दिखाई पड़ने लगी जैसे एक बालिका अपने पिता की मृत्यु पर अनाथ होकर बिलखती है। उसका शोक इतना गंभीर और मर्मांतक था कि उसे रोना भी नहीं आ रहा था, एक शब्द भी मुख से नहीं निकल रहा था, वह मूक क्रंदन कर रही थी! वीर लिच्छविगण अपना संपूर्ण बल और साहस खो बैठे और बड़ी कठिनाई से धीरज धरकर उन्होंने उस शोक को सहन किया। संसार ने एक महान् मनीषी को खो दिया और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर यह सत्य अंकित हो गया कि समस्त पार्थिव सत्ताओं का एक न एक दिन अंत होना अवश्यंभावी है। विद्वान् भिक्षुगण, देवों और मनुष्यों के उस महान् गुरु के द्वारा उपदिष्ट सत्यों का ध्यान करते हुए, शांतिपूर्वक बैठे रहे। वे इस बात पर विचार कर रहे थे कि अब उनके सर्वज्ञ प्रभु सदा के लिए विश्राम लेने जा रहे हैं। देवों ने भगवान् की देह पर पुष्प-वर्षा करने के लिए सालवृक्षों को पुष्पमय कर दिया। वे देवों के भी देव का अंतिम दर्शन करने के लिए वहाँ आए और भगवान् ने उपावन को, जो उस समय उन्हें व्यजन कर रहा था, स्वयं वहाँ से हट जाने की आज्ञा दी, जिससे उनका दर्शन करने में देवों को बाधा न पड़े। बुद्ध की मृत्यु आसन्न जान देवों को भी बड़ा शोक हुआ।

इसके अनंतर बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को उन चार स्थानों की तीर्थयात्रा करके पुण्यार्जन करने का आदेश दिया जो (१) बुद्ध के जन्म, (२) उनकी बोधि-प्राप्ति, (३) धर्मचक्र-प्रवर्तन, तथा (४) उनके परिनिर्वाण से पवित्र हो चुके थे। उन्होंने अपनी अंत्यक्रिया करने के संबंध में भी उन्हें अनुदेश दिए।

आनंद ने उनसे अपने परिनिर्वाण के लिए चंपा, राजगृह, सावत्थी, साकेत, कोसंबी, और वाराणसी इन छः प्रसिद्ध नगरों में से किसी एक को चुनने की प्रार्थना की थी,

परंतु बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया और उसे कुसीनारा का पूर्व माहात्म्य बतलाया। तब कुसीनारा के मल्ल दौड़े हुए उस स्थान पर पहुँचे जहां भगवान् अंतिम विश्राम कर रहे थे और उन्होंने उनकी पूजा की।

सुभद्द ने, जो एक पाखंडी परिब्बाजक था, अकस्मात् उसी समय स्वयं भगवान् बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु बनने का निश्चय किया और भगवान् ने अपनी शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर भी उसकी इच्छा पूर्ण की।

सुभद्द को दीक्षा देने के अनंतर भगवान् ने आनंद को अपने शिष्यों के लिए यह संदेश दिया—"मेरी मृत्यु के बाद मेरे उपदेश तथा विनय के नियम ही मेरे शिष्यों के गुरु और पथ-प्रदर्शक होंगे। यदि वे आवश्यक समझें तो विनय के कुछ साधारण नियमों को त्याग भी दे सकते हैं।"

इसके पश्चात् वे अंतिम ध्यान में मग्न हो गए और ध्यान में प्रथम से अष्टम भूमिका तक उत्थित हुए। तब वे फिर प्रथम भूमिका पर आए और फिर चतुर्थ भूमिका तक उत्थित होने के अनंतर उन्होने सर्वदा के लिए अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया। पृथ्वी ने कंपित होकर सबको इस महान् दुःखद घटना की सूचना दी और ब्रह्मा तथा देवराज सक्क ने यह कहकर अपना शोक प्रकट किया कि समस्त उत्पन्न प्राणियों और पदार्थों का नाश निश्चित है। अभीष्ट है केवल महानाश, जिसके बाद फिर उत्पन्न न होना पड़े। अनुरुद्ध (जो एक अर्हत् था) ने भगवान् की असाधारण योग-शक्ति की प्रशंसा की और उनके इस मर्त्यलोक से महाप्रस्थान एवं उनकी मुक्ति की उपमा एक निर्वाणासन्न दीपशिखा से दी। परंतु आनंद बेचारा, जो उतनी ऊँची आध्यात्मिक भूमिका तक नहीं पहुँचा था, प्रकृति की रहस्यमयी प्रेरणा के वशीभूत होकर शोकविह्वल हो गया और उसके नेत्रों से निरंतर अश्रुधारा बहती रही! इस प्रकार एक महान् आत्मा का—मनुष्यों और देवों के भी देव का—अंत हो गया, ऐसा निर्मम और अलंघ्य है प्रकृति का नियम—

"अनिच्चा वत संखारा उप्पादवयधम्मिनो॥
ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ति॥"

अध्याय ५

कोसल के ब्राह्मण

बौद्ध ग्रंथों में वर्णित कोसल मोटे तौर पर उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र, अर्थात् नीची पहाड़ियों को लिए हुए गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, और बहराइच जिलों के उत्तरी भाग से मेल खाता है।[1] उसमें कुछ ऐसे ग्राम थे जिनका वर्णन पाली ग्रंथों में विशुद्ध ब्राह्मण-ग्रामों के रूप में किया गया है, यथा—एकसाला, इच्छानंगल, नगरविंद, मनसाकट, वेनागपुर, दंडकप्पक और वेलुद्वार।

ब्राह्मण महासाल

इनके अतिरिक्त कुछ ग्राम ऐसे थे जिन्हें राजा प्रसेनजित् ने विशिष्ट ब्राह्मण गुरुओं तथा एक क्षत्रिय गुरु को दे दिया था। बहुत संभव है कि ये ग्राम उन्हें उनके गुरुकुलों तथा उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों का व्यय वहन करने के लिए दिए गए हों। पाली ग्रथों में ये नाम पाए जाते हैं—

(१) उक्कट्ठ का पोक्खरसादि,
(२) सालवती का लोहिच्च,
(३) ओपसाद का चंकी, और
(४) सेतव्या का पायासि राजञ्ञ[2]।

मनसाकट में विशिष्ट एवं संपन्न (महासाल) ब्राह्मण निवास करते थे, जिनमें से तारुक्ख, जानुस्सोणि और तोदेय्य का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[3] ये ब्राह्मण यज्ञ करने में बहुत धन व्यय किया करते थे। जानुस्सोणि श्वेत सज्जा और रश्मियों-वाली चार श्वेत वामियों द्वारा खीचे जानेवाले श्वेत रथ पर बैठकर चला करता था, जिसके ऊपर श्वेत छत्र लगा रहता था। वह स्वयं श्वेत पगड़ी, श्वेत वस्त्र और श्वेत

१. संयुत्त० १, पृ० ११६—कोसलेसु हिमवन्तपदेसे अरञ्ञ कूटिकायं।

२. उक्त अनुदानों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—सत्तुस्सदं सतिणकट्ठोदकं सधञ्ञं राजभोग्गं रञ्ञा पसेनदि कोसलेन दिन्नं राजदायं ब्रह्मदेय्यम्।

३. दीघ० १, पृ० २३५; तुल० सुत्तनिपात, पृ० ११५।

पदत्राण धारण करता था और उसे श्वेत चवँर (वालवीजम्) डुलाया जाता था। इस वेष में वह श्वेत रथ (ब्रह्मयान) पर आसीन ब्रह्मा के सदृश दिखाई पड़ता था।[१] जिन सुत्तों में उपर्युक्त ब्राह्मण महासालों के बुद्ध से मिलने की चर्चा की गई है वे सभी प्रायः एक ही प्रकार से प्रारंभ किए गए है। उनमें से एक का उदाहरण यहाँ दिया जाता है। पोक्खरसादि से बुद्ध के मिलने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'बुद्ध ५०० भिक्षुओं के साथ कोसल के इच्छानंगल ब्राह्मणग्राम में पहुँचे। उक्कट्ठ के महासाल ब्राह्मण पोक्खरसादि को समण गोतम के इच्छानंगल में आने का समाचार मिला और उसने उनकी यह विशद कीर्ति भी सुनी कि वे बड़े बुद्धिमान, पूर्ण ज्ञानी,संसार तत्त्व को जानने-वाले और मनुष्यों और देवों के श्रेष्ठ गुरु एवं पथ-प्रदर्शक हैं, तथा वे ऐसे सिद्धांतों का उपदेश करते हैं जिनका आदि, मध्य और अंत सभी उत्तम ओर कल्याणमय है और जिनसे शुद्ध और पवित्र जीवन प्राप्त होता है। पोक्खरसादि का एक बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् शिष्य था जिसका नाम था अंबट्ठ। पोक्खरसादि ने उसे यह पता लगाने के लिए भेजा कि क्या समण गोतम की जो कीर्ति सुनी गई है वह सब सत्य है और क्या उनमें वे बत्तीसों लक्षण विद्यमान है जो 'चक्कवत्ती' अथवा 'सम्मा संबुद्ध' में पाये जाने चाहिए? अंबट्ठ बुद्ध से मिला और उसने उनके समक्ष यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ होता है। बुद्ध ने अपने सुविदित तर्कों द्वारा इसका खंडन कर दिया। तब अंबट्ठ ने लक्ष्य किया कि बुद्ध में सभी बत्तीस लक्षण विद्यमान हैं। उसने लौटकर अपने गुरु पोक्खरसादि को इसकी सूचना दी और बुद्ध से जो शास्त्रार्थ किया था उसका भी वर्णन किया। पोक्खरसादि ने ऐसे महान् पुरुष से इस प्रकार का असंगत वार्तालाप करने के लिए अंबट्ठ को धिक्कारा। वह स्वयं उस स्थान पर गया जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे, और उन्हें अपने निवासस्थान पर मध्याह्न के भोजन के लिए निमंत्रित किया। बुद्ध ने उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन उसके यहाँ भोजन करने के पश्चात् धर्म का उपदेश किया। पहले उन्होंने दान और शील का महत्त्व बतलाया और स्वर्गप्रद कर्मों तथा विषय-भोग के कुपरिणामों के विषय पर व्याख्यान दिया। फिर जब देखा कि श्रोताओं का मन कोमल और नमनशील हो गया है तो उन्होंने उन्हें चार श्रेष्ठ सत्यों का उपदेश दिया। बुद्ध के व्याख्यानों का पोक्खरसादि पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह अपनी पत्नी, संतान, परिजनों एवं परिचरों सहित बुद्ध की शरण में आ गया। उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे अपना भक्त समझें

१. मज्झिम० १, पृ० १७६; संयुत्त० ५, पृ० ४।

और जिस प्रकार अन्य उपासकों के यहाँ भिक्षा माँगने जाते हैं उसी प्रकार उसके घर भी भिक्षा ग्रहण किया करें।'

लोहिच्चसुत्त भी इसी प्रकार से प्रारंभ होता है—'लोहिच्च ब्राह्मण ने अपने नाई भेसिक को समण गोतम को निमंत्रण देने के लिए भेजा, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। लोहिच्च ब्राह्मण का यह मत था कि यह सर्वथा उचित है कि मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा पुण्य का अर्जन करे, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों से भी कहता फिरे कि उसे किन उपायों से और क्या-क्या सिद्धियाँ प्राप्त हुई। बुद्ध ने तर्क और युक्ति के द्वारा उसे यह विश्वास करा दिया कि उसका यह मत ठीक नहीं है। उन्होंने उन गुरुओं की कथा सुनाई जिन्होंने पूर्णता नही प्राप्त की थी और जिनके शिष्य उनके उपदेशों का शुद्ध भाव से अनुसरण नहीं करते थे। परंतु बुद्ध तो स्वयं एक पूर्ण और आदर्श गुरु थे और उन्होंने कितनी ही आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वे दूसरों को अपने धर्म का उपदेश देते थे, जो उनका अनुसरण कर उससे लाभ उठाते थे।[1] एक बार लोहिच्च ब्राह्मण[2] की भेंट महाकच्चायन से हुई, जिससे उन्होंने बुद्ध का यह उपदेश सुना कि मनुष्य को आत्मसंयम रखना चाहिए, और आत्मसंयम तभी आ सकता है जब मनुष्य अपने को विषयासक्ति से मुक्त रखे'।

चंकीसुत्त[3] इनसे किंचित भिन्न शैली में आरंभ होता है। चंकी ब्राह्मण ने देखा कि ओपसाद के सभी गृहपति बुद्ध के पास उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं। उसने उनके साथ जाने का निश्चय किया। परंतु दूसरे स्थानों से आए हुए कुछ ब्राह्मणों ने उसे मना कर दिया और कहा—"चंकी! तुम विद्वान् गुरु हो, बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो, संपन्न भी हो और राजा पसेनदि ने तुम्हें अनुदान भी दे रखा है, अतः तुम्हें समण गोतम से मिलने जाना उचित नहीं है।" चंकी ने उन्हें समझाया कि "समण गोतम भी बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनके पास धन संपत्ति की कमी नहीं, परंतु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर युवावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वे पूर्ण सदाचारी हैं और उन्होंने राग को जीत लिया है। वे अगणित मनुष्यों के ज्ञानदाता हैं। उनके अनुयायियों में बिंबिसार और पसेनदि जैसे नृपतिगण भी हैं, और पोक्खरसादि महासाल

१. दीघ, १।

२. हो सकता है, यह लोहिच्च, लोहिच्च महासाल ब्राह्मण से भिन्न रहा हो। संयुत्त० ४, पृ० १२०।

३. मज्झिम० २, पृ० १६४।

ब्राह्मण भी उनका अनुयायी है। वे ओपसाद में पधारे हैं और मुझे उचित है कि उनका उचित सम्मान करूँ।"

चंकी बुद्ध के पास गया और उसके साथ बहुत से ब्राह्मण गए। परन्तु उसने बुद्ध से बातचीत नहीं की। उसने केवल उनका कापथिक-माणवों के साथ सत्य की प्राप्ति और उसकी अनुरक्षा (सचानुपत्ति और सचानुरक्खना) पर शास्त्रार्थ सुना।

जानुस्सोणि ब्राह्मण महासाल बुद्ध से तीन बार मिला था। पहले उसने पिलोतिक परिब्बाजक से सुना कि बुद्ध सम्यक् संबुद्ध हैं, उनका सिद्धात सर्वोत्तम है और उनका सघ श्रेष्ठ और पवित्र है। उनका ज्ञान इतना गंभीर है कि कोई उसकी थाह नहीं पा सकता। जिस किसी विद्वान् ने उनसे शास्त्रार्थ में जूझना चाहा उसे उन्होंने परास्त और निरुत्तर करके अपना अनुयायी बना लिया। उन्होंने कितने ही ब्राह्मणों और गहपति-महासालों को भी अपने तर्क और युक्तियों से समझाकर अपने सिद्धांतों की निर्दोपिता सिद्ध कर दी। पिलोतिक से बुद्ध की ऐसी प्रशंसा सुनकर जानुस्सोणि के हृदय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई और दूर ही से उसने बुद्ध को प्रणाम किया। तदनंतर वह उनके निकट गया और उनसे पिलोतिक के साथ हुई अपनी बातचीत की चर्चा की। बुद्ध ने संक्षेप में उसे अपने धर्म का रहस्य समझाया और इंद्रिय-संयम के उपायों तथा स्मृति एवं ध्यान के अभ्यास (सतिपट्ठान=स्मृत्युपस्थान और समाधि) के विषय में उपदेश दिया।[१] जानुस्सोणि उनके व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुआ और उनका अनुयायी बन गया। एक बार जानुस्सोणि ने उन तापसों की चर्चा की जो ध्यान के अभ्यास के लिए वन में चले जाते थे। उसने कहा कि वन में एकांत जीवन व्यतीत करने के कारण उन्हें बड़ा कष्ट होता होगा। बुद्ध ने उत्तर में उसे अपने सब अनुभव बतलाए जो उन्हें संबोधि-प्राप्ति के पूर्व हुए थे। वे भी वन में एकांतवास में रहकर तपस्या करते थे और कभी-कभी बहुत भयभीत हो जाते थे। परंतु पीछे उन्हें पता चलता था कि उनके भय का कारण कभी तो कोई पशु होता था, जो उनके पास से होकर निकल जाता था, कभी कोई मोर, जो वृक्ष की एक टहनी नोच कर गिरा देता था और कभी केवल भूमि पर गिरे हुए पत्ते, जो हवा से खड़खड़ा उठते थे। बुद्ध ने बतलाया कि भय का वास्तविक कारण अपने ही मन की विकारपूर्ण अवस्था है। जब उन्होंने अपने विकारों को दूर कर दिया तब वे अभय हो गए। भयंकर वन में भी बैठ कर ध्यान करने से उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं लगता था। उन्हें यह सब अनुभव हो चुका था और अंत में

१. मज्झिम० १, पृ० १७६।

उन्हें उच्च आध्यात्मिक शक्तियों तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो गई ।[1] एक अन्य अवसर पर जानुस्सोणि ने यह प्रश्न उठाया कि विश्व की सत्ता है या नहीं । बुद्ध ने अपने सर्वविदित तर्कों द्वारा इन दोनों विरुद्ध कोटि के मतों का खंडन कर दिया और अष्टांग मध्यम मार्ग का उपदेश दिया जिसे उन्होंने ब्रह्मयान की संज्ञा दी ।[2] उनके मत से पदार्थों के अस्तित्व वा अनस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि वे केवल मृगमरीचिका के समान हैं । उनके सत् या असत् होने के विषय में कोई प्रश्न उठाना व्यर्थ है और वह प्रश्न अनुत्तरित (अव्याकत) ही रहना चाहिए ।[3]

राजञ्ञमहासाल—पायासि सुत्तंत की शैली[4] चंकीसुत्त के ही समान है । इस सुत्तंत में समण गोतम के स्थान पर अर्हत् कुमार कस्सप का नाम आता है । पायासि ब्राह्मण महासाल नहीं, प्रत्युत राजञ्ञ था । उसका मत था कि न परलोक है, न कोई स्वयं उत्पन्न जीव हैं, न सत् या असत् कर्मों का कोई फल होता है । कुमार कस्सप ने अनेक उपमाओं और दृष्टांतों द्वारा उसका मत परिवर्तित कर उसे अपना अनुयायी बना लिया ।

ब्रह्मलोक की प्राप्ति—जिन ब्राह्मणों से बुद्ध का संपर्क हुआ वे अधिकतर ब्रह्मपद (ब्रह्मसाह्वयता) प्राप्त करने के प्रयत्न में थे । तेविज्जसुत्त[5] से एक बातचीत यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जाती है —

दो युवा ब्राह्मण विद्यार्थी आपस में विवाद कर रहे थे कि ब्रह्मलोक प्राप्त करने (ब्रह्मसाह्वयता) के लिए पोक्खरसाति द्वारा उपदिष्ट मार्ग उत्तम है अथवा पारुक्ख द्वारा । इस विवाद के निर्णय के लिए वे बुद्ध के पास गए । वे यह मानते थे कि ब्रह्म-लोक प्राप्त करने के लिए विभिन्न शाखा के ब्राह्मणों द्वारा उपदिष्ट अनेक मार्ग हैं, यथा—अद्धरिय (अध्वर्यु), तित्तिरिय (तैत्तिरीय), छंदोक (छांदोग्य-सामवेदीय) और बह्वरिज (बह्वृच-ऋग्वेदीय) । बुद्ध ने उनकी वाद-कोटियों को सुनकर उनसे प्रश्न किया कि क्या किसी ब्राह्मण ने अथवा तुम्हारे गुरु वा गुरु के भी गुरु ने अथवा अट्ठक, वामक, वामदेव, वेस्सामित्त, यामतग्गि, अंगिरस, भरद्वाज, वासेट्ठ, कस्सप, भगु

१. वही १, पृ० १६ ।
२. संयुत्त० ५, पृ० ४ ।
३. वही १, पृ० ७६ ।
४. दीघ०, ३ ।
५. दीघ० १, पृ० २३५ तथा आगे ।

आदि ऋषियों में से किसी ने ब्रह्म को देखा है ? छात्रों ने स्वीकार किया कि किसी गुरु या ऋषि ने यह नहीं कहा कि मैंने ब्रह्म को देखा है। तब बुद्ध ने कहा कि सूर्य और चंद्र तो प्रत्येक व्यक्ति को नेत्रों से दिखाई पड़ते हैं, परंतु फिर भी कोई उन तक पहुँचने का मार्ग हमें नहीं बता सकता। फिर ब्रह्म तो अदृश्य है, उस तक पहुँचने का मार्ग कोई कैसे बता सकता है ? क्या ब्रह्मलोक की खोज करना उस सुंदरी कन्या को पाने का प्रयत्न करने के समान नहीं है जिसका कोई पता ठिकाना ज्ञात नहीं है ? अथवा क्या वह उस व्यक्ति के प्रयत्न के समान नहीं है जो बिना यह जाने कि चढ़कर किस स्थान पर जाना है, अधर में सीढ़ी लगाना चाहता है ? फिर उन्होंने कहा कि ब्राह्मण लोग मंत्र के द्वारा इंद्र, सोम, वरुण, ईशान, प्रजापति, ब्रह्मा आदि देवों को बुलाते हैं।[१] यह तो उसी प्रकार हुआ, जैसे कोई व्यक्ति नदी पार करना चाहता हो और दूसरे तट को अपने पास बुला रहा हो।

इसके पश्चात् उन्होंने उन छात्रों से प्रश्न किया कि क्या यह सत्य नहीं है कि ब्रह्म लोभ, मत्सर तथा अन्य विकारों से रहित है, और क्या ब्रह्मपद के अभिलाषी ब्राह्मण भी उन विकारों से रहित हैं ? यदि नहीं, तो दो भिन्न प्रकार की वस्तुओं (एक विकार रहित, दूसरी सविकार) का मेल (साह्वयता) किस प्रकार संभव है ? ब्राह्मण छात्रों से इसका कोई उत्तर देते न बन पड़ा और तब उन्होंने बुद्ध से पूछा कि क्या आप ब्रह्मलोक का मार्ग जानते हैं ? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया और कहा—"मेरे मत से वह मार्ग यह है कि पहले मनुष्य आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—इन पंचेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले पाँच प्रकार के सुखों (कामगुणाः) से अपना संबंध विच्छिन्न कर पंचबाधाओं (नीवरणों) को नष्ट करे[२], फिर चार विशुद्ध प्रकार के जीवन (ब्रह्मविहार) का अभ्यास करे, अर्थात् सब जीवों के प्रति मैत्री (मेत्ता) और करुणा का भाव रखे, शत्रु-मित्र सभी के सुख में वास्तविक सुख का अनुभव करे (मुदिता) और सुख और दुःख दोनों में

१. संयुत्त० १, पृ० २१९।

२. पाँच नीवरण इस प्रकार हैं—

(क) कामच्छन्द = उत्कट सांसारिक विषय-वासना।

(ख) व्यापाद = ईर्ष्या, द्वेष।

(ग) थीनमिद्ध = आलस्य।

(घ) उद्धच्च-कुकुच्च = औद्धत्य, संशय।

(ङ) विचिकिच्छा = त्रिरत्न में अनास्था।

समान भाव से रहे (उपेक्खा)। इन चार मानसिक अवस्थाओं की प्राप्ति दीर्घकाल के कठिन अभ्यास से प्राप्त होती है, किंतु केवल इन्हीं चारों (जिन्हें ब्रह्मविहार कहते हैं) के द्वारा मनुष्य ब्रह्मलोक के निवास का अधिकारी हो सकता है। इन चारों का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर मनुष्य राग, द्वेष तथा मोह से मुक्त हो जाता है और वह ब्रह्म का साक्षात्कार (ब्रह्मसाह्यता) कर सकता है"।[१]

जन्मना ब्राह्मण की श्रेष्ठता--दूसरा विषय जिसपर ब्राह्मण आचार्यों का बुद्ध से प्रायः शास्त्रार्थ हो जाया करता था, ब्राह्मणों का यह दावा था कि ब्राह्मण जन्म से ही सब जातियों से श्रेष्ठ होता है। उनकी इस श्रेष्ठता को स्वीकार न करने तथा उनके प्रति विशेष आदर भाव न रखने के कारण बुद्ध से वे रुष्ट रहते थे और कई अवसरों पर उन्होंने उनसे उद्धत व्यवहार किया। कहा जाता है कि जब सावत्थी में अग्गिक भरद्वाज यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करके उसमें आहुतियाँ दे रहा था, उसी समय बुद्ध भिक्षाटन करते हुए उसके यज्ञस्थल के निकट पहुँचे। अग्गिक भरद्वाज दूर से ही उन्हें देखकर चिल्लाया--'अरे मुँडिए, भिक्षु, वृपल, वहीं खड़ा रह' (तत्र एव मुण्डक, तत्र एव समणक, तत्र एव वसलक तिट्ठहीति)। बुद्ध ने शान्त भाव से उसके शब्द सुने और उस ब्राह्मण से पूछा कि क्या तुम 'वसलक' का ठीक अर्थ जानते हो? उन्होंने स्वयं उसे बतलाया कि 'वसलक' वस्तुतः वह दुष्ट मनुष्य है जो धर्म और सदाचार के नियमों[२] का पालन नहीं करता, मेरे जैसा साधु वसलक नहीं होता।[३]

सुदरिक भरद्वाज ब्राह्मण यज्ञ में आहुतियाँ (अग्निहुत्त) देने के बाद आहुति का अवशिष्ट घृत (हव्यशेष) देने के लिए किसी व्यक्ति को ढूँढ़ रहा था। उस समय बुद्ध अपने सिर को ढके हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। पैरों की आहट सुनकर उन्होंने सिर पर से वस्त्र हटा लिया और ब्राह्मण को आते देखा। ब्राह्मण उनका मुंडित सिर देखते

१. मज्झिम० २, पृ० १९५, २०७।

२. पंचशील ये हैं--

(क) पाणातिपाता पटिविरतो होति--जीवहिंसा से विरत होना,

(ख) अदिन्नादाना पटिविरतो होति--चोरी से विरत होना,

(ग) मुसावादा पटिविरतो होति--असत्य-भाषण से विरत होना,

(घ) अब्रह्मचरिया पटिविरतो होति--स्त्री-संभोग से विरत होना,

(ङ) सुरमेरयमज्जपमादट्ठाना पटि विरतो होति--मदिरापान तथा प्रमोद के स्थानों में जाने से विरत होना।

३. सुत्तनिपात, पृ० २१।

ही अति क्रुद्ध हुआ और चिल्ला पड़ा—'अरे तू मुँडिया है !' वह लौटने ही वाला था, पर फिर यह सोचकर कि कभी-कभी ब्राह्मण भी सिर मुड़ा लेते हैं, बुद्ध की ओर मुड़ा और उनकी जाति पूछी। बुद्ध ने उत्तर दिया—'मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य; मैं एक संन्यासी हूँ, जो कुछ नहीं चाहता। मुझे दान देने का महान् फल होगा।'[1]

एक बार जब शाक्यों के देश में ब्राह्मणों की एक सभा हो रही थी उस समय बुद्ध सभागृह की ओर जाने लगे। ब्राह्मणों ने कहा—'कौन हैं ये मुँडिए समण ? ये क्या जानें सभा के नियम' ! (के च मुण्डका समणका, के च सभाधम्मं जानिस्सन्ति)।[2] परंतु बुद्ध चुपचाप सभाभवन में चले गए। ब्राह्मणों में कुछ ऐसे थे जिन्हें जन्म से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता में संदेह था। इच्छानंगल में, जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे, वासेट्ठे और भरद्वाज नाम के दो विद्यार्थियों में, जो क्रमशः पोक्खरसाति और तारुक्ख के शिष्य थे, उक्त विषय पर मतभेद हो गया। एक कहता था कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ है, दूसरे का कथन था कि ब्राह्मण अपने कर्मों से, अर्थात् धार्मिक क्रियाओं और सदाचार के नियमों के पालन द्वारा श्रेष्ठ होता है (जातिया बम्हण होति उदाहु भवति कम्मणा)। इस विवाद का निर्णय करने के लिए उन्होंने यह समस्या बुद्ध के समक्ष उपस्थित की, जिन्होंने उन्हें समझाया कि यदि वृक्षों, झाड़ियों, सर्पों और पक्षियों में जन्म से ही भेद नहीं होता तो मनुष्यों में भी जन्मना भेद क्यों माना जाय ? अपने कर्म से ही कोई कृषक (कस्सक) शिल्पी (सिप्पिक), बनिया (वाणिज), सेवक (पेस्सिको), चोर, युद्धजीवी (योधाजीव), याजक अथवा राजा कहलाता है। अतः ब्राह्मण को जन्म से ही श्रेष्ठ होने का दावा नहीं करना चाहिए। बुद्ध ने यह भी कहा कि ब्राह्मण उसी व्यक्ति को कहना चाहिए जो पूर्ण रूप से पवित्र और सदाचारमय जीवन व्यतीत करे। उनके विचार निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किए गए—

> "न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मण।
> कम्मणा ब्राह्मणो होति कम्मणा होति अब्राह्मणो ॥
> तपेन ब्रह्मचरियेन संयमेन दमेन च।
> एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणं उत्तमम् ॥"[3]

(जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न अब्राह्मण। केवल अपने कर्म से ही कोई ब्राह्मण

१. सुत्तनिपात पृ० ७९; संयुत्त १, पृ० १६७।
२. संयुत्त० १, पृ० १८४।
३. सुत्तनिपात, पृ० ११५।

(कर्म ही से लोकों की सत्ता है, कर्म ही से लोकों के मनुष्यों की सत्ता है। सभी जीव अपने पूर्व कर्मों से उसी प्रकार बँधे हुए हैं जैसे चलता हुआ रथ अपने धुरे से।)

ब्राह्मण आचार्यों ने बुद्ध के समक्ष अनेक शंकाएँ समाधान के लिये उपस्थित कीं, विशेषतः ऐसे विषयों पर शंकाएँ, जिनकी उस समय लोगों में चर्चा हुआ करती थी। यथा, विश्व की सत्ता है या नहीं, आत्मा की सत्ता है या नहीं मृत्यु के बाद तथागत (पूर्ण मुक्त जीव) की सत्ता रहती है या नहीं, बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित धर्म के अभ्यास का क्या क्रम है, इत्यादि।

ब्राह्मण गृहस्थ––ब्राह्मण आचार्यों और तार्किकों के अतिरिक्त बहुत से ब्राह्मण गृहस्थ भी बुद्ध के व्याख्यानों को ध्यानपूर्वक सुनते थे। उनमें से कुछ तो उपासक हो गए और कुछ भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गए।

संयुत्तनिकाय[1] में कोसल और शाक्य प्रदेश के अनेक ब्राह्मणों के नाम आए हैं, जो बुद्ध के पास अपनी शंकाएँ लेकर गए और उनके विचारोत्तेजक उत्तरों को सुनकर या तो भिक्षु हो गए अथवा उन्होंने अपने को बौद्धधर्मी उपासक घोषित कर दिया। जिन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं––(१) अहिंसक, (२) जटा भरद्वाज, (३) सुधिक भरद्वाज, (४) अग्गिक भरद्वाज, (५) सुदरीक भरद्वाज, (६) बहुधीति भरद्वाज। जो ब्राह्मण-ब्राह्मणी उपासक हुए उनके नाम ये हैं––(१) उदय, (२) देवहित, (३) लुखयापूरण, (४) मानत्थद्ध, (५) पच्चनीकसात, (६) नवकम्मिक भरद्वाज, (७) कट्ठहार, (८) मातुपोसक, (९) भिक्खक, (१०) संगरव, (११) वेरहच्चानि ब्राह्मणी, (१२) खोमदुस्सक ब्राह्मण गहपतिका। कोसल के बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले ब्राह्मणों की यह सूची पूर्ण नहीं समझी जानी चाहिए, इसमें केवल मुख्य-मुख्य ब्राह्मणों के ही नाम आए है।

साधारणतः बुद्ध अपने गंभीर विचारों का उपदेश उन लोगों को नहीं दिया करते थे जो केवल उपासक थे, अर्थात् बौद्ध धर्म स्वीकार करके भी भिक्षु नहीं हुए थे। उदाहरणार्थ, उपासक मानत्थद्ध ब्राह्मण को उन्होंने अपने माता-पिता, ज्येष्ठ भ्राता और गुरु का आदर करने तथा अपने अहंकार को वश में करने का उपदेश दिया। मातृपोसक ब्राह्मण की उन्होंने इसलिए प्रशंसा की कि वह अपने माता-पिता की सेवा करता था। उससे उन्होंने कहा कि अपने इस पुण्य-कर्म के फलस्वरूप उसका भावी जन्म स्वर्ग में होगा। भिक्खक ब्राह्मण से उन्होंने कहा कि केवल भिक्षा माँगना कोई गुण नहीं

१. संयुत्त० १, पृ० १६५।

है। भिक्षाजीवी को पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। नवकम्मिक और कट्ठहारिक ब्राह्मण बुद्ध को अकेले वन में बैठकर ध्यान करते हुए देखकर बहुत प्रभावित हुए और उनके भक्त हो गए। संगरव ब्राह्मण पवित्र नदियों में स्नान के द्वारा शुद्ध होने में विश्वास करता था, परंतु बुद्ध ने उसका भ्रम दूर किया और कहा कि शुद्धि के लिए सत्य की गंभीर नदी में स्नान करना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य भवसागर को पार कर जाता है (फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता)।[1] इसके पहले संगरव ब्राह्मण धनंजनी ब्राह्मणी से इसलिए रुष्ट हो गया था कि उसने वृद्ध ब्राह्मणों की उपस्थिति में त्रिरत्न की प्रशंसा की थी। परंतु ब्राह्मणी ने संगरव को बुद्ध से मिलने का परामर्श दिया, जो उस समय तोदेय्य ब्राह्मण के आम्रवन चंडालकप्प में पहुँच गए थे। संगरव बुद्ध के पास गया और उसने पूछा कि 'क्या आप को इस जीवन में अभिज्ञाएँ (अभिञ्ञा)[2] प्राप्त हो गई हैं'? बुद्ध ने उत्तर दिया कि तेविज्ज[3] अर्थात् अभिज्ञाप्राप्त व्यक्तियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। एक में वे अर्हत् लोग हैं जो दूसरों के उपदेश सुनकर अभिज्ञा प्राप्त करते हैं; दूसरी में वे तार्किक (तक्की-विमंसी) हैं जो श्रद्धा के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं और तीसरी में सम्मा संबुद्ध हैं जो बिना किसी की सहायता के अभिज्ञा प्राप्त करते हैं। परंतु इसके लिए उन्हें गृहस्थजीवन के सुखों का त्याग कर दीर्घ काल तक कठिन अभ्यास करना पड़ता है। संगरव बुद्ध के वचनों को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और उनका भक्त हो गया।[4] एक अन्य अवसर पर संगरव ने यह स्थापना करनी चाही कि यज्ञ करने से अनेक मनुष्यों का लाभ होता है, यज्ञ करनेवालों का भी और करानेवालों का भी; परंतु बौद्धधर्मी भिक्षु केवल अपने

१. वही, पृ० १८३।

२. छः अभिज्ञाएँ हैं—दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, दूसरों के विचारों का ज्ञान, अपने पूर्व जन्म की स्मृति तथा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति।

३. अंगुत्तर १, पृ० १६६—जानुस्सोणि ब्राह्मण के अनुसार तेविज्ज वह है जो अभिजात-कुलोत्पन्न तथा वेदांगों सहित तीनों वेदों का पंडित है। बुद्ध के मत के अनुसार तेविज्ज वह भिक्षु है जो इतनी ऊँची आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँच चुका हो कि (१) अपने पूर्वजन्मों का वृत्त जान सके, (२) अन्य मनुष्यों के भावी जन्म की बात जान सके, और (३) चार सत्यों को समझकर यह अनुभव करे कि 'मैंने अपने तीन दोषों (आसवों) को नष्ट कर दिया है, मैं मुक्त हो गया हूँ और अब फिर मेरा जन्म नहीं होगा।'

४. मज्झिम० २, पृ० २०९।

ही कल्याण के लिए सब कुछ करता है। बुद्ध ने उत्तर दिया कि भिक्षु भी अनेक व्यक्तियों का कल्याण करते हैं, क्योंकि वे भिक्षु होने के बाद दूसरों को भी सांसारिक जीवन से निवृत्त होकर परिव्राजक का धर्ममय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करते हैं।[१]

एक ब्राह्मणी उपाध्याया थी, जिसका नाम था वेरहच्चानी। उसने अपने एक शिष्य को उदायि को निमंत्रित करने के लिए भेजा जो तोदेय्य के आम्रवन में ठहरे हुए थे। उदायि उसका निमंत्रण स्वीकार कर उसके घर गये। भोजन के पश्चात् ब्राह्मणी खड़ाऊँ पहनकर ऊँचे आसन पर बैठ गई और मुख को अवगुंठित कर उसने उदायि से धर्म का व्याख्यान करने को कहा। परंतु उदायि यह कहकर वहाँ से चले गए कि उपयुक्त समय पर मैं व्याख्यान करूँगा। दूसरी बार ब्राह्मणी ने फिर वैसा ही किया और उदायि फिर बिना प्रवचन किए चले गए। तीसरी बार ब्राह्मणी नंगे पैर, नीचे आसन पर, अवगुंठन हटाकर बैठी और उसने उदायि से दुःख और सुख का कारण पूछा। उदायि ने उत्तर दिया कि सुख-दुःख का कारण मनुष्य की इंद्रियाँ हैं जिन्हें वश में करके वह सुख और दुःख दोनों के परे पहुँच सकता है। ब्राह्मणी इस उत्तर से बहुत संतुष्ट हुई और उपासिका हो गई।[२]

१. अंगुत्तर० १, पृ० १६८-६९।
२. संयुत्त०, ४, पृ० १२१ तथा आगे।

अध्याय ६

बुद्ध तथा राजा प्रसेनजित् और उदयन

बौद्ध धर्म के इतिहास में राजा बिंबिसार के साथ भगवान् बुद्ध का संपर्क अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। उसके बाद कोसल के राजा (प्रसेनजित्) पसेनदि का स्थान है। पसेनदि बुद्ध का केवल समकालीन ही नहीं, उनका समवयस्क भी था।[1] शाक्य लोग तथा संभवतः केसपुत्त के कालाम भी उसके अधीन थे।[2] अनाथपिंडिक के जेतवन विहार का निर्माण पूरा हो जाने पर जब बुद्ध प्रथम बार श्रावस्ती गए तो राजा पसेनदि ने उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए अपनी राजधानी में उनका स्वागत किया और इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि उसके राज्य की भूमि बुद्ध-जैसे महात्मा के चरणों से पवित्र हुई। उसने बुद्ध के उपदेशों को भी सुना, जिनका कदाचित् उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पसेनदि ने उनसे प्रश्न भी किया कि अवस्था में कम होने तथा बहुत तपोवृद्ध न होने पर भी आप क्यों अपने को सम्यक् संबुद्ध घोषित करते हैं, जब कि पूरण कस्सप तथा मंखलि गोसाल जैसे ज्येष्ठ एवं ज्ञान-विशिष्ट आचार्य वैसा नहीं करते। बुद्ध ने उत्तर दिया कि क्षत्रिय, सर्प, अग्नि और भिक्खु—इनके छोटे होने पर भी इनकी शक्ति को कम नहीं समझना चाहिए।[3] एक अन्य अवसर पर, जब राजा पसेनदि मिगार-मातु-पासाद में बुद्ध के सम्मुख बैठा हुआ था, बड़े-बड़े नखों और लंबी जटाओं-वाले सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेल, सात एकसाटक, और सात परिब्बाजक उसके निकट से होकर गए।[4] उन्हें देखकर राजा ने खड़े होकर बड़ी भक्ति के साथ अपना नाम निवेदन कर उन्हें प्रणाम किया और जब वे चले गए तो उसने बुद्ध से उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक सिद्धियों की बड़ी प्रशंसा की। परंतु बुद्ध ने उसकी बात का खंडन किया और कहा कि किसी महात्मा का महात्मापन कोई दूसरा महात्मा ही जान सकता है, गृहस्थ नहीं और महात्मा के महात्मापन की परीक्षा उसके नेम-धर्म, उसके आचरण, विपत्ति में उसके धैर्य तथा उसके दार्शनिक एवं धार्मिक विचार-विमर्श से होती है।

१. मज्झिम० २, पृ० १२४—'भगवापि असीतिको अहं पि असीतिको।'
२. अंगुत्तर० १, पृ० १८८ केसपुत्त कोसल के अंतर्गत ही माना गया है।
३. संयुत्त० १, पृ० ६८-६९।
४. वही० १, पृ० ७८।

जब बुद्ध श्रावस्ती में निवास कर रहे थे उस समय पसेनदि ने एक यज्ञ किया और उसमें अनेक पशुओं की बलि दी। कुछ भिक्षुओं ने इसकी सूचना बुद्ध को दी तब उन्होंने कहा कि अस्समेध, पुरिसमेध, सम्मापास और वाजपेय यज्ञों से, जिनमें पशुओं की बलि दी जाती है, मनोवांछित फलों की प्राप्ति नही हो सकती। केवल उन्ही धार्मिक कर्मो से इष्ट फल की प्राप्ति होती है, देवता प्रसन्न होते हैं और यजमान को पुण्य होता है जिनमें पशुओं की बलि नही दी जाती।[1]

राजा पसेनदि ब्राह्मणों के कर्मकांड और शास्त्रो का प्रबल समर्थक था, यह उसके उन ग्रामों के दानों से भी प्रमाणित होता है जिन्हे उसने विशिष्ट ब्राह्मण आचार्यों को उनके गुरुकुलों और छात्रों के अनुरक्षण के लिए दिया था (द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ९५)। वह किस प्रकार शनैः शनैः बुद्ध और उनके उपदेशों की ओर आकृष्ट हुआ, इसका वर्णन कुछ कथाओं मे मिलता है।

यद्यपि त्रिरत्न मे पसेनदि का पक्का विश्वास नही था तथापि वह संघ को दान और सहायता देने लगा। उसने ५०० भिक्षुओं को नित्य भोजन देने के लिए एक सत्र खोल दिया। वह वहाँ उत्तम और स्वादिष्ट पक्वान्न भेजा करता था, परंतु भिक्षु लोग उसे न ग्रहण कर साधारण गृहस्थो के ही यहाँ भिक्षा माँगने जाया करते थे। राजा ने बुद्ध से इसकी शिकायत की कि भिक्षु लोग उसके सत्र में भोजन नहीं ग्रहण करते, और उनसे इसका कारण जानना चाहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि इसका कारण पसेनदि तथा राज-परिवार के व्यक्तियों के हृदय में संघ के प्रति श्रद्धा एवं भिक्षुओं के प्रति उचित आदर का अभाव है। इसके पश्चात् पसेनदि ने एक शाक्य कुमारी को अपनी रानी बनाकर शाक्यों से अपना नाता जोड़ने का निश्चय किया। परंतु शाक्यों को अपनी वंश-शुद्धता का बड़ा अभिमान था, अतः उन्होंने पसेनदि से छल करके, उसे शाक्य राजकुमारी न देकर, उसके साथ वासभखत्तिया नाम की एक कन्या का विवाह कर दिया जो शुद्धोदन के उत्तराधिकारी महानाम की दासी के गर्भ से उत्पन्न पुत्री थी।

इस विवाह के कुछ दिनों बाद राजा प्रसेनजित् राजा अजातशत्रु के द्वारा आक्रांत और पराजित हुआ। अपनी रक्षा के लिए भागते हुए उसने कोसल के प्रधान माली के उपवन में शरण ली। उस माली के मल्लिका नाम की एक बड़ी धर्मात्मा और रूपवती कन्या थी, जिसे पसेनदि ने अपनी पटरानी बना लिया। रानी मल्लिका बुद्ध की बड़ी भक्त थी।

१. संयुत्त० १, पृ० ७५-६; अंगुत्तर० २, पृ० ४२।

इसके पश्चात् उप्पलगंध के एक धनकुबेर श्रेष्ठि के भिक्षु हो जाने पर पसेनदि ने उसकी पत्नी को अपनी रानी बना लिया। यह रानी भी बुद्ध की भक्त थी। पसेनदि के राजप्रासाद में ५०० रानियाँ थीं और सभी जेतवन में होनेवाले धार्मिक प्रवचनों को सुनना चाहती थीं, परंतु पसेनदि ने उन्हें वहाँ जाने की अनुमति नहीं दी। हाँ, उसने बुद्ध से यह प्रार्थना अवश्य की कि वे एक भिक्षु को प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन करने के लिए प्रासाद में भेज दिया करें। बुद्ध ने इस कार्य के लिए आनंद को नियुक्त कर दिया। परंतु बुद्ध-द्वेषी अश्रद्धालु पंडितों को यह व्यवस्था अच्छी न लगी और उन्होंने आनंद तथा प्रासाद की स्त्रियों के चरित्र पर लांछन लगाने का प्रयत्न किया, यद्यपि इसमें वे सफल नहीं हुए।

मल्लिका पसेनदि की सबसे प्रिय रानी थी। जब उसने एक कन्या को जन्म दिया तो राजा प्रसन्न नहीं हुआ। वह बुद्ध के पास गया, परंतु बुद्ध ने उससे स्त्री के गुणों की बड़ी प्रशंसा की। मल्लिका बुद्ध की इतनी भक्त थी कि उनके प्रत्येक शब्द को वह वेद-वाक्य मानती थी। एक बार उसने बुद्ध के इस वचन मे अपना पूरा विश्वास प्रकट किया कि 'प्रियजन दु:ख के कारण होते हैं,' परंतु राजा को यह बुरा लगा। मल्लिका ने नालिजंघ ब्राह्मण के द्वारा बुद्ध से उक्त वचन की पुष्टि कराने के बाद राजा को उसका रहस्य समझाकर उसे यह विश्वास करा दिया कि बुद्ध का वचन सत्य है। उसने राजा से कहा कि 'वजिरा (मल्लिका की कन्या और अजातशत्रु की रानी), वासभखत्तिया, उसका पुत्र विडूडभ, मैं और कासिकोसल के निवासी प्रजाजन निस्संदेह आपको परम प्रिय हैं, परतु क्या यह सत्य नहीं है कि हम सभी जरा और मृत्यु के अधीन हैं और इस कारण अंत में दु:ख के कारण होंगे?'[१] एक अन्य अवसर पर बातचीत में पसेनदि ने मल्लिका से स्वीकार किया कि मनुष्य को अपने आपसे बढकर कोई भी प्रिय नहीं होता, और बुद्ध के वचन द्वारा इसकी भी पुष्टि हुई।[२] रानी मल्लिका की मृत्यु के पश्चात् राजा सांत्वना के लिए बुद्ध के पास गया। अपनी दादी की मृत्यु के पश्चात् भी वह सांत्वना के लिए बुद्ध के पास गया था।[३] राजा के सोमा और सुकुला नाम की दो बहनें थीं, वे भी बुद्ध की बड़ी भक्त थीं।[४]

१. मज्झिम० २, पृ० १०९ तथा आगे।
२. संयुत्त० १, पृ० ७५।
३. अंगुत्तर० ३, पृ० ५७, ९७।
४. मज्झिम० २, पृ० १२५।

ब्राह्मणो के प्रति राजा का पक्षपात होते हुए भी, निकायों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि धीरे-धीरे वह अपनी वृद्धावस्था तक बुद्ध का सच्चा उपासक बन गया। कोसल संयुत्त[1] में अनेक ऐसे प्रवचन हैं जो विशेष रूप से पसेनदि के ही लिए किए गए थे। उनमें निम्नलिखित उपदेश दिए गए हैं—

(क) लोभ, द्वेष और मोह दुःख के प्रधान कारण हैं।

(ख) सभी ब्राह्मण और सभी क्षत्रिय, चाहे वे कितने ही धनी क्यों न हों, जरा और मृत्यु के अधीन हैं, इसलिए उन्हें धर्म और सदाचार का पालन करना चाहिए।

(ग) मन, वचन, अथवा कर्म से जो मनुष्य कोई पाप करता है वह अपने आत्मा का भी प्रिय नहीं करता, क्योंकि उसके पापों के कारण उसकी आत्मा को अगले जन्मों में दुःख भोगना पड़ता है।

(घ) कोई भी सेना मनसा, वाचा अथवा कर्मणा पाप करनेवाले की दुःख से रक्षा नहीं कर सकती।[2]

(ङ) ऐसे बिरले ही लोग होंगे जो सांसारिक भोग-विलास में डूबे रहने पर भी अपने ऊपर संयम रख सकें।

(च) कितने ही संपन्न लोग भी अपने सांसारिक लाभों के लिए जान-बूझकर असत्य भाषण करते हैं।

(छ) मिताहारी होना मनुष्य के लिए कल्याणकर है (पसेनदि ने एक ब्राह्मण युवा को इसलिए नियुक्त किया था कि वह भोजन के समय उसे इस वचन का स्मरण दिलाया करे)।

(ज) अपने राजपुरुषों और परिचरों को परिश्रमी बनाने के लिए राजा को स्वयं परिश्रमी बनना चाहिए।

(झ) बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांग मार्ग मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र और गुरु है।

(ञ) कृपणता मनुष्य को कहीं का नहीं रखती।

(ट) दान ऐसे संतों को देना चाहिए जो उसके पात्र हों, जिनके विकार नष्ट हो गए हों और जो उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच चुके हों।

एक बार सावत्थी और साकेत के मार्ग के मध्य में स्थित तोरणवत्थु में राजा पसेनदि

१. संयुत्त० १, पृ० ६८ और आगे।

२. मज्झिम०। २, पृ० ११४। आनंद राजा को समझाता है कि कायसमाचार, वाचिसमाचार और मनोसमाचार क्या हैं।

की भेंट खेमा भिक्खुणी से हुई जो पहले राजा बिंबिसार की रानी थी और अपनी सुद-रता के के लिए प्रसिद्ध थी। अब एक संत भिक्खुणी के रूप में उसकी ख्याति सुनकर राजा उसके पास गया और उससे प्रश्न किया कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं ? खेमा भिक्खुणी ने कहा कि इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया जा सकता, क्योंकि यह तो वैसा ही प्रश्न है जैसे कोई राजा से प्रश्न करे कि क्या तुम अपने गणक की सहायता से यह बता सकते हो कि गंगा में कितने सिकता-कण हैं अथवा समुद्र में कितना जल है ? खेमा ने राजा को समझाया कि मूर्ख मनुष्य तथागत को मन तथा पंचभूतों अर्थात् पंचस्कंधों का बना हुआ एक मनुष्य समझते हैं, परंतु तथागत तो पंच-स्कंधों (खंध) से सर्वथा रहित हैं, अतः उनका रूप समुद्र के समान ही अमेय और अज्ञेय है।[1]

राजा पसेनदि जब अस्सी वर्ष का हुआ तब वह बुद्ध का परम भक्त हो गया। यह घटना उस समय घटी जब बुद्ध शाक्यों के राज्य के अंतर्गत मेदलुंप मे ठहरे हुए थे। राजा वहाँ नंगरक से अपने प्रधानमंत्री दीघकारायण के साथ गया। बुद्ध के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होने के पहले राजा ने अपना मुकुट और खड्ग दीघकारायण को सौंप दिया। कहते हैं कि उस समय दीघकारायण राजा से अप्रसन्न था, अतः अनायास अवसर हाथ आया देख वह असि और मकुट लेकर वहाँ से भाग आया। ये दोनों वस्तुएँ उसने राजा के पुत्र और सेनापति विडूडभ को सौंप दीं और उसे कोसल का राजा बना दिया। राजा पसेनदि बुद्ध से घुलकर बातें करता रहा और बौद्ध संघ के भिक्षुओं की उसने बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा कि मैं 'अनेक संन्यासियों को जानता हूँ जो १० से ४० वर्ष तक गृहत्यागी रहकर पुनः गृहस्थ जीवन में लौट आए और विषयभोग में पड़ गए'। परंतु किसी बौद्ध भिक्षु को ऐसा करते मैंने नही देखा। मैंने पिता, माता और पुत्र को तथा राजाओं और उनके सामंतों को परस्पर लड़ते देखा है, परंतु बौद्ध भिक्षुओं को सदा शांति और मेल से रहते पाया है। मैंने ऐसे संन्यासियों को देखा है जो रुग्ण होकर पीले पड़ गए हैं, परंतु बौद्ध भिक्षुओं में किसी को ऐसा नहीं पाया। मैंने न्यायालयों में लोगों को गप्पें मारते हुए सुना है परंतु जिस सभा में बुद्ध का प्रवचन होता है उसमें मैंने गप्पें मारने को कौन कहे, कभी किसी को खाँसते हुए भी नहीं सुना। वहाँ कोई प्रश्न भी नही करता, जैसा कि मैंने अन्य धर्माचार्यो की सभाओं में लोगों को करते देखा

१. संयुत्त० ४, पृ० ३७७ 'तथागतो गम्भीरो अप्पमेय्यो दुप्परियोगाहो सेय्यथापि महासमुद्दो', अंगुत्तर १, पृ० २२७।

है। अंत में राजा ने अपने इसिदत्त और पूरण नामक दो अधिकारियों की चर्चा की, जो अपने स्वामी और अन्नदाता से अधिक बुद्ध का आदर करते थे। इस प्रकार राजा पसेनदि ने बुद्ध के प्रति अपना विशेष आदरभाव प्रकट किया।[1] अंगुत्तर निकाय[2] के अनुसार राजा पसेनदि जेतवन में बुद्ध के पास उस समय गया था जब वह एक युद्ध मे विजय प्राप्त करके लौटा था। वह बड़े आदरभाव के साथ बुद्ध के निकट गया और निम्नलिखित कारणों से उसने उनकी प्रशंसा की––

(१) बुद्ध ने अपना जीवन मनुष्य के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया था; (२) वे पूर्ण सदाचारी थे; (३) उन्हें अरण्य-वास में आनंद मिलता था, (४) वे अपने भोजन, वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुओं के संबंध में यथालाभ संतोष करते थे; (५) वे सचमुच दान और प्रशंसा के पात्र थे; (६) एकांतवास, सदाचार, ध्यान आदि विषयों की चर्चा करने से उन्हें आनंद मिलता था; और (७) उन्हें षडभिज्ञाएँ प्राप्त थी।

राजा पसेनदि के कार्याधिकारी

राजा पसेनदि के इसिदत्त और पूरण नाम के दो कार्याधिकारी थे। उनकी त्रिरत्न में बड़ी श्रद्धा थी। सावत्थी में वर्षा-निवास के बाद जब बुद्ध वहाँ से जाने लगे तो वे दोनों बड़े दु.खी हुए। वे इसलिए बड़े चिंतित रहते थे कि जब राजा पसेनदि अपनी दो सुकुमार और सुंदरी रानियों के साथ, एक को अपने आगे और एक को पीछे बैठाकर, हाथी पर सवार होता था तो उसकी रक्षा का भारी उत्तरदायित्व उन्हीं दोनों अधिकारियों को वहन करना पड़ता था। एक ओर उन्हें हाथी को देखना पड़ता था, दूसरी ओर दोनों रानियों को, और सबसे बढ़कर उन्हें उन दोनों मोहिनी नारियों से अपने को बचाकर रखना पड़ता था। बुद्ध ने उन्हें त्रिरत्न में दृढ़ विश्वास रखने तथा कृपणता छोड़कर उदारतापूर्वक दान देने का (जिसके लिए वे पहले ही से प्रसिद्ध थे) उपदेश दिया।

पूरण की मिगसाला नाम की एक कन्या थी, जो उपासिका हो गई थी। उसने एक बार आनंद से पूछा कि उसका पिता, जो ब्रह्मचारी था, और इसिदत्त, जो अपनी स्त्री के साथ रहता था, दोनों ही क्यों मृत्यु के पश्चात् 'सकदागामी' पद के अधिकारी हुए? आनंद ने यह प्रश्न बुद्ध के सामने उपस्थित किया, तब बुद्ध ने समझाया कि

१. मज्झिम० २, पृ० ११८ तथा आगे।
२. अंगुत्तर० ५, पृ० ६५।

विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न मार्ग होते हैं।[1]

राजा पसेनदि के राजगुरु गग्ग के पुत्र अहिंसक का चरित्र बड़ा ही विचित्र और उदात्त था। उसका 'अहिंसक' नाम तो लोग प्रायः भूल गए और पूर्वोल्लिखित कारणों[2] से वह अंगुलिमाल के नाम से दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। एक दिन जब पसेनदि ५०० अश्वारोही योद्धाओं के साथ साहसिक (डाकू) अंगुलिमाल को बंदी करने के लिए जा रहा था, तो उसने बुद्ध से मिलकर उन्हे अपना उद्देश्य बतलाया। बुद्ध ने उससे पूछा कि यदि तुम अंगुलिमाल को सिर मुँडाए और पीला वस्त्र पहने हुए भिक्षु के रूप में पाओ तो क्या करोगे ? तब पसेनदि ने उत्तर दिया कि मैं उसका उचित सम्मान करूँगा। तब बुद्ध ने उसका ध्यान अपने दाहिने पार्श्व में बैठे हुए एक भिक्षु की ओर आकर्षित किया और कहा कि अब इससे भय का कोई कारण नही है। जब अंगुलिमाल पुरवासियों के पास भिक्षा माँगने के लिए जाता था तो लोग उससे घृणा करते थे और कभी-कभी उसे मारते-पीटते भी थे। एक दिन जब अंगुलिमाल भिक्षा माँगने के लिए गया हुआ था तो एक स्त्री को असह्य प्रसव-वेदना से छटपटाते हुए देखा। लौटकर उसने बुद्ध को यह समाचार सुनाया, तब उन्होंने उसे फिर लौटकर उस स्त्री के पास जाने की आज्ञा दी और कहा कि तुम जाकर उससे इस प्रकार कहो—"यतो अहं भगिनी जातो नाभिजानामि संचिच्चा पाणं जीविता वोरोपेता, तेन सच्चेन सोत्थिते होतु सोत्थि गब्भस्सति" (अर्थात् मेरे इस सत्य वचन के प्रभाव से कि मैंने अपने जन्म से लेकर आज तक कभी जान-बूझकर किसी जीव की हत्या नही की, तुम स्वस्थ हो जाओ और सुख से प्रसव करो)। इस पर अंगुलिमाल ने बुद्ध की ओर संदेह की दृष्टि से देखा, तब उन्होंने बतलाया कि 'जातो' से मेरा तात्पर्य एक दीक्षा-प्राप्त भिक्षु के रूप में तुम्हारे पुनर्जन्म से है। अंगुलिमाल के इस सत्य कर्म का अभीष्ट फल हुआ और कोसल भर में उसका यश फैल गया।[3]

कौशांबी का राजा उदयन (उदेन)

कौशांबी के राजा उदेन के पास संभवत. हाथियों की एक शक्तिशाली सेना थी,

१. अंगुत्तर० ३, पृ० ३४८।
२. द्रष्टव्य अध्याय ४, पृ० ८६।
३. मज्झिम० २, पृ० ९७ तथा आगे।

इस कारण वह एक बहुत बड़े हस्तिपालक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और उसके विषय में कहानियाँ प्रचलित हो गई। कहा जाता है कि हाथी पालने की कला में अपनी इस विशेष निपुणता के द्वारा ही वह अवंती के राजा चंड पज्जोत की कन्या वासवदत्ता का हरण करने में समर्थ हुआ। घोषक सेट्ठि उसका कोषाध्यक्ष था, जिसने अपने एक मित्र की पुत्री सामावती को अपनी कन्या के रूप में गोद ले लिया था। सामावती अत्यंत सुंदरी थी। राजा उदेन उसपर मोहित हो गया और घोषक की इच्छा के विरुद्ध उसने उसे अपनी रानी बना लिया। उसने मागंदिया नाम की एक ओर सुंदरी से विवाह किया जो कुरु देश के एक ब्राह्मण की कन्या थी। जब बुद्ध कौशांबी के तीन सेट्ठियों की प्रार्थना पर वहाँ गए थे तो सामावती की परिचारिका खुज्जुत्तरा बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए जाया करती थी। वह त्रिपिटक के ज्ञान में प्रवीण हो गई और बुद्ध से सुने हुए उपदेशों का वह अनुवचन कर सकती थी। रानी सामावती और उसकी सखियों ने खुज्जुत्तरा से बुद्ध के उपदेशों का अनुवचन सुना और उन्हें त्रिरत्न में श्रद्धा हो गई। जब कभी बुद्ध राजप्रासाद के निकट से होकर जाते तो वे गवाक्षों में से उन्हें देखतीं और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया करती थीं। रानी मागंदिया ने इसे देख लिया और इसकी सूचना राजा को दे दी। बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रति राजा के भाव बहुत अच्छे न थे। मागंदिया ने भिक्षुओं को, जिनमें आनंद भी था, अपशब्द कहने और अपमानित करने के लिए कुछ मनुष्यों को नियुक्त किया और आनंद ने बुद्ध से इसकी शिकायत की। बुद्ध ने आनंद को अपशब्दों और अपमान की परवाह न करके सहनशीलता धारण करने का उपदेश दिया। मागंदिया ने ऐसा प्रपंच रचा कि राजा सामावती से बहुत अप्रसन्न हो गया। वह उसका वध करा देना चाहता था, परंतु किसी अदृष्ट शक्ति के प्रभाव के कारण वह इसमें असफल रहा और रानी बच गई। पीछे राजा ने पश्चात्ताप किया और प्रतिदिन राजप्रासाद में भिक्षुओं को भोजन कराने की सामावती की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह राजप्रासाद की स्त्रियों द्वारा भिक्षुओं को वस्त्रों का प्रचुर दान दिए जाने पर आपत्ति करता था, परंतु जब आनंद ने उसे बतलाया कि भिक्षु लोग उन वस्त्रों का किस प्रकार उपयोग करते हैं, तब उसके विचार बदल गए। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि बुद्ध से कभी उसकी भेंट हुई। केवल एक प्रवचन संयुत्त निकाय (४, पृ० ११०) में है जिसमें पिंडोल भरद्वाज ने राजा उदेन को इसका कारण बतलाया है कि क्यों युवकगण भिक्षु बनकर बुद्ध के संघ में सम्मिलित हो जाते थे। इस प्रवचन के अनंतर राजा ने त्रिरत्न में अपनी आस्था प्रकट की।

किंतु राजा उदेन के पुत्र बोधि राजकुमार की बुद्ध के प्रति अपने पिता की अपेक्षा

कहीं अधिक श्रद्धा थी। उसने भग्ग देश में सुसुमार गिरि पर बने हुए अपने कोकनद नामक राजप्रासाद में गृहप्रवेश के निमित्त बुद्ध को निमंत्रित किया। उसने बुद्ध के लिए सीढ़ियों पर बहुमूल्य कालीन बिछाए, यद्यपि उन्होंने उसपर से चलना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे अपने शिष्यों के सामने विलासिता का बुरा उदाहरण नहीं रखना चाहते थे। बुद्ध ने उसके प्रासाद में भोजन करने के उपरांत राजकुमार को धर्म का उपदेश दिया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि कठोर तपों से सदैव सुख की प्राप्ति नहीं होती। उन्होंने स्वयं तप करके इसका अनुभव प्राप्त किया था। इसके अनंतर उन्होंने उसे समझाया कि जिस प्रकार संसार में किसी भी कला या शिल्प आदि को सीखने के लिए श्रद्धा, शक्ति, शुद्ध व्यवहार तथा उत्तम स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भिक्षुओं के लिए भी ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करने के लिए ये गुण आवश्यक है। इस उपदेश से राजकुमार के ज्ञाननेत्र खुल गए और वह बुद्ध का श्रद्धालु उपासक हो गया। उस समय राजकुमार ने कहा कि जब मै बालक था तभी मेरी माता की इच्छा थी कि मैं बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करूँ, अतः मेरा बुद्ध का उपासक बन जाना मेरी माता की उस इच्छा के अनुरूप ही है।

अध्याय ७

उपासकों की साधना

कोसल के कुछ ब्राह्मण आचार्यों और गृहस्थों को यह जिज्ञासा हुई कि क्या ब्राह्मण आचार्यों की भाँति बुद्ध ने भी अपने शिष्यों के लिए साधना का कोई क्रम निर्धारित किया है ? सुभ तोदेय्यपुत्त का कथन था कि ब्राह्मणों ने श्रेय-साधन के लिए पाँच नियम बतलाए है--(१) सत्य (सच्चं), (२) तप (तपं), (३) शुद्ध और पवित्र जीवन (ब्रह्मचरियं), (४) अध्ययन (अज्झेसनं) और (५) दान वा त्याग (चाग) ।[1] बुद्ध ने सुभ-माणव से प्रश्न किया कि 'क्या तुम किसी ऐसे ऋषि या आचार्य को जानते हो जिसे इन नियमों के अनुसार आचरण करने का फल प्राप्त हुआ हो ? सुभ ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया। बुद्ध ने पूछा कि क्या इन नियमों के अनुसार आचरण करने का अभ्यास गृहस्थ वा संन्यासी लोग करने हैं ? सुभ ने उत्तर दिया कि इनका अभ्यास गृहस्थ लोग करते हैं, परंतु गृहत्यागी लोग इनका पालन अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। बुद्ध उसके इस उत्तर से सहमत हुए और उन्होंने उससे कहा कि इन साधनाओं में से प्रत्येक के द्वारा द्वेष, वैर आदि विकारों से मन को मुक्त करके उसे ध्यान के योग्य बनाने में सहायता मिलती है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग से मनुष्य को आंतरिक शांति और आनंद प्राप्त होता है और ध्यान में एकाग्रता आती है। गृहस्थ लोग इनकी साधना के द्वारा अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं, यद्यपि उन्हें इनसे उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँचने में प्रत्यक्ष गईसहायता नहीं मिल सकती।[2]

उपासक--सुभ तोदेय्य द्वारा व्याख्यात ब्राह्मणों का उपर्युक्त साधना-क्रम मुख्यतः गृहस्थों के लिए था, गृहत्यागियों के लिए नहीं, जिनको विशेष रूप से लक्ष्य करके बुद्ध ने साधना का मार्ग निर्दिष्ट किया था। अतः बुद्ध ने सुभ से कहा कि मैंने अपने उपासकों के लिए कुछ नियम और कर्तव्य निर्धारित कर दिए जो ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित साधनाक्रम के समान ही फलप्रद हैं। वस्तुतः बुद्ध ने उपासकों के लिए कोई

१. मज्झिम० २, पृ० १९९।
२. वही २, पृ० २०६।

की अपे

साधना-पद्धति निश्चित नहीं की।[1] परंतु उनके पथ-प्रदर्शन के लिए दिए गए उनके कुछ उपदेश बिखरे हुए मिलते हैं। उन उपदेशों को एकत्र संकलित कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे बौद्ध धर्म के अंतर्गत उपासकों के स्थान की कल्पना की जा सकती है। कपिलवत्थु के शाक्य राजपुत्र महानाम ने बुद्ध से यह प्रश्न किया था कि बौद्ध उपासक की परिभाषा क्या है। बुद्ध ने उत्तर दिया कि जो कोई व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति वा धर्म का हो, निम्नलिखित नियमों का पालन करता है उसे मैं उपासक मानता हूँ––

(१) **त्रिशरण**––उपासक के लिए बुद्ध, धम्म और संघ––इन तीनों की शरण लेना आवश्यक है।

(२) **पंचशील**––उसे पंचशील का पालन करना चाहिए, अर्थात् जीव-हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य-भाषण तथा मदिरापान कभी न करना चाहिए।

(३) **सद्धा** (श्रद्धा)––उसे बुद्ध को सृष्टि-तत्त्व के ज्ञाता, मनुष्यों और देवों के सर्वश्रेष्ठ गुरु और पथ-प्रदर्शक एवं सम्यक् संबुद्ध मानकर उनमें दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए।

(४) **चाग** (त्याग)––उसे कृपणता त्याग कर उदारतापूर्वक धर्म के कार्यों में धन व्यय करना चाहिए और याचकों को दान देने के लिए सदा समुत्सुक रहना चाहिए।

(५) **पञ्ञा** (प्रज्ञा)––उसे अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए और पदार्थों की उत्पत्ति एवं नाश के रहस्य तथा दुःख से मुक्त होने के उपाय को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] उसे लोभ (अभिज्झा), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (थीनमिद्धं), औद्धत्य (उद्धच्च–कुकुच्च) एवं त्रिरत्न में संशय-भाव (विचिकिच्छा) का सर्वथा त्याग करना चाहिए।[3]

१. सुत्तनिपात (सावत्थी में प्रोक्त धम्मिक सुत्त), पृ० ६९-७०––

"गहट्ठवत्तं पन वो वदामि
यथकारो सावको साधु होति
नो हेस लब्भा सपरिग्गहेन
फस्सेतं यो केवलो भिक्खु धम्मो।"

(मैं तुम्हें गृहस्थों का धर्म बतलाता हूँ जिसके द्वारा मनुष्य अच्छा उपासक बन सकता है, परंतु सांसारिक बंधनों में फँसे हुए मनुष्य के लिए भिक्षु-धर्म सुलभ नहीं है।)

२. संयुत्त० ५, पृ० ३९५।

३. अंगुत्तर० २, पृ० ६७।

(६) **सुत्त** (सं० श्रुत)——उसे धार्मिक प्रवचनों को ध्यानपूर्वक सुनना और उपदेशों पर मनन करना चाहिए।

कुछ उपासकों को बुद्ध के प्रवचनों का अध्ययन करने का भी उपदेश किया गया था। धम्मिकसुत्त[1] में तथा अन्यत्र बुद्ध ने उपासकों का यह धर्म बतलाया है कि वे दस शीलों में से प्रथम पाँच का, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, पालन करें और जो अपनी साधना में और अधिक गहराई तक पैठना चाहें उन्हें तीन और शीलों का पालन करना चाहिए, जो निम्नलिखित हैं——

(१) रात्रि में भोजन न करना।

(२) माला और सुगंधित पदार्थों का सेवन न करना।

(३) धरती पर साधारण शय्या बिछाकर सोना।

बुद्ध ने इन आठ शीलों का पालन करनेवालों की बड़ी प्रशंसा की है। उनके मत से उन्हें भारत के सोलह महाजनपदों की प्रभुता से भी बढ़कर महान् फल की प्राप्ति होती है (महप्फलो महानिसंसो महाजुतिको महाविप्पहारो) और वे दिव्य लोकों में जन्म लेकर दीर्घ जीवन और दिव्य सुखों के अधिकारी होते हैं।

उपासक साधारणतः उपोसथ के दिन अर्थात् मास की आठवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं तिथियों को उक्त अष्टशीलों का पालन करने की प्रतिज्ञा करता था और ऐसा करने के लिए वह प्रायः विहार में रहता था। उपोसथ के बाद भिक्षुओं को भोजन कराना उसका कर्तव्य था।

एक दूसरे अवसर पर महानाम के साथ धर्म-चर्चा के प्रसंग में बुद्ध ने कहा था कि उपासक को केवल स्वयं ही उपर्युक्त छः नियमों का पालन नहीं करना चाहिए, अपितु दूसरों को भी उसके लिए प्रेरित करना चाहिए। सच्चे उपासक को मांगलिक विधि-कर्मों (कोतूहल-मंगलिको) की अपेक्षा अपने ही सत्कर्मों पर अधिक निर्भर रहना चाहिए। दान भी उसे केवल सद्धर्मियों को ही देना चाहिए, सद्धर्म के बाहर के लोगों को नहीं (नो इतो बहिद्धा दक्खिणेय्यम्)।[2]

कई अवसरों पर बुद्ध ने आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत स्तर पर पहुँचे हुए उपासकों को और अधिक कठिन साधनाएँ करने की आज्ञा दी थी। एक बार जब बुद्ध भग्ग देश में सुंसुमार गिरि पर भेसकलावन मिगदाय में ठहरे हुए थे तो एक ऐसा ही उपासक

१. सुत्तनिपात; अंगुत्तर० १, पृ० २१४; ४, पृ० २५४, २५७-८, २६२।
२. अंगुत्तर० ३, पृ० २०६; ४, पृ० २८१।

नकुलपिता गहपति उनके पास गया और उनसे पूछा कि 'अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, अतः इस वृद्धावस्था में मुझे क्या करना चाहिए।' बुद्ध ने उसे अपने मन को अनातुर (स्वस्थ) रखने की सलाह दी। तब बुद्ध से इसके विषय में और कुछ न कहकर उसने सारिपुत्त से बुद्ध के इस उपदेश का आशय पूछा। सारिपुत्त ने कहा कि अनातुर से भगवान् का तात्पर्य यह है कि तुम्हें अपने शरीर के पंचस्कंधों से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहिए।[1] अर्थात् तुम्हें यह जानना चाहिए कि तुम्हारा स्वरूप रूप, वेदना आदि से भिन्न है। तुम रूप, वेदना आदि नहीं हो—न रूप, वेदना आदि तुम्हारे गुण या धर्म हैं, न तुम रूप, वेदना आदि में प्रतिष्ठित हो और न रूप, वेदना आदि तुममें प्रतिष्ठित हैं। जब बुद्ध वाराणसी में इसिपत्तन में ठहरे हुए थे उस समय धम्मदिण्ण उपासक उनके पास गया और उनसे कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की। तब बुद्ध ने उसे अपने प्रवचनों (सुत्तन्तों) का अध्ययन करने का आदेश दिया, विशेषतः उन प्रवचनों का जिनमें लोकोत्तर (लोकुत्तर) विषयों की तथा सांसारिक पदार्थों के अनस्तित्व की चर्चा है। उपासक ने निवेदन किया कि 'भगवन्! मैं तो गृहस्थ हूँ, मेरे पुत्र हैं, सुवर्ण और रजत का व्यापार करता हूँ और बड़े सुख से जीवन व्यतीत करता हूँ, अतः अधिक गंभीर सुत्तंतों का अध्ययन करना मेरे लिए संभव नहीं है।' तब बुद्ध ने उसे बुद्ध, धम्म और संघ में दृढ़ श्रद्धा रखने का उपदेश किया और कहा कि इससे तुम्हें सोतापत्ति अवस्था प्राप्त होगी। बुद्ध, धम्म और संघ में श्रद्धा रखने से मनुष्य स्वर्ग में जन्म पाने का भी अधिकारी हो जाता है।[2] बुद्ध ने यह भी कहा कि कुछ गृहस्थों को अष्टांग मार्ग का आचरण करने से उतना ही फल हो सकता है जितना गृहत्यागी भिक्षुओं को।[3]

गृहस्थों के लिए विहित जो सब से बड़ा धर्म हो सकता है उसे अनुरुद्ध ने पंचकंग ठपति को उस समय बतलाया था जब बुद्ध सावत्थी में ठहरे हुए थे। पंचकंग ठपति ने अनुरुद्ध से पूछा कि गृहस्थों के आचरण के लिए विहित 'अप्पमाण चेतो विमुत्ति' और 'महग्गत चेतो विमुत्ति' के अर्थों में अंतर क्या है? अनुरुद्ध ने उत्तर दिया कि प्रथम का अर्थ है अपरिमित क्षेत्र में मैत्री (मेत्ता), करुणा, मुदिता और समभाव (उपेक्खा) का अभ्यास करके मानसिक मुक्ति प्राप्त करना और द्वितीय का अर्थ है

१. पंच स्कंध हैं—रूप, वेदना, संज्ञा (सञ्ञा), संस्कार (संखारा) और विज्ञान (विञ्ञाण)।

२. संयुत्त० ४, पृ० २७४; ५, पृ० ४०७।

३. वही ५, पृ० १९।

इनका अभ्यास परिमित क्षेत्र में करना, यद्यपि यह क्षेत्र एक ग्राम से संपूर्ण पृथ्वी तक विस्तृत हो सकता है। भाव यह है कि गृहस्थ को अपने पुत्र के प्रति उसका जो प्रेम है उसे क्रमशः पहले अपने ग्राम के निवासियों तक, फिर नगर के लोगों तक, फिर देशवासियों तक और अंत में विश्व भर के मनुष्यों तक विस्तृत करने का उपदेश दिया गया है। अर्थात् उसे सबसे अपने पुत्र के समान ही प्रेम करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ को क्रमशः अपनी 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्खा' का विस्तार करना पड़ता है। उक्त दोनों प्रकार का सफल अभ्यास करनेवाले मनुष्य देवयोनि में जन्म पाते हैं, परंतु प्रथम श्रेणी के लोग (अपरिमित क्षेत्र में अभ्यास करनेवाले) द्वितीय श्रेणी के (परिमित क्षेत्रवाले) लोगो की अपेक्षा अधिक तेजस्वी और दीप्तिमान् होते है।[१] बुद्ध के सर्वोत्तम उपासक चित्त-गहपति और हत्थक-आलवक थे और उपासिकाओं में सर्वश्रेष्ठ थीं खुज्जुत्तरा और वेलुकंटकीया नंदमाता।[२]

दान––दान देने के संबंध में उपासक को कई प्रकार के आदेश दिए गए है। बुद्ध की आज्ञा के अनुसार दान ऐसे ही व्यक्तियों को देना चाहिए जो दान के पात्र हों, जैसे उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचे हुए भिक्षु या परिव्राजक, जो अनन्य भाव से अपनी साधना में लीन रहते हों। जैसे राजा अपने शिल्पियों और योद्धाओं में से सर्वोत्तम को चुनकर उन्हीं को पुरस्कृत करता है, अयोग्य लोगों को नही, उसी प्रकार गृहस्थ को दान देने में विवेक से काम लेना चाहिए।[३] बुद्ध का कथन था कि दान वही सात्विक है जिसमें दाता और गृहीता दोनों के भाव पवित्र हों और दोनों शील का पालन करनेवाले हों।[४] उन्होंने यह भी बतलाया कि दान देकर दाता को यह नहीं समझना चाहिए कि मैंने कोई बड़ा पुण्य किया जिसके फलस्वरूप मुझे धन, सतान, ऐहिक सुख तथा मत्यु के पश्चात् स्वर्ग मिलेगा।[५] बौद्ध भिक्षुओं को आदेश था कि वे ऐसे लोगों का दान ग्रहण न करें जो भिक्षुओं के प्रति आदर का व्यवहार न करते हों और त्रिरत्न की निंदा करते हों।[६] भिक्षु-संघ को भोजन, वस्त्र, शय्या तथा औषध का दान करने का यह फल

१. मज्झिम० ३, पृ० १४४ तथा आगे।

२. संयुत्त० २, पृ० २३६। चित्त गहपति के संबंध में विशेष विवरण के लिए संयुत्त० ४ भी द्रष्टव्य है।

३. सुत्तनिपात, पृ० ८८; संयुत्त० १, पृ० ९९।

४. अंगुत्तर० २, पृ० ८१।

५. वही ४, पृ०२३९।

६. वही ५, प० ३४५।

बतलाया गया है कि दाता इस लोक में पुण्य और यश का भागी होता है और मृत्यु के पश्चात् उसे स्वर्ग मिलता है।

अनाथपिंडिक——बुद्ध अनाथपिंडिक को संघ के दाताओं में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा करते थे, अतः उन्होंने दान के विषय में उसे कई अनुदेश दिए। उन्होंने उससे कहा कि 'तुम्हें केवल भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र और औषध का दान करके ही संतोष नहीं करना चाहिए, अपितु प्रीति (पीति) का अर्थात् मन को प्रसन्न रखने का भी अभ्यास करना चाहिए, जिससे सत्कर्म वा दुष्कर्म जनित सुख वा दुःख का तुम्हारे मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।[१] भिक्षुओं को तुम छोटी या बड़ी जिस किसी भी वस्तु का दान दो वह दान पूर्ण श्रद्धा के साथ दिया जाना चाहिए।' बौद्ध धर्म में बतलाया गया है कि किसी भी प्रकार का दान देने से मनुष्य को यश प्राप्त होता है और वह संतों तथा अन्य लोगों का प्रिय हो जाता है। परंतु उत्तम वस्तु का दान करने से उत्तम जीवन, उत्तम वर्ग, सुख और यश तथा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त होता है। सबसे उचित दान वह है जो किसी संत को उस अवसर पर दिया जाय जब वह किसी रोगी को देखने वा दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की सहायता करने जा रहा हो।[३] एक बार कोसल की राजकुमारी सुमना ने प्रश्न किया कि यदि दो समान श्रद्धा, शील और ज्ञानवाले मनुष्यों में एक दाता (दायक) हो और दूसरा अ-दाता (अदायक), तो उन दोनों के भावी जीवन में कोई अंतर होगा या नहीं ? तब बुद्ध ने उत्तर दिया कि दोनों का जन्म देव अथवा मनुष्य योनि में होगा और दोनों को समान आयु, वर्ण, सुख और यश प्राप्त होगा, परतु अ-दाता की अपेक्षा दाता के सुख आदि अधिक उत्तम प्रकार के होंगे।[४]

बुद्ध ने यह कहकर अनाथपिंडिक की प्रशंसा की थी कि 'उसका धन-संपत्ति अर्जन करना सार्थक है, क्योंकि एक तो वह उपासकों के लिए विहित नियमों का पालन करता है, दूसरे इसलिए भी कि वह धर्मपूर्वक तथा कठिन परिश्रम करके धनोपार्जन करता है। इस प्रकार अर्जित धन-संपत्ति से वह अपने को तथा अपनी स्त्री, पुत्रों, भृत्यों और मित्रों को सुखी कर सकता है; अग्नि, चोरी तथा अन्य प्रकार के संकटों से अपने गृहादि की रक्षा कर सकता है और अपने संबंधियों, अतिथियों, पितरों, शासकों, देवताओं

१. अंगुत्तर० ३, पृ० २०६–७।
२. वही ४, पृ० ३९२।
३. वही २, पृ० ६३; ३, पृ० ४१, ४२।
४. वही ३, पृ० ३२–३३।

और धर्मप्राण संतों को उनका उचित भाग दे सकता है। इसके अतिरिक्त उसको इस बात का संतोष है कि उसके पास धन है जिससे वह धर्म कर सकता है, अपने को ऋण से मुक्त रख सकता है और मन, वचन और कर्म से पवित्र रह सकता है।'[1] उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि बुद्ध अनाथपिंडिक के गृहस्थ एवं अतुल-वैभव-संपन्न होने पर भी उसकी प्रशंसा करते थे।

कुछ ऐसे सामान्य आदेश भी हैं जो सभी गृहस्थों को लक्ष्य करके दिए गए थे।[2] जैसे (१) गृहस्थों के लिए शस्त्रों और जीवित प्राणियों का तथा मांस, मदिरा एवं विष का व्यापार करना वर्जित है। (२) परिवार में पुत्रों का कर्तव्य है कि वे अपने माता-पिता की सेवा देवता के समान करें और अपने वृद्ध गुरुओं को भोजन, वस्त्र, शय्या आदि दें तथा सब प्रकार से उनकी सुविधाओं का ध्यान रखें। बुद्ध कहते थे कि उपोसथ के दिन चातुम्महाराजिक देवगण अपने मंत्रियों को यह पता लगाने के लिए भेजते हैं कि मर्त्यलोक के मनुष्य अपने माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं या नहीं, और इस प्रकार वे इसका निश्चय करते हैं कि कितने मनुष्य स्वर्ग जायँगे और कितने असुरलोक में। सक्क (इंद्र) के कथनानुसार उसे देवराज का पद पूर्व जन्मों में अपने माता-पिता की सेवा करने के कारण प्राप्त हुआ था। (३) उपासकों को अप्रिय-भाषण नहीं करना चाहिए, सत्य और प्रिय वचन बोलना चाहिए और कृपणता छोड़कर दोनों को मुक्तहस्त होकर दान देना चाहिए। (४) उन्हें क्रोध आए तो तुरंत उसे दबाना चाहिए।[3]

स्त्रियों के गुण और दोष--संघ को दान देनेवाली स्त्रियों में विशाखा का स्थान सर्वप्रथम था। उसने पुब्बाराम विहार का निर्माण कराया था जो उसी के नाम पर मिगारमातुपासाद के नाम से भी प्रसिद्ध था; क्योंकि अपने श्वसुर मिगार की पुत्र की भाँति सेवा करने के कारण विशाखा को लोग प्यार से मिगार की माता कहा करते थे। विशाखा उपोसथ के तीन दिनों में पहले बताए गए आठ शीलों का पालन करती थी। बुद्ध ने एक दिन उसे यह उपदेश दिया[4] कि वह उपोसथ का पालन उनके सच्चे शिष्य की भाँति किया करे, उस ग्वाले की भाँति नहीं जिसका ध्यान उसकी गायों में लगा

१. अंगुत्तर० २, पृ० ६३–७०।
२. वही १, पृ० २०८।
३. वही १, पृ० १३२, १४१, १५१।
४. संयुत्त० १, पृ० २२८; २, पृ० २३५।

रहता है, और जो यही सोचता रहता है कि उपोसथ के बाद क्या-क्या भोजन करेंगे; न निगंठ नाटपुत्त के शिष्यों की भाँति, जो इस भय से वस्त्र तक नहीं पहिनते कि मन में कभी किसी वस्तु के लिए कोई इच्छा न उत्पन्न हो। बौद्ध धर्म का सच्चा उपासक त्रिरत्न के उत्तम गुणों पर मनन करता है, विकारों को नष्ट कर अपने मन को निर्मल करता है और दिव्य जीवन प्रदान करनेवाले अष्टशीलों का पालन करता है।[1]

बुद्ध ने विशाखा को एक उत्तम स्त्री के साधारण कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्व के संबंध में कुछ सामान्य उपदेश दिये, जो इस प्रकार है—(१) स्त्री को सहानुभूति के साथ अपने सास-ससुर के सुख का ध्यान रखना चाहिए, उनसे सदा मधुर वचन बोलना चाहिए, उनसे पहले जागना और पीछे सोना और दासी की भाँति उनकी सेवा करना चाहिए; (२) उसे अपने सास-ससुर के अतिरिक्त अपने पति द्वारा आदृत साधु-संतों का भी उचित आदर करना चाहिए; (३) घर में रखे हुए कपास और ऊन का यथोचित उपयोग करने में उसे निपुण होना चाहिए; घर के सेवकों और मजूरों को जो काम दिया जाय उसे वे सुचारु रूप से करते हैं या नहीं, इसका सावधानी से निरीक्षण करना तथा उनके भोजन का उचित ध्यान रखना चाहिए; (५) पति घर में जो अन्न या धन ले आये उसे यत्नपूर्वक सँभाल कर रखना और उसमें से अपने लिए खर्च नहीं करना चाहिए; (६) त्रिशरण (बुद्ध, धर्म और संघ की शरण) लेकर उसे उपासिका बन जाना चाहिए; (७) पंचशील का पालन करना तथा (८) कृपणता त्याग कर मुक्तहस्त होकर दान करना चाहिए।[2]

नकुलमाता नाम की एक दूसरी उपासिका थी जिसे बुद्ध आदर्श उपासिका कहा करते थे। जब उसका पति बीमार होकर मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था उस समय उसने उसके समक्ष स्वयं अपने गुणों का विवरण दिया था। उसने उसे शांति और आश्वासन देते हुए कहा था कि 'हे स्वामी, आप मेरे भविष्य की कोई चिंता न कर शांतिपूर्वक प्राण-त्याग करें जिससे परलोक में आपका जीवन सुखमय हो। मुझे कोई कष्ट नहीं होगा और मै अपने धर्म पर अटल रहूँगी। मैं रूई का व्यापार और केश-प्रसाधन की कला जानती हूँ और इन कार्यो के द्वारा मैं जीविकोपार्जन कर अपना और बच्चों का जीवन-निर्वाह कर लूँगी। मै आपके ज्ञान में सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी का जीवन बिता चुकी हूँ, अतः मेरे दूसरा विवाह करने की कोई संभावना नहीं है। मैं भगवान् बुद्ध तथा

१. अंगुत्तर० १, पृ० २०५-१५; ४, पृ० २५५।
२. वही ४, पृ० २६७।

भिक्षुओं के सत्संग में और अधिक समय दूँगी। मैं सदा शील का पालन करती रहूँगी, मन को शांत रखने (चेतो समथ) का अभ्यास करूँगी और बुद्ध में और अधिक श्रद्धा रखूँगी। भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ हैं, आप मेरे कथन की सत्यता का निश्चय उनसे पूछकर कर सकते हैं।' अपनी पत्नी से इस वार्तालाप के बाद नकुलपिता शीघ्र नीरोग हो गया और बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ, तब बुद्ध ने उसकी पत्नी को उपासिकाओं में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की।[१]

बुद्ध ने एक बार अनाथपिंडिक के घर में बड़ा कोलाहल सुना। पूछने पर उन्हें पता चला कि उस अशांति का कारण अनाथपिंडिक की पुत्रवधू सुजाता है। उसे शिक्षा देने के लिए बुद्ध ने उससे सात प्रकार की पत्नियों का वर्णन किया, जो इस प्रकार हैं—(१) हत्यारिनी, (२) चोर, (३) कर्कशा, (४) माता, (५) भगिनी, (६) मित्र, (७) दासी। प्रथम प्रकार की पत्नी अत्यंत दुष्ट और व्यभिचारिणी होती है और धन के लिए अपने पति की हत्या तक कर डालती है। द्वितीय प्रकार की पत्नी अपने पति के अन्न, धन, आदि की चोरी किया करती है। तृतीय प्रकार की पत्नी आलस्य में समय बिताती है, काम नहीं करना चाहती, अत्यधिक भोजन करती है, स्वभाव की चिड़चिड़ी और कठोरभाषिणी होती है और परिवार के सब लोगों पर अपना आतंक जमाये रहती है। चतुर्थ प्रकार की पत्नी उसी प्रकार अपने पति की हितकामना और रक्षा करती है जैसे माता अपने पुत्र की। वह अपने पति के धन को भी बचाने का प्रयत्न करती है। पंचम प्रकार की पत्नी संकोचशीला भगिनी के सदृश होती है और सदा अपने पति का आदर तथा उसके सुख एवं हित का उपाय करती है। षष्ठ प्रकार की पत्नी, चिर-वियोग के बाद मिलनेवाले मित्र की भाँति, सदा अपने पति की प्रिया बनी रहने का प्रयत्न करती है; वह मितव्ययी, शील का पालन करनेवाली और पतिव्रता होती है। सप्तम प्रकार की पत्नी डंडों से पीटी जाने पर भी कभी क्रोध नहीं करती, सर्वथा द्वेषरहित एवं सहनशील तथा अपने पति की आज्ञाकारिणी होती है।[२] बुद्ध द्वारा स्त्रियों का यह सामान्य गुण-वर्णन बहुत कुछ परंपरागत है और संभवतः अपनी उपासिकाओं को शिक्षा देने के लिए उन्होंने इसका उपयोग किया था।

---

१. अंगुत्तर० ३, पृ० २९५-८।
२. वही ४, पृ० ९२-९३।

अध्याय ८

भिक्षुओं की क्रमिक साधना-पद्धति

उपासकों के आध्यात्मिक उत्थान की ओर बुद्ध की बहुत रुचि नही थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि भिक्षु बने बिना कोई उनके उपदेशों का पूरा लाभ नहीं उठा सकता। उन्होंने स्वयं बहुत लोगों को घरबार छोड़कर भिक्षु बनने के लिए प्रेरित किया। परंतु अपने सभी शिष्यों के लिए उन्होंने कोई एक सामान्य साधना-क्रम निर्धारित नहीं किया। वस्तुतः वे प्रत्येक शिष्य की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन करके उसके अनुकूल कोई विशेष साधना-क्रम निश्चित कर देते थे। परंतु कुछ ऐसे सामान्य नियम भी थे जिनका पालन प्रायः उनके सभी शिष्य कर सकते और उनसे लाभ उठा सकते थे।

जब बुद्ध सावत्थी के मिगारमातुपासाद में ठहरे हुए थे, उस समय गणक-मोग्गलान ब्राह्मण एक बार उनसे मिला। उसने उनसे प्रश्न किया कि सभी विषयों की शिक्षा के लिए—चाहे वह भवन-निर्माण की शिक्षा हो, अथवा गणित या अन्य किसी शास्त्र की—एक क्रमोच्च शिक्षा-पद्धति हुआ करती है, क्या बौद्ध धर्म में भिक्षुओं की साधना के लिए भी कोई ऐसी क्रमोच्च शिक्षण-पद्धति निर्धारित है ? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर देकर अपने द्वारा निर्धारित भिक्षुओं के साधना-क्रम का वर्णन किया, जो इस प्रकार है—

(१) सबसे पहले भिक्षु को सदाचार के नियमो[1] तथा पातिमोक्ख में दिए गए विनय के २२७ नियमों का पालन करने एवं अपने आचरण के विषय में तथा भिक्षाटन

१. छब्बिसोधन सुत्त (मज्झिमं ३, पृ० ३३ तथा आगे)—

(१) पाणातिपात पटिविरतो, (२) अदिन्ना दाना पटिविरतो, (३) विरतो मेथुना गामधम्मा, (४) मुसावादा पटिविरतो, (५) पिसुणाय वाचाय पटिविरतो, (६) फरुसाय वाचाय पटिविरतो, (७) सम्फपलापा पटिविरतो, (८) बीजगाम भूतगाम समारंभा पटिविरतो, (९) एकभट्टिको, पटिविरतो विकाल भोजना, (१०) उच्चासयना मयहासयना पटिविरतो, (११) जातरूप रजत-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१२) आमकधञ्ञ-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१३) इत्थि-कुमारिका-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१४) दासिदास-पटिग्गणा पटिविरतो, (१५) अजेलक-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१६) कुक्कुट-सूकर पटिग्गहणा पटिविरतो, (१७) हत्थि-

आदि सभी कार्यों और व्यवहारों में अत्यंत सावधान रहने की शिक्षा दी जाती है, जिससे उसके द्वारा छोटे से छोटा पाप भी न हो सके।

(२) इसके पश्चात् उसे अपनी इंद्रियों पर संयम रखने का अभ्यास करने का उपदेश दिया जाता है, जिससे किसी वस्तु को देखकर उसका मन उस वस्तु के गुणों के प्रति आकर्षित न हो; क्योंकि उस आकर्षण से मन में लोभ, निराशा और अन्य प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। यही बात श्रवण (=सुनना), घ्राण (=सूँघना) रसन (=स्वाद लेना), स्पर्श और मनन के विषयों के संबंध में भी सत्य है।[1]

(३) फिर उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह अपने शरीर के निर्वाह मात्र के लिए, उसे केवल पवित्र और धर्माचरण के योग्य बनाए रखने के लिए भोजन ग्रहण करे, उसे हृष्ट-पुष्ट बनाकर अलंकारों से भूषित करने के लिए नहीं। अपने भोजन के लिए किसी जीव की हिंसा भी न करे। साथ ही वह शुद्ध और सदाचारमय जीवन व्यतीत करे और इस बात का ध्यान रखे कि जहाँ उसे अपनी पुरानी वासनाओं को नष्ट कर देना है, वहाँ उसके मन में नई वासनाएँ न उत्पन्न होने पाएँ।

(४) फिर उसे बतलाया जाता है कि वह परिभ्रमण करते-करते किसी एक स्थान पर बैठ जाय और अपने मन के विकारों को दूर करने का प्रयत्न करे,[2] क्योंकि उनके कारण आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पड़ती है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि रात्रि के प्रथम तथा तृतीय प्रहरों में भी इसका अभ्यास करे। द्वितीय प्रहर में उसे दाहिनी करवट, एक के ऊपर दूसरा पैर रखकर, सोने की अनुमति दी जाती है, परंतु नींद ऐसी हलकी हो कि आवश्यकता होने पर वह तुरंत जाग सके।

(५) तत्पश्चात् उसे उपदेश दिया जाता है कि वह प्रथम सतिपट्ठान (स्मृत्युपस्थान) का अभ्यास करे, अर्थात् हाथों को फैलाना या सिकोड़ना, किसी वस्तु को

गवस्सवलव पटिग्गहणा पटिविरतो, (१८) खेत्तवत्थु पटिग्गहणा पटिविरतो, (१९) दुतेय्यपहीन गमनानुयोग पटिविरतो, (२०) कयविक्कय पटिविरतो, (२१) तुलाकूट-कंसकूट-मानकूटा पटिविरतो, (२२) उक्कोटनवंचन निकति साचियोग पटिविरतो, (२३) छेदन-वध-बन्धन-विपरामोस-आलोपसहसाकार पटिविरतो, (२४) सन्तुट्ठो कायपरिहारिकेन चूवरेन कुच्छि-परिहारिकेन पिण्डपलेन।

१. संयुत्त० ४, पृ० १०४।

२. आवरण=नीवरण=उपक्किलेस; तुल० संयुत्त० ५, पृ० ९४। पाँचों नीवरण ये हैं—कामच्छन्द (अभिज्झा), व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा।

देखना, खाना, पीना, शौचादि करना, वस्त्र धारण करना, भिक्षा-पात्र उठाना, खड़े होना, बैठना, सोना, जागना, चुप रहना—आदि जो भी क्रियाएँ वह अपने शरीर से करे उनमें पूर्ण रूप से सावधान रहे, शून्य मन से अज्ञानपूर्वक उन्हें न करे।

(६) फिर उसे किसी वन वा वन-मार्ग में अथवा वृक्ष के नीचे या पर्वत पर, या किसी गुफा में, या श्मशान या सुनसान मैदान में रहकर अभ्यास करने के लिए कहा जाता है। वहाँ वह मध्याह्न-भोजन के पश्चात् सावधान-चित्त होकर, पद्मासन लगाकर, शरीर को सीधा करके बैठ जाता है और उसी अवस्था में बैठे-बैठे अपने मन को लोभ, द्वेष, आलस्य, अभिमान और सद्धर्म के प्रति संशय-भाव—इन विकारों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है।

(७) अंत में, जब प्रायः उसके संपूर्ण मनोविकार नष्ट हो जाते हैं तब उसे ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है, जिसकी निम्नलिखित चार भूमिकाएँ हैं—

(क) प्रथम भूमिका में वह इच्छाओं और विकारों से अपने मन को मुक्त कर किसी एक वस्तु पर, जैसे मिट्टी के ढेले या चक्र पर या छिद्र से आते हुए प्रकाश-विंदु पर, अपने ध्यान को एकाग्र करने का अभ्यास करता है। पहले तो उसका मन ध्यान के विषय के चारों ओर चक्कर काटता है (सवित्तक्क सविचार—विचार और निर्णय), परंतु ध्याता को यह सोचकर संतोष होता है कि 'मेरा मन इच्छाओं और विकारों से मुक्त हो गया है और मै एकांत स्थान में बैठा हुआ हूँ।'

(ख) द्वितीय भूमिका में ध्याता का चित्त भ्रमित नहीं होता (अवितक्क अविचार), प्रत्युत ध्यान के विषय पर एकाग्र हो जाता है (चेतसो एकोदीभावम्) और चित्त की पूर्ण एकाग्रता होने पर उसे आंतरिक शांति और आनंद का अनुभव होता है।

(ग) तृतीय भूमिका में ध्याता का मन किन्हीं उत्तम गुणों की प्राप्ति से होनेवाले आनंद और जीवन की क्षणभंगुरता, मृत्यु आदि के चिंतन से होनेवाले दुःख—दोनों से ऊपर उठ जाता है और उसे मानसिक साम्यावस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में भी उसे आंतरिक शांति और आनंद का अनुभव होता है और उसके शरीर और मन में जो भी क्रियाएँ होती हैं उनके प्रति वह सजग और सावधान रहता है। उसके शरीर को ऐसा विश्राम मिलता है जैसे वह गाढ़ निद्रा में सोकर उठा हो।

(घ) चतुर्थ भूमिका में ध्याता का मन किसी भी प्रकार के बुरे या भले अनुभव से विक्षुब्ध नहीं होता। यतः उसके संपूर्ण मानसिक दोष नष्ट हो गए रहते है, अतएव उसका मन पूर्ण रूप से शांत और सम हो जाता है, और शरीर वा मन की सूक्ष्म से

सूक्ष्म क्रियाएँ भी उसे अवगत होती रहती हैं। इस भूमिका में वस्तुतः प्रथम तीन भूमिकाओं की ही परिणति होती है और उनके अतिरिक्त इसका कोई विशिष्ट फल नहीं है।[१]

(ङ) ध्यान सिद्ध हो जाने पर उसे चार सत्यों (दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-नाश, दुःख-नाश का उपाय) को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और चार दोषों (आसवों) तथा उनकी उत्पत्ति, नाश एवं नाश के उपाय पर मनन करते हुए पूर्ण 'खीणासव' वा अर्हत् होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संक्षेप में नए साधकों के लिए यही क्रमोच्च साधना-पद्धति निर्धारित की गई है। परंतु नव-दीक्षित भिक्षुओं में ऐसे भी होते थे जिनका पर्याप्त आध्यात्मिक विकास हो चुका रहता था और उन्हें उक्त अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

बुद्ध अपने शिष्यों को स्वयं शिक्षा देते थे और संघ में नए-नए दीक्षित होकर आने-वाले भिक्षुओं पर बड़ी सतर्क दृष्टि रखते थे। कपिलवस्तु में एक दिन जब वे मध्याह्न-भोजन के अनंतर विश्राम कर रहे थे, तो उनके ध्यान में आया कि मेरे संघ में भिक्षुओं की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है, अतः मुझे स्वयं नवदीक्षित भिक्षुओं की देखरेख करनी चाहिए, अन्यथा उनके अभ्यास में त्रुटियाँ होंगी। उनका रक्षण उसी प्रकार सावधानी से होना चाहिए जैसे एक छोटे पौधे का माली के द्वारा किया जाता है।[२] आनंद ने बुद्ध के एक विशिष्ट शिष्य पुण्ण मंतानीपुत्र की इसलिए प्रशंसा की थी कि नवदीक्षितों के लिए उसकी सहायता बड़ी लाभकर होती थी।[३] बुद्ध ने अपने फुफेरे भाई (पैतृष्वसेय) तिस्स में त्रुटियाँ देखकर एक बार उसे बुलाया और आवश्यक अनु-देश दिए।[४] इसी प्रकार उनका ममेरा भाई (मातृष्वसेय) नंद अपने शरीर और वस्त्रों की ओर बहुत ध्यान दिया करता था, उसे भी उन्होंने इस विषय में उपदेश दिया।[५] उन्होंने अन्य कितने ही भिक्षुओं को, जो उद्धत, कलहप्रिय और प्रमादी थे, शिक्षा देकर ठीक मार्ग पर लगाया।[६]

१. तुल० संयुत्त० ३, पृ० २६८; ४, पृ० २६५।
२. संयुत्त० ३, पृ० ९१।
३. वही ३, पृ० १०५।
४. वही, पृ० १०६।
५. वही २, पृ० २८१।
६. वही ५, पृ० २६९।

गणक-मोग्गलान ने बुद्ध से पुनः प्रश्न किया कि क्या दीक्षित होकर संघ में प्रविष्ट होनेवाले सभी भिक्षुओं को उपर्युक्त प्रकार से साधना करने से 'निब्बाण' प्राप्त होता है? इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि 'ऐसी बात नहीं है, किंतु मैं केवल मार्ग का प्रतिपादक और प्रदर्शक हूँ, अतः उन सबको उस मार्ग पर चलने की अनुमति देता हूँ। परंतु उनमें से कुछ ही 'निब्बाण' की अवस्था तक पहुँच पाते हैं'।[१]

बुद्ध के उक्त उत्तर से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा निर्धारित साधना का उपर्युक्त क्रम अनिवार्य रूप से निर्वाण (निब्बान) पद प्रदान करनेवाला नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जो साधक उपर्युक्त साधना-क्रम को सफलतापूर्वक पूरा कर लेते हैं वे बौद्ध धर्म के मूल सत्यों की दीक्षा प्राप्त करने के योग्य हो जाते है। चूल-राहुलोवाद सुत्त[२] से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। बुद्ध जब सावत्थी में ठहरे हुए थे तो उन्होंने देखा कि राहुल अब विमुक्ति प्राप्त करने योग्य परिपक्व अवस्था में पहुँच गया है (परिपक्को खो राहुलस्स विमुत्ति परिपाचनीया धम्मा) और उसे अब सूक्ष्मतर विकारों को नष्ट करने के लिए उपयुक्त शिक्षा देना आवश्यक है (उत्तरिं आसवानं खये विञ्ञेय्यं ति)। तब वे राहुल को अपने साथ अंधवन नामक वन में ले गए और उन दोनों में निम्नलिखित वार्तालाप हुआ—

बुद्ध—आँखें (चक्खु) नित्य हैं या अनित्य?

राहुल—अनित्य है।

बुद्ध—अनित्य पदार्थ दुःख देनेवाले होते हैं या सुख?

राहुल—अनित्य पदार्थ दुःखमय होते हैं।

बुद्ध—क्या परिवर्तनशील अनित्य पदार्थ को अपना समझना या उसे अपना आत्मा मानना उचित है?

राहुल—नहीं।

बुद्ध—क्या आँखों से देखी गई वस्तु (रूप) या उस वस्तु से आँखों का संपर्क (चक्खु-सम्फस्स) या उस संपर्क से होनेवाला अनुभव (वेदना) या बोध (सञ्ञा) या संस्कार (संखार) या ज्ञान (विञ्ञाण) नित्य है?

राहुल—नहीं।

तब बुद्ध ने बतलाया कि एक सच्चे शिष्य को इंद्रियों और उनके विषयों, अर्थात्

१. मज्झिम० २, पृ० १ तथा आगे।

२. मज्झिम० ३, पृ० २२७ तथा आगे; संयुत्त० ४, पृ० १०६।

संसार के समस्त पदार्थों, के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिए। इस अनासक्ति से विराग उत्पन्न होता है जो मन को मुक्त कर देता है और साधक यह अनुभव करन लगता है कि उसका मन सांसारिक विषयों के राग से पूर्णतः मुक्त हो गया है। तब हम यह कह सकते हैं कि उसकी साधना पूरी हो गई, अब उसका कोई कर्तव्य कर्म शेष नही है, अब उसका पुनः जन्म नही होगा। राहुल भी पूर्णमुक्त अर्हत् हो गया।

एक दूसरे वार्तालाप[1] में बुद्ध ने उपर्युक्त रीति से ही राहुल को समझाया कि जीव के पचस्कंध अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक तत्त्व, चाहे वे अतीत के हों अथवा वर्तमान वा भविष्य के, आंतरिक हों वा बाह्य, स्थूल हों वा सूक्ष्म, उत्तम हों वा निकृष्ट, दूर हों वा निकट, उन्हें अपना समझना वा अपना आत्मा मानना उचित नही है। भौतिक तत्त्वों (रूप) का अस्तित्व गंगा के जल पर तैरते हुए फेन (फेनपिंड) से अधिक नहीं है। उसकी सत्ता है, इसमें तो कोई संदेह नहीं, परंतु उसमें कोई तत्त्व नही है (रित्तक, तुच्छक)।[2] 'वेदना' का अस्तित्व जल में उठनेवाले वुद्बुद के सदृश है और 'संज्ञा' ज्येष्ठ मास की दुपहरी में दिखाई पड़नेवाली मृग-मरीचिका के समान है। 'संस्कारों' में केले के खंभे से अधिक कोई तत्त्व नहीं है और विज्ञान केवल जादूगर के खेल के समान है।

उक्त वार्तालाप का उपसंहार इस कथन के साथ होता है––मनुप्य की आयु, उष्णता (उष्मा) और चेतना (विञ्ञाण) समाप्त हो जाने पर उसका निर्जीव शरीर गिद्धों के भोजन के लिए फेंक दिया जाता है। जीव के स्कंधों की नित्यता की चर्चा मूर्ख लोग किया करते हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं है। जो समर्थ भिक्षुगण स्कंधों (खंधो) को रातदिन इस प्रकार निस्तत्त्व और नाशवान् समझते हैं उनके सारे बंधन कट जाते है और वे अमृत पद प्राप्त करते है।[3] जो लोग उक्त स्कंधों में से किसी एक को अपना आत्मा मान बैठते हैं वे मूर्ख हैं। वे उसके चारों ओर इस प्रकार चक्कर काटते हैं जैसे खंभे में बँधा हुआ पशु उसी खंभे के चारों ओर घूमता है। इस चक्कर का न कहीं

१. संयुत्त० ३, पृ० १३६।

२. संयुत्त० ३, पृ० १४२––

"फेनपिण्डुपमं रूपं वेदना बुब्बुलूपमा।
मरीचिकुपमा सञ्ञा संखारा कदलूपमा।
मायुपमं च विञ्ञाणं दिपितादिच्च बन्धुना॥"

३. वही।

आदि है न अंत ।[1] बुद्धिमान् मनुष्य कभी स्कंधों को आत्मा समझने की भूल नहीं करता, परंतु ऐसी बुद्धि आने के पहले उसे राग, द्वेष और मोह से सर्वथा मुक्त होना पड़ता है। इन मानसिक विकारों से मुक्ति पाने का केवल यही उपाय है कि मनुष्य यह भली भाँति समझ ले कि संसार के सभी पुरुष और स्त्रियाँ चित्र में लिखे हुए मनुष्यों के समान हैं। यह समझने के लिए कि मनुष्य का अस्तित्व चित्र-लिखित मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सारवान् नहीं है, पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि स्कंध उत्पत्ति-विनाश-शील है।

१. वही, पृ० १५१।

अध्याय ९

निर्वाण-प्राप्ति के साधन

निर्वाण का मार्ग अथवा धम्मचक्क पवत्तन सुत्त---जब विश्व के परम वा अंतिम तत्त्वों के विषय में बुद्ध के समक्ष कोई प्रश्न उपस्थित किया जाता था तो वे सदैव लोगों को ऐसे प्रश्नों की उपेक्षा करने और उनका निश्चित उत्तर पाने की अपेक्षा न करने तथा अपने बताए हुए मार्ग पर चलने का उपदेश दिया करते थे; क्योंकि उनके मतानुसार ऐसे प्रश्नों के उत्तर से कोई लाभ होनेवाला नहीं। न तो उससे जीवन शुद्ध और पवित्र बन सकता है, न मन विकारों से मुक्त हो सकता और न ज्ञान एवं निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अतः ऐसे प्रश्नों के उत्तर के फेर में न पड़कर लोगों को उनके उन उपदेशों के अनुसार आचरण करना चाहिए जो उनके धर्म-प्रवर्तन काल के आदि और अंत में उनके द्वारा इसिपत्तन तथा कुसीनारा में दिए गए थे।

बुद्ध के द्वारा दिया गया सर्वप्रथम व्याख्यान प्रसिद्ध 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' है। इस सुत्त के प्रारंभ ही में कहा गया है कि मनुष्य को दोनों प्रकार की अति से बचना चाहिए। एक ओर तो ऐसे लोग है जो गृहस्थ-जीवन में रहकर धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, परंतु साथ ही दिन-रात सांसारिक भोग-विलास में डूबे रहते है, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो घर-बार छोड़कर एकांत में रहते और कठोर तपस्या के द्वारा शरीर को सुखा डालते हैं। ये दोनों अंतिम कोटि के जीवन बुरे हैं। साधक को इन दोनों के बीच का मार्ग (मध्यम मार्ग) अपनाना चाहिए, जिसपर चलने से ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं, मन को शांति प्राप्त होती है और अंत में ज्ञान और निर्वाण (पूर्ण मोक्ष) प्राप्त होता है। प्रथम कोटि के अंतर्गत बुद्ध के ध्यान में निश्चय ही वे धनी ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग थे जो अत्यंत विलासमय जीवन व्यतीत करते थे और ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों को प्राप्त करने की आशा से अपार धन व्यय करके बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, जिनमें पशु-पक्षियों की बलि दी जाती थी। द्वितीय कोटि के लोगों से उनका अभिप्राय उन अ-ब्राह्मण तापसों से था जो अपने शरीर और मन को वश में करने के लिए अत्यंत घोर कर्म किया करते थे, जैसे निर्जन वन में निवास करना, अत्यल्प भोजन अथवा उपवास करना, इत्यादि। यों बुद्ध ने भी कुछ साधारण प्रकार की तपस्या का अनुमोदन किया, परंतु उसे सब शिष्यों के लिए अनिवार्य नहीं बनाया।

उन्होंने दोनों अंतिम कोटियों को अस्वीकार कर अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि वे अपनी शारीरिक शक्ति की रक्षा के लिए निर्वाह भर को भोजन करें, वस्त्र पहनें और आवास में रहें, क्योंकि उनके द्वारा बताए गए कर्तव्यों के पालन के लिए शरीर को स्वस्थ और शक्त रखना आवश्यक था। वे यह चाहते थे कि उनके शिष्य भोजन और वस्त्र के विषय में कोई चिंता न करें और किसी विशेष प्रकार के भोजन अथवा किसी विशेष आवश्यक वस्तु की इच्छा प्रकट किए बिना उन्हें भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी पर वे संतोष करें। उनके पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने विस्तृत नियम बनाए, जो पातिमोक्ख सुत्त नामक ग्रंथ में संगृहीत है। अपने भिक्षु शिष्यों के लिए उन्होंने जो मध्यम मार्ग निर्धारित किया वह इस प्रकार है—

शील =	सम्मा वाचा	= सम्यक् अर्थात् सत्य वचन
	सम्मा कम्मन्तो	= सम्यक् कर्म
	सम्मा आजीवो	= सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका
चित्त =	सम्मा वायाम	= सम्यक् व्यायाम
	सम्मा सति	= सम्यक् चिंतन
	सम्मा समाधि	= सम्यक् समाधि
पञ्ञा =	सम्मा संकप्प	= सम्यक् संकल्प
	सम्मा दिट्ठि[1]	= सम्यक् दृष्टि

इसके अनंतर उन्होंने चारों सत्यों का निरूपण किया है जो ये है—दुःख (दुक्खम्), दुःख का कारण (दुक्ख-समुदयम्), दुःख-नाश (दुक्ख निरोधम्) और दुःख-नाश का उपाय (दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा)। संक्षेप में यही धम्मचक्कपवत्तन सुत्त का विषय है।

उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या पाली ग्रंथों में इस प्रकार की गई है—

सम्मा वाचा = असत्य, द्वेषयुक्त, कठोर और निरर्थक वचन न बोलना।

सम्मा कम्मन्त = हिंसा, चोरी और व्यभिचार से दूर रहना।

१. ये आठों ही तीन वर्गों में विभाजित हैं—सदाचार (शील), मानसिक विकास (चित्त) और ज्ञान (पञ्ञा)। तुल० संयुत्त० १, पृ० १६५।—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञं च भावयम्।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटम्॥"

सम्मा आजीव=अनुचित उपायों से अर्थात् सद्धर्म-वर्जित कला-शिल्पों के द्वारा जीविकोपार्जन न करना। ऐसे कला-शिल्पों में से कुछ ये है---ज्योतिष द्वारा मनुष्यों का भाग्य-कथन, स्वप्न और शकुन का विचार, मंत्र-प्रयोग, सामुद्रिक विद्या अर्थात् शरीर के लक्षणों को देखकर मनुष्यों और पशुओं की प्रकृति का निरूपण, राजाओं के बीच मध्यस्थ का कार्य करना, विवाह-संस्कार कराना, औषध वितरण करना, इत्यादि।

सम्मा वायाम=वर्तमान कुविचारों को मन से निकाल देने, नवीन कुविचारों को पास न आने देने तथा सत्-विचारों को अधिकाधिक प्रश्रय देने का अभ्यास करना।

सम्मा सति=शरीर और मन के भीतर जो कुछ क्रिया हो रही हो उसके प्रति सजग रहना, संसार के पदार्थो का निरीक्षण करना, साथ ही लोभ (अभिज्झा) को दबाना और दुर्मनता (दोमनस्स) को पास न आने देना।

सम्मा समाधि=चार प्रकार के ध्यान (झान), जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है।

सम्मा दिट्ठि=सांसारिक सत्ता का इन चार सत्यों के रूप में ज्ञान होना---दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-नाश, दुःख-नाश का उपाय।

ऊपर जिस अष्टांग मार्ग का वर्णन किया गया है उसमें आध्यात्मिक जीवन के सभी पक्षों (कर्तव्यपक्ष, मनःपक्ष, ज्ञानपक्ष) का समावेश है। आठ अंगों में से प्रथम तीन का संबंध वचन, कर्म तथा आहार (जीविका) से है, और इनके विषय में बहुत से नियम निकायों तथा विनय ग्रंथों में संकलित हैं, जिनमें भिक्षुओं के उचित आचरण और व्यवहार के विषय में विस्तृत निर्देश दिए गए हैं। इसके बाद के तीन अंगों में वह विधि बतलाई गई है जिसके अनुसार साधक यौगिक साधना के द्वारा अपनी वृत्तियों को संयत कर लेता है और उसका मन इस प्रकार शांत और निश्चल हो जाता है कि सुख वा दुःख में वह तनिक भी विचलित नहीं होता। शारीरिक और मानसिक अभ्यास सिद्ध हो जाने के पश्चात् साधक इस योग्य हो जाता है कि वह अपने मन को सांसारिक रागों से पूर्णतया मुक्त करके उसे चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने की ओर लगाए और उसके द्वारा 'सम्मा दिट्ठि' (सम्यक दृष्टि) प्राप्त करे।

मग्ग संयुत्त[1] में अष्टांग मार्ग को आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक (कल्याणमित्त) कहा गया है और बताया गया है कि बौद्ध साधक जो भी आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने की कामना करे वे सभी उसे इसके द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। इसके द्वारा उसके निम्नलिखित दुःखों, दोषों वा बाधाओं का निवारण वा नाश हो जाता है---

१. संयुत्त० ५, पृ० ६४-६५।

(१) जन्म, जरा एवं मरण जनित दुःख; दुःख तीन प्रकार के होते हैं—एक तो वह दुःख (दुक्ख) जो साधारणतः संसार में देखा जाता है, दूसरा पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण होनेवाला दुःख (संस्कार-दुक्खता), तीसरा परिवर्तन-जनित दुःख (विपरिणाम-दुक्खता);

(२) राग, द्वेष तथा मोह;

(३) उत्कट इच्छा (छंद), चितन (वितक्क) तथा संज्ञान (सञ्ञा);

(४) सांसारिक विषयों की तृष्णा (काम-तण्हा), पुनर्जन्म की तृष्णा (भव-तण्हा), स्व-नाश की तृष्णा (विभव-तण्हा);

(५) इच्छा-दोष (कामासव), पुनर्जन्म-दोष [भवासव, अर्थात् कामभव, रूपभव, अरूपभव (मर्त्यलोक, स-रूप देव-लोक तथा अ-रूप देवलोक में से किसी एक में जन्म लेने) का दोष], अविद्या-दोष (अविज्जासव) एवं दृष्टि-दोष (दिट्ठासव);

(६) संसारिक विषयों, मिथ्या विचारों, व्रतादि कर्मों तथा आत्मवाद के प्रति तीव्र राग (कामुपादान, दिट्ठुपादान, सीलब्बतुपादान, अत्तवादुपादान);

(७) सात वृत्तियाँ (अनुसय), यथा सांसारिक विषयों में राग (कामराग), वैर (पटिघ), भ्रांत दृष्टि (दिट्ठि), त्रिरत्न में अनास्था (विचिकिच्छा), अभिमान (मान), पुनर्जन्म की इच्छा (भवराग) तथा अविद्या (अविज्जा);

(८) पाँच ज्ञानेंद्रियाँ तथा उनके तत्तत् विषयों के संपर्क से होनेवाले पाँच प्रकार के सुख;

(९) निर्वाण-मार्ग की पाँच बाधाएँ (नीवरण), अर्थात् तीव्र इच्छा (कामच्छंद), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (थीनमिद्ध), औद्धत्य एवं संशय (उद्धच्च कुकुच्च), तथा त्रिरत्न के प्रति संदेहभाव (विचिकिच्छा)। 'कामच्छंद' इंद्रियार्थों के आकर्षक गुणों (सुभ निमित्त) के कारण उत्पन्न एवं प्रवृद्ध होता है, 'व्यापाद' द्वेष-भाव (पटिघ) के कारण, 'थीनमिद्ध' निद्रा, अति भोजन एवं मानसिक दौर्बल्य के कारण, 'उद्धच्च-कुकुच्च' अशांति (अनुपशम) के कारण तथा 'विचिकिच्छा' संदेहोत्पादक वस्तुओं के कारण;

(१०) पाँच निम्न श्रृंखलाएँ (ओरंभागियानि संयोजनानि) अर्थात् आत्मा में विश्वास (सक्काय दिट्ठि), त्रिरत्न में संदेह (विचिकिच्छा), व्रतादि कर्मों में विश्वास (सीलब्बत), तीव्र काम (कामच्छंद) तथा वैर (व्यापाद);

(११) पाँच ऊर्ध्व श्रृंखलाएँ (उद्धम्भागियानी), अर्थात् रूपलोक में देहधारी

देव के रूप में जन्म लेने की कामना, अभिमान (मान), औद्धत्य (उद्धच्च), अविद्या (अविज्जा);

मानव-दोषों की उपर्युक्त गणना में कई शब्द ऐसे हैं जो विभिन्न दोष-वर्गों में समान रूप में आए हैं।

यदि अष्टाग मार्ग की साधना एकांत-सेवन (विवेक), विराग, वृत्ति-निरोध तथा त्याग (वोसग्ग) के साथ की जाय तो उससे निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) मनःशुद्धि के चार फलों (सामञ्ञ फल) की प्राप्ति,
(२) उच्च शक्तियों (अभिञ्ञा) की प्राप्ति,
(३) सैंतीस बोधिपक्खीय धम्मों में पूर्णता, जिससे बोधि प्राप्त होती है,
(४) अमृत निर्वाण (अमत निब्बान) की प्राप्ति।

चार आर्य सत्य

धम्मचक्कपवत्तन सुत्त के दूसरे भाग में चार सत्यों की सामान्य व्याख्या की गई है, जो इस प्रकार है—

प्रथम सत्य है दुःख (दुक्ख), जो जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय जनों के मिलन, प्रिय जनों के वियोग तथा इच्छित वस्तुओं की अ-प्राप्ति आदि के कारण होता है। संक्षेप में, जिन पंचस्कंधों से जीवधारियों का निर्माण हुआ है वे सभी दुःखमय हैं।

द्वितीय सत्य है दुःख का मूल (दुक्ख समुदय)। दुःख का मूल कारण है तृष्णा (तण्हा)—सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा, पुनर्जन्म की तृष्णा (जो सर्वास्तिवादियों को होती है), स्व-नाश की तृष्णा (जो उच्छेदवादियों को होती है)। इन तीनों में से प्रत्येक प्रकार की तृष्णा सुख और राग से संबद्ध है और उसी के कारण जीव का पुनर्जन्म होता है।

तृतीय सत्य है दुःख का नाश वा अंत (दुक्खनिरोध)। यह तृष्णा के पूर्ण त्याग वा समूल नाश के द्वारा ही संभव है।

चतुर्थ सत्य है दुःख के नाश का उपाय वा मार्ग (दुक्ख-निरोध-गामिनी पटिपदा)। यह वही अष्टांग मार्ग है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

चार सत्यों की उपर्युक्त व्याख्या, जो यहाँ महावग्ग (पृ० १०) के अनुसार दी गई है, जनसामान्य के लिए है। वस्तुतः दुःख का अर्थ यहाँ सांसारिक दुःख नहीं है, जैसा कि साधारणतः समझा जाता और कहीं-कहीं ग्रंथों में भी पाया जाता है। दुःख का

वास्तविक अर्थ है इस संसार में किसी भी रूप में जन्म लेना वा जीवन धारण करना, चाहे वह पशु के रूप में हो अथवा मनुष्य, देव वा ब्रह्मा के रूप में। तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस संसार में जो कुछ भी प्राप्त करता है—स्वास्थ्य, धन-संपत्ति, संतान, पृथ्वी वा स्वर्ग का राज्य, यहाँ तक कि उच्चतर दिव्य शक्तियाँ भी—वह अंत में नाश को प्राप्त होता है। इस संसार में कुछ भी शाश्वत वा नित्य नही है, अतएव मनुष्य को सभी अनित्य वस्तुओं की कामना त्याग कर नित्य सत्य की खोज करनी चाहिए। अत: 'दुक्ख' का अर्थ है 'यह सुख-दु:खमय सांसारिक जीवन,' जो वस्तुत: सारहीन (अनत्त) एवं अनित्य (अनिच्च) है। और 'सम्मा दिट्ठि' का अर्थ है दु:ख के उपर्युक्त अर्थ को ठीक-ठीक समझ लेना। इसी प्रकार द्वितीय सत्य अर्थात् 'दुक्ख समुदय' का अर्थ है सांसारिक जीवन तथा उसके सुखों एवं दु:खों का कारण। तृतीय सत्य 'दुक्खनिरोध' का अर्थ है 'निब्बान', जहाँ सांसारिक जीवन का प्रवाह पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाता है। चतुर्थ सत्य अर्थात् 'दुक्ख निरोध-गामिनी पटिपदा' से तात्पर्य उस अष्टांग मार्ग से है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, जिसके विषय में विश्वास किया जाता है कि उससे न केवल अनित्य सांसारिक जीवन के प्रवाह तथा उससे होने-वाले दु:खों का नाश हो जाता है। अपितु उसके द्वारा पूर्ण मोक्ष अर्थात् 'निब्बान' भी प्राप्त हो जाता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त चारों सत्य, उपर्युक्त तात्त्विक अर्थ में, साधारण जनों के लिए नहीं हैं। इसी कारण उन्हें सदा 'अरियसच्च' (आर्य सत्य) कहा जाता है। इसमें 'अरिय' विशेषण से यह यह सूचित किया गया है कि ये सत्य केवल उन लोगों के लिए हैं जिनका पर्याप्त आध्यात्मिक उत्थान हो चुका है और जो अपनी साधना के फलस्वरूप 'सोतापत्ति', 'सकदागामी', 'अनागामी' और 'अर्हत्त'—इन चारों में से कोई अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। यह कोई नियम नहीं है कि सभी भिक्षु 'अरिय' ही होते हैं; उनमें से अनेक 'पुथुज्जन' अर्थात् दोषों से युक्त साधारण मनुष्य होते हैं। 'अरिय' केवल वही भिक्षु कहला सकता है जो कम से कम सोतापत्ति की अवस्था तक पहुँच चुका हो। जब तक 'अरिय' न हो जाय तब तक इस सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता कि संसार में धन-संपत्ति और संतान आदि की प्राप्ति दु:ख है।

अनत्तलक्खण सुत्त

बुद्ध द्वारा पंचब्राह्मणों को दिया गया दूसरा उपदेश 'अनत्त-लक्खण सुत्त' है। बुद्ध किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नही करते थे। उनका तर्क था कि यदि

आत्मा (अत्त) शरीर के भौतिक तत्त्वों (रूप) से भिन्न है, तो उसे यह आदेश देने में समर्थ होना चाहिए कि 'रूप' कभी अस्वस्थ न हो, अथवा 'रूप' इस प्रकार का हो, इस प्रकार का न हो। परंतु ऐसा संभव नहीं है। रूप अनित्य (अनिच्च) है और इस कारण वह दु:ख का मूल है। परंतु यदि आत्मा (अत्त), जैसा कि बौद्धेतर लोग मानते हैं, सत्य, नित्य एवं सुखरूप है तथा दु:ख का संबंध 'रूप' से है, तो फिर 'रूप' का संबंध आत्मा से किस प्रकार हो सकता है ? आत्मा का गुण-स्वभाव रूप के गुण-स्वभाव से तत्त्वत: भिन्न होने के कारण इन दोनों का संबंध किसी प्रकार संभव नहीं है। उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि आभ्यंतर हो वा बाह्य, अतीत हो अथवा वर्तमान वा भविष्य, स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, 'रूप' का यह पिंड 'मैं' वा 'मेरा' से भिन्न है। इस तर्क को 'रूप' के अतिरिक्त अन्य स्कंधों अर्थात् 'वेदना', संज्ञा (सञ्ञा), संस्कार (संखारा) और विज्ञान (विञ्ञाण) पर भी इसी प्रकार घटाया जा सकता है। इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को इन अनित्य एवं दु:खमय स्कंधों के प्रति 'विराग' हो जाता है और 'विराग' के द्वारा उसे मानसिक मुक्ति (विमुत्ति) प्राप्त हो जाती है। तब उसे यह अनुभव होता है कि मैं मुक्त हो गया हूँ, मेरे दोष (आस्रव) नष्ट हो गए हैं और मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। इस उपदेश को सुनकर पाँचों ब्राह्मण विमुक्त हो गए और उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

सैंतीस बोधिपक्खीय धम्म

अपने जीवन के अंतिम दिनों में तथा अन्य अनेक अवसरों पर भी जब कभी बुद्ध को अपने शिष्यों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने की आशंका होती थी तब वे कहा करते थे कि मेरे शिष्य अन्य विषयों में भले ही एकमत न हों, किंतु उन्हें सात वर्गों में विभाजित सैंतीस बोधिपक्खीय धम्मों को अवश्य मानना चाहिए, जिनमें कि उनके समस्त उपदेश आ जाते हैं। वैसे धर्म का रहस्य जाननेवालों के लिए सैंतीस धम्मों के सातों वर्गों का पालन करना आवश्यक नहीं है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए केवल एक या दो वर्गों के अनुसार पूर्ण रूप से आचरण करना पर्याप्त है; क्योंकि वस्तुत: उन सात वर्गों में से प्रत्येक में निर्वाण के लिए आवश्यक सभी धर्मों का समावेश है और इस कारण ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सैंतीस में से अनेक धम्म ऐसे हैं जिनमें परस्पर कोई भेद नहीं है, यद्यपि उनके अर्थ जिन वर्गों या अंगों के अंतर्गत उनका समावेश है उनके शीर्षनामों के अनुरूप ही हैं; जैसे, 'इन्द्रियों' और 'बलों' की सूचियाँ एक-सी हैं, परंतु उनके अर्थों में थोड़ा सा अंतर है।

१—धर्मों के प्रथम वर्ग का नाम 'सतिपट्ठान' (सं० स्मृत्युपस्थान) है, जिसका अर्थ है जागरूकता, सजगता अथवा इस बात का ज्ञान कि हमारे शरीर (काय), अनुभव (वेदना) और मन (चित्त) में क्या हो रहा है और हमारे धर्म (धम्म) क्या हैं। इस वर्ग के धर्मों को बुद्ध ने निर्वाण का एकमात्र उत्तम मार्ग (एकायन) कहकर उनकी प्रशंसा की है और दीर्घ[1] तथा मज्झिम[2] निकायों के दो सुत्तों एवं अन्य स्थलों[3] में उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। सतिपट्ठान चार हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) काय सतिपटठान—इसका अभ्यास करने के लिए साधक को चाहिए कि वह बराबर यह लक्ष्य करता रहे कि उसके श्वास-नि:श्वास में, उठने-बैठने-सोने में, अपने अंगों को फैलाने और सिकोड़ने में तथा ऐसे ही अन्य कार्यों को करते समय उसके शरीर के भीतर क्या हो रहा है। उसे इसपर भी विचार करना चाहिए कि उसके शरीर में कौन-से पदार्थ हैं और मृत शरीर को श्मशान में छोड़ देने पर उसकी क्या अवस्थाएँ होती हैं। यह सब विचार करते समय उसे बराबर स्मरण रखना चाहिए कि उसका शरीर उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(२) वेदना सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को चाहिए कि वह इस बात को ध्यानपूर्वक लक्ष्य करता रहे कि उसकी 'वेदना' अर्थात् उसे होनेवाले अनुभव सुखात्मक हैं वा दु:खात्मक, अथवा वे दोनों में से कोई नहीं हैं, अथवा वे शुद्ध हैं वा अशुद्ध; इत्यादि। साथ ही उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके अनुभव उत्पत्ति-विनाश-शील हैं।

(३) चित्त सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को इस बात की अवधारणा करनी चाहिए कि उसका मन राग, द्वेष और मोह से मुक्त है वा नहीं, तथा वह संक्षिप्त (संखित्त) अर्थात् संकुचित है वा विक्षिप्त (विक्खित्त), उसका उत्थान हुआ है वा पतन, इत्यादि। उपर्युक्त स्मृत्युपस्थानों की भाँति यहाँ भी उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसका मन उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(४) धम्म सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को इन बातों का पता लगाना चाहिए कि वह विघ्नों (नीवरणों; इनकी सूची के लिए देखिए पृ० १००) से मुक्त हो गया है वा नहीं; शरीर के स्कंधों की उत्पत्ति और विनाश किस प्रकार होता

१. दीघ० २, महासतिपट्ठान सुत्तंत।
२. मज्झिम० १, पृ० ५५, सत्तिपट्ठान सुत्त।
३. संयुत्त० ५, पृ० १४१ तथा आगे।

है; उसे संबोज्झंगों (देखिए आगे पृ० १४३), चार सत्यों तथा ऐसे अन्य उच्च धम्मों की प्राप्ति हो गई है वा नहीं।

२—धम्मों के द्वितीय वर्ग को 'सम्मप्पधान' (=सम्यक् प्रहाण) अथवा समुचित अभ्यास वा प्रयत्न कहते हैं। इसके अंतर्गत बताए गए कर्तव्य वे ही हैं जो अष्टांग मार्ग के 'सम्मावायाम' में बताए गए हैं; अर्थात् पापों को नष्ट करना तथा पुण्यों का संग्रह एवं उनकी रक्षा और वृद्धि करना (दे० पृ० १३३-१३४)।

३—धम्मों का तृतीय वर्ग 'इद्धिपाद' (सं० ऋद्धिपाद) कहलाता है, जिसका अर्थ है निम्नलिखित उपायों से असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त करना—

(क) छद-समाधि-पधान-संखार (सं० छंद-समाधि-प्रहाण-संस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानों में सिद्धि प्राप्त करने की प्रबल इच्छा;

(ख) विरिय-समाधि-पधान-संखार (सं० वीर्य-समाधि-प्रहाण-संस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानों में सिद्धि प्राप्त करने में अपनी शक्ति का विनियोग;

(ग) चित्त-समाधि-पधान-संखार (सं० चित्त-समाधि-प्रहाण-संस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानों की सिद्धि में अपने मन को लगाना; तथा

(घ) विमंस-समाधि-पधान-संखार (मीमांसा-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् ध्यान की अवस्थाओं में काम करनेवाले मनस्तत्त्वों की परीक्षा और उनका विवेक।

साधक को सदा सचेत रहना चाहिए कि उसका उक्त चारों सतिपट्ठानों का अभ्यास क्षीण अथवा आलस्य और अभिमान के कारण अवरुद्ध न हो जाय। साथ ही उसे ध्यान रखना चाहिए कि सांसारिक सुखों के आकर्षण में पड़कर कहीं वह अपनी साधना खंडित न कर दे। इन अभ्यासों को करते-करते साधक देश और काल अथवा दिन और रात्रि के भेदों से ऊपर उठ जाता है और साथ ही उसे अपने शरीर के तत्त्वों का ज्ञान रहता है।

कहा गया है कि इन अभ्यासों के फलस्वरूप अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जिनकी एक लंबी सूची निकायों में दी हुई है; जैसे—इनके द्वारा साधक ऊपर उठकर आकाश में उसी प्रकार चल सकता है जैसे धरती पर, वह एक दीवार या ऐसी अन्य किसी ठोस वस्तु के घेरे में से उस पार निकल जा सकता है, इत्यादि।

४—धम्म का चतुर्थ वर्ग इंद्रियाँ अर्थात् शरीर की प्रधान शक्तियाँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) 'सद्धिन्द्रियं' (सं० श्रद्धेन्द्रिय) अर्थात् श्रद्धा-शक्ति। साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह बुद्ध को सम्यक् ज्ञानी, संसार-तत्त्व का ज्ञाता तथा मनुष्यों एवं देवों

उपर्युक्त शक्तियाँ विभिन्न साधकों में भिन्न-भिन्न मात्रा मे होती हैं, और इसी भेद के आधार पर साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में साधकों की श्रेणियां निर्धारित की जाती है।[१]

उपर्युल्लिखित इंद्रियों का संबंध कार्यरत शक्तियों से है, अतः उनके लिए 'इंद्रिय' शब्द का प्रयोग किया गया है। बौद्धों के मत से इंद्रियों की संख्या बाईस है, जो इस प्रकार है--

(क) छः ज्ञानेंद्रियाँ--आँख, कान, नाक, जीभ, शरीर और मन।

(ख) जीवित व्यक्तियों में पाए जानेवाले तीन तत्त्व—जीवितेंद्रिय (जीवितिंद्रिय), पुरुषेंद्रिय (पुरिसिंद्रिय) और स्त्री-इंद्रिय (इत्थिंद्रिय)।

(ग) पाँच मनःशक्तियाँ--सुख (सुखिन्द्रिय), दुःख (दुक्खिन्द्रिय), प्रसन्नता (सोमनस्सिन्द्रिय), अप्रसन्नता (दोमनस्सिन्द्रिय), सुख-दुःख दोनों का अभाव (उपेक्खिन्द्रिय)। प्रथम दो का संबंध शरीर से है, द्वितीय दो का मन से और अंतिम एक का शरीर और मन दोनों से। इन इंद्रियों में से प्रत्येक का एक विशेष आधार (निमित्त) , कारण (निदान), अनुबंध (पच्चय) और प्रेरक हेतु (संखार)होता है। 'दुक्खिन्द्रिय' का लय प्रथम प्रकार के ध्यान में हो जाता है, दोमनस्सिंद्रिय का द्वितीय प्रकार के ध्यान में, सुखिन्द्रिय का तृतीय प्रकार के ध्यान में और सोमनस्सिन्द्रिय का चतुर्थ प्रकार के ध्यान में। जब साधक ध्यान की अंतिम भूमिका अर्थात् 'सञ्ञावेदयितनिरोध' (जिसमें चेतना प्रायः विलीन हो जाती है) में स्थित होता है तब उपेक्खिंद्रिय का भी लय हो जाता है।

(घ) तीन प्रकार की ज्ञान-शक्तियाँ, अर्थात् (१) वह शक्ति जो मनुष्य को अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है (अन- ञ्ञातञ्ञास्सामीतिन्द्रियं = सं० अनज्ञात-आज्ञास्यामि इति इन्द्रियम्); (२) वह शक्ति जो मनुष्य को ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है (अञ्ञिन्द्रियं = (सं० आज्ञा + इन्द्रियम्); और (३) वह शक्ति जिससे संपूर्ण ज्ञान, सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है (अञ्ञातावीन्द्रियं = सं० आज्ञातावीन्द्रियम्)।

(ङ) ऊपर चतुर्थ वर्ग में गिनाई गई पाँच इंद्रियाँ।

१. दोषक्षय वा चित्त-संस्कार की सर्वोच्च अवस्था अर्हत् पद है, जिसमें समस्त दोषों का क्षय हो जाता है (खीणासव)। ऊपर से नीचे की ओर अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार है--

(१) अर्हत् (पूर्ण वा सिद्ध पद); (२) 'अंतरापरिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो देवयोनि में रहते हुए अपने अंतरकालीन जीवन में ही 'निब्बान'

५—धम्म का पंचम वर्ग 'बल' वा आंतरिक शक्ति कहलाता है। इसके अंतर्गत बताए गए पाँच प्रकार के बल वही हैं जो इंद्रियों में गिनाए गए हैं, अर्थात् श्रद्धा (सद्धा), शक्ति (विरिय), स्मृति (सति), ध्यान (समाधि) और ज्ञान वा प्रज्ञा (पञ्ञा)। 'इंद्रिय' और 'बल' में मुख्य अंतर यह है कि इंद्रिय क्रियाशील होती है और उसका सदा एक ही रूप में रहना आवश्यक नही है, परंतु बल इंद्रिय की क्रिया का परिणाम है और इस कारण वह स्थिर होता है और साधक को दृढ़तापूर्वक इंद्रिय में स्थित रखता है, अर्थात् इंद्रिय बल के रूप में परिणत हो जाती है।

अन्य सभी अभ्यासों के समान बलों के साथ 'विवेक' (एकांतता), 'विराग' (राग या आसक्ति का न होना), 'निरोध' (नाश), और 'वोसग्ग' (बल की प्राप्ति के लिए पूर्ण तन-मन से प्रयत्नशील होना) भी होना चाहिए। ये बल प्राप्त हो जाने पर सूक्ष्म बंधनों (उद्धंभागिय–संयोजन) को काटने में सहायक होते हैं और साथ ही निब्बान के उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम करते हैं।

प्राप्त करते हैं; (३) 'उपहच्च परिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो अपने जीवन के अंत के कुछ पहले निब्बान प्राप्त करते हैं; (४) 'असंखार-परिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो अत्यल्प परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं; (५) 'ससंखार-परिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो अत्यंत परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं; (६) 'उद्धंसोतो–अकनिट्ठगामी', अर्थात् वे अनागामी जो क्रमशः एक स्वर्ग से दूसरे उच्च स्वर्ग में जाते हैं और अकनिट्ठ स्वर्ग में रहते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं; (७) 'सकदागामी', अर्थात् वे जिनका, निर्वाण प्राप्त करने के लिए एक बार पुनः इस संसार में जन्म होगा; (८) 'एकबीजी', अर्थात् वे सकदागामी जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए केवल एक बार और कामधातु में जन्म लेंगे; (९) 'कोलंकोल', अर्थात् वे सकदागामी जो एकाधिक बार कामधातु की देवयोनि में जन्म लेंगे (देवकुलंकुल; जो कम-से-कम एक बार मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं वे 'मनुष्य-कुलंकुल' कहलाते हैं)। सबसे निचली अवस्था (१०) 'सोतापन्न' वा 'सत्तक्खत्तुपरम' की होती है, जिसे निर्वाण प्राप्त करने के लिए इस संसार में सात बार और जन्म लेना पड़ता है। सोतापन्न दो प्रकार के होते हैं—एक (११) 'सद्धानुसारी', जो ज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा पर अधिक निर्भर रहते हैं और दूसरे (१२) 'धम्मानुसारी', जो ज्ञानी होते हैं और श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक निर्भर रहते हैं। (अधिक विवरण के लिए दे० नलिनाक्ष दत्त, 'ऐस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म', पृ० २५०, २६३, २६८; कोश, ३)।

६—षष्ठ वर्ग के धम्म, जो संबोज्झंग (सं० सम्बोध्यंग) कहलाते हैं, और जिनके द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है (बोधाय संवत्तन्तीति संबोज्झंग), बुद्ध के द्वारा सम्यक् संबुद्ध के चक्रवर्तिरत्नों के समान सात रत्न कहे गए हैं। उन्होंने इनका बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया है। इनके अभ्यास से दोषों या आसवों (काम, भव, दिट्ठि) का नाश हो जाता है, पंच बाधाएँ (नीवरण) पूर्णतः दूर हो जाती हैं और साधक को ज्ञान (विज्जा) और मुक्ति (विमुत्ति) प्राप्त हो जाती है; दूसरे शब्दों में वह अर्हत् (खीणासव) हो जाता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि 'अब मेरा कर्तव्य पूरा हो गया और अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा' (खीणा जाति कतं करणीयं नापरं इत्थत्ताय)। संबोज्झंग की प्राप्ति के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि साधक पूर्ण रूप से शीलों का आचरण करनेवाला हो, जो कि उसके लिए वैसे ही आधाररूप हैं जैसे वृक्ष के लिए पृथ्वी (सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयम्); और तब उसे अष्टांग मार्ग (अट्ठंगिकमग्ग) को गुरु वा पथ-प्रदर्शक (कल्याणमित्त) के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

इस वर्ग के धम्मों को ऐसे क्रम से रक्खा गया है कि प्रत्येक धम्म अपने बाद वाले धम्म के लिए एक सीढ़ी के समान है और प्रथम धम्म से अंतिम धम्म तक क्रमशः प्रगति को हम उसी रूप में समझ सकते हैं जैसे ध्यान में साधक का क्रमशः प्रथम से चतुर्थ भूमिका तक उत्थान होता है। उनकी क्रमिक व्याख्या से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा—

(१) सतिसं बोज्झंग (=स्मृतिसम्बोध्यंग)—इसकी प्राप्ति उसी रीति से की जाती है जैसे उपर्युक्त चार सतिपट्ठानों की (दे० पूर्व पृ० १३८–३९), जो वस्तुतः ध्यान के ही एक प्रकार हैं। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि साधक ने शील के आचरण, ध्यान (समाधि) के अभ्यास और प्रज्ञा की प्राप्ति में तथा सांसारिक विषयों से अपने मन को मुक्त करने में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त कर ली हो। उसमें यह समझने की अंतर्दृष्टि भी होनी चाहिए कि विमुक्ति क्या है (विमुक्ति-ञाण-दस्सन)। साथ ही उसे अपनी स्मरण-शक्ति इतनी बढ़ा लेनी चाहिए कि धर्म का प्रवचन सुनने के बाद वह एकांत में जाकर उसके तत्त्वों पर मनन कर सके।

(२) धम्म विचय संबोज्झंग अथवा धम्म का विवेक (विचय)—साधक को इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि उसे जिन धम्मों का अभ्यास और आचरण करना है वे उत्तम हैं वा निकृष्ट, सदोष हैं वा निर्दोष, इत्यादि। संबोज्झंग की सिद्धि के लिए उसे एकांत में बैठकर सुने हुए धम्म-प्रवचन के विषयों और अर्थों का विवेचन करना चाहिए।

(३) विरिय संबोज्झंग अथवा शक्ति—सब प्रकार से अपनी शक्ति (निक्कम और परक्कम) के प्रयोग (आरंभ) से इसकी वृद्धि होती है। यह वस्तुतः 'विरियिन्द्रिय' के ही समान है जिसकी विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है; केवल इतना इसमें और कहा गया है कि साधक को प्रवचन सुनने और उसका मनन और विवेचन करने के बाद उसी के अर्थ वा विषय की 'भावना' करनी चाहिए।

(४) पीति संबोज्झंग (=प्रीति वा प्रसन्नता)—इसकी प्राप्ति वस्तुतः पूर्वोक्त तीनों की ही प्राप्ति से होती है। इसकी रीति वही है जो तीसरे प्रकार के ध्यान की बतलाई गई है, जिसमें साधक वितर्क और विचार से बिलकुल रहित होकर आनंद प्राप्त करता है। इसके पूर्व के संबोज्झंग में वह भावना का अभ्यास करता है और उसमें सफल होने पर उसे प्रीति (पीति) प्राप्त होती है।

(५) पसद्धि संबोज्झंग अथवा मानसिक शांति—पूर्वोक्त चार संबोज्झंगों, विशेषतः 'पीति', के प्राप्त होने पर शारीरिक और मानसिक शांति प्राप्त होती है।

(६) समाधि संबोज्झंग अथवा ध्यान—पूर्वोक्त 'पसद्धि' अर्थात् शांति की प्राप्ति से ध्यान एकाग्र हो जाता है और साधक को मानसिक दृढ़ता और विश्रांति प्राप्त होती है।

(७) उपेक्खा संबोज्झंग अथवा मानसिक समभाव—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चतुर्थ ध्यान की भाँति इसके द्वारा चित्त की वृत्तियाँ सम हो जाती है और किसी भी लाभ-अलाभ, सुख-दुःख वा हर्ष-शोक से चित्त में विक्षोभ नहीं होता।

ये सात अभ्यास बुद्ध ने रुग्ण भिक्षुओं के स्वास्थ्य लाभ करने के लिए बतलाए हैं। इन्हें सिद्ध कर लेने के उपरांत साधक बहुत लोकप्रिय हो जाता है और लोगों को अपने प्रवचनों और व्याख्यानों से संतुष्ट कर सकता है। इनके द्वारा अनागामी 'अंतरापरिनिभायी', 'उपहच्च परिनिभायी' अथवा 'उद्धंसोतो अकणिटठगामी' हो जाता है (पृ० १४२)। अंत में इनके द्वारा तीन दोषों—राग, द्वेष, मोह—का नाश हो जाता है। साधकगण कभी-कभी इनका अभ्यास चार ब्रह्मविहारों (मेत्ता, करुणा, मुदिता, उपेक्खा) के साथ-साथ करते हैं।

अध्याय १०

दार्शनिक समस्याएँ

(क) प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद)

'प्रतीत्य समुत्पाद' बौद्ध धर्म के मूल उपदेशों में से एक है। कहा जाता है कि बुद्ध को इसका ज्ञान उसी रात्रि में हुआ था जिसमें उन्हें बोधि प्राप्त हुई थी। जब उनका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो गया तब उन्हें इस दृश्य-विश्व के मौलिक सत्य का अनुभव हुआ। तब उन्होंने स्वाभाविक क्रम से कारणों की एक शृंखला या परंपरा स्थिर की, जिसकी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में जीवों वा पदार्थों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसकी अनित्यता वा क्षणभंगुरता के कारण कैसे वे दुःख के बंधन में फँस जाते है और फिर किस प्रकार उक्त कारण-शृंखला की प्रत्येक कड़ी को काटकर जीव पुनर्जन्म के चक्र तथा उससे होनेवाले दुःखों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस कारण-परंपरा या प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धांत से इस सत्य की स्थापना हुई कि संसार में बारंबार जन्म और उससे होनेवाले दुःखों का संबंध किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर, वा नित्य प्रकृति, वा अणु-परमाणु, वा अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी ब्रह्म वा आत्मा, वा कारण रहित संयोग, अथवा नियति से नही है, प्रत्युत उनके कुछ निश्चित हेतु (कारण) और प्रत्यय (शर्तें) होते हैं।

इस सिद्धांत के द्वारा इस प्रकार के वितर्कों की निस्सारता प्रकट हो गई कि यह संसार शाश्वत है वा अनित्य (उच्छेद), इसका कोई आदि (पूरुआंत) अथवा अंत (अपरांत) है वा नहीं, यह सांत (अंतवान्) है वा अनंत (अनंतवान्) इत्यादि। बुद्धघोष के मत से इसमें 'समुत्पाद' शब्द द्वारा नास्तिवाद (नत्थिता) और उसके विरोधी अस्तिवाद (अत्थिता) दोनों सिद्धांतों का निरसन है, जिन्हें बुद्ध ने अस्वीकृत कर दिया था। इस सिद्धांत से 'मैं क्या था ? क्या हूँ ? क्या होऊँगा ?' इत्यादि प्रश्नों का, अर्थात् आत्मा के अस्तित्व और उसकी नित्यता के संबंध में सभी प्रकार की धारणाओं का, अंत हो गया। इस प्रकार इसने बुद्ध के समय में प्रचलित वेदांत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, जैन वा आजीवक सभी मतों का खंडन कर दिया और इस सत्य की दृढ़ स्थापना कर दी कि इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति और इसका विनाश कारण और कार्य के अखंड नियम के अधीन होता है, जो कि प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है और इस कारण उसमें

होनेवाला परिवर्तन क्षणिक होता है। दूसरे शब्दों में, संसार के सभी जीव और पदार्थ एक अखंड प्रवाह की स्थिति में हैं। फिर प्रत्येक लघु क्षण में भी, जिसका कि अस्तित्व भी अकल्पनीय है, तीन भाग होते हैं—'उत्पत्ति', 'स्थिति' और 'व्यय' (=नाश) अतः इसकी भली भाँति कल्पना की जा सकती है कि यह परिवर्तन कितना शीघ्र और साथ ही निरतर गति से होता है और इस निरंतर परिवर्तन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो नित्य तत्त्व समझकर ग्रहण किया जा सके। इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सांसारिक विषयों के आकर्षण से अपने को बचाने में समर्थ होता है, उसका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है और फिर उसका संसार में जन्म नही होता। तब उसे निर्वाण (निब्बान) की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो सर्वथा कारण-रहित और प्रत्यय-रहित (अप्रतीत्यसमुत्पन्न) है और जिसकी उपमा केवल आकाश से दी जा सकती है। जिस प्रकार आकाश के दर्शन के लिए कोई श्रम नहीं करना पड़ता, केवल उसके और हमारे बीच से दृष्टि को रोकनेवाले पर्वत, वृक्ष, भवन आदि पदार्थों के हट जाने से ही वह दिखाई पड़ जाता है, उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति श्रम के द्वारा नहीं प्रत्युत मन की मुक्ति में बाधक होनेवाले कारणों,अर्थात् मिथ्या ज्ञान, मानस-मल एवं दार्शनिक तर्क-वितर्क आदि, को दूर करने से ही होती है। निर्वाण कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त करने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता हो। प्रत्युत ऐसे व्यक्ति को वह स्वतः प्राप्त हो जाता है जो प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् कारण-परंपरा के सिद्धांत को समझकर प्रत्येक प्रकार की मिथ्या धारणाओं से अपने मन को मुक्त कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्वाण वा सत्य को प्राप्त करने अथवा बुद्ध होने के लिए केवल कारण-परंपरा के सिद्धांत को समझ लेना आवश्यक है। निम्नलिखित वाक्यों से यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है—

यो प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति सो धर्म पश्यति। यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति। (जो प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है उसे सत्य का साक्षात्कार होता है। जिसे सत्य का साक्षात्कार होता है उसे बुद्धत्व प्राप्त होता है।)

उत्पादाद्वा तथागतानां अनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवेयं धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियमता तथता अवितथता अनन्यतथता भूतता सत्यता तत्त्वं अविपरीतता विपर्यासेत्येवमादिभगवान्मैत्रेयवचनम् (कोशव्याख्या, ३।४१)। (भगवान् मैत्रेय ने सत्य कहा है कि तथागत की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति वा स्थिति तथा संसार के पदार्थों की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति वा स्थिति में कोई अंतर नहीं है। उसका तथा स्थिति, प्राकृतिक नियम, यथार्थता, अपरिवर्तनशीलता, सत्यता, अविपरीतता, भ्रमरहितता इत्यादि का एक ही अर्थ है।)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से प्रथम से यह विदित होता है कि प्रकृति का यथार्थ ज्ञान हो जाने से सत्य का, बुद्ध का, दर्शन स्वतः हो जाता है ; और द्वितीय से यह विदित होता है कि यदि तथागत को गौतम बुद्ध के समान एक देहधारी व्यक्ति के रूप मे (यद्यपि उन्हें सर्वथा दोषरहित और पवित्र मानकर) देखा जाय तो अन्य सब पदार्थों की भाँति उन्हें भी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के अधीन मानना पड़ेगा ; परंतु यदि उन्हें अशरीरी समझा जाय, जो वे वस्तुतः सत्य के साक्षात्कार द्वारा हो गए हैं, तो उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की बात करना व्यर्थ है।

बौद्ध दर्शन में यह तथ्य सिद्ध मान लिया गया है कि सभी सांसारिक पदार्थ 'संस्कृत' हैं और निर्वाण, बुद्ध वा तथागत तथा आकाश 'असंस्कृत' हैं । प्रतीत्य समुत्पाद वा सहेतु उत्पत्ति के नियम का विनियोग केवल 'संस्कृत' पदार्थों के ही संबंध में हो सकता है, अतः यदि कोई यह भली भाँति समझ ले कि 'संस्कृत' पदार्थ क्या है, तो उसे 'असंस्कृत' सत्य का साक्षात्कार उसी प्रकार हो जाता है जैसे बीच के दृष्टिबाधक पदार्थों के हट जाने से आकाश का दर्शन होता है ।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन जो सिद्धांत स्थापित करना चाहता है वह यह है कि हमारी संकुचित दृष्टि और ज्ञान के द्वारा 'लोकोत्तर', 'असंस्कृत', 'भूतकोटि' (चरम सत्ता) वा सत्य के स्वरूप को समझना किसी प्रकार संभव नहीं है, परंतु यह समझ लेना सरल है कि सांसारिक दृश्य पदार्थों में कोई तत्त्व ढूँढ़ना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ने के समान है, वे सर्वथा निस्सार हैं। प्रतीत्य समुत्पाद के नियम द्वारा मनुष्य को पदार्थों की इस निस्सारता का ज्ञान सरलता से हो जाता है, जिससे उसका संपूर्ण भ्रम और मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है । उसका मन दर्पण की भाँति स्वच्छ हो जाता है, जिसमें सत्य बिना किसी प्रयास के स्वतः आभासित होता है ।

परंतु नागार्जुन ने इस नियम से दूसरा ही तात्पर्य निकाला है । उनका तर्क यह है कि सत् पदार्थों का कभी अभाव नहीं होता, वे शाश्वत होते हैं, तथा असत् पदार्थों का भाव वा अस्तित्व नहीं होता। इन दोनों के बीच की कोई अल्पस्थायी सत्ता नहीं है ; ऐसे मध्यवर्ती पदार्थ का अस्तित्त्व तर्कविरुद्ध है। इस प्रतिज्ञा के आधार पर उनका कथन है कि हेतु अपने फल में अपरिवर्तित रूप मे विद्यमान रहना चाहिए। परंतु यह संभव नहीं है, इसलिए कोई फल हेतु वा प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होता। उनके मत से केवल निर्वाण ही सत् है, क्योंकि वह किसी हेतु या प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होता । परंतु सांसारिक पदार्थ, जो हेतु और प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, असत् हैं ; वे केवल मानसी सृष्टि (प्रपंच) हैं। इस प्रकार नागार्जुन ने इस नियम का उपयोग वेदांतियों के

मायावाद की भाँति सांसारिक पदार्थों की असत्ता वा मिथ्यात्व (धर्मशून्यता) सिद्ध करने के लिए किया है। इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए कि 'अस्मिन् सति इदं भवति' के नियम का प्रतिपादन स्वयं बुद्ध ने किया था, नागार्जुन का कहना है कि इस नियम का संबंध मुख्यतः पदार्थों की सापेक्ष किंतु दृश्य सत्ता—जैसे दीर्घ-लघु, कृष्ण-शुक्ल, काष्ठ-मंच, राम-श्याम—से है। सांसारिक पदार्थों के केवल भिन्न-भिन्न नाम भर हैं; वस्तुतः वे एक ही तत्त्व है, जिसे नागार्जुन ने एक गुणरहित आधार के रूप में माना है और उसे 'शून्यता' नाम दिया है। इस नियम का प्रतिपादन बुद्ध ने अज्ञानी मनुष्यों को पदार्थों की तात्त्विक एकता का बोध कराने के लिए किया था।

नागार्जुन की इस व्याख्या को बुद्धघोष और वसुबंधु जैसे बौद्ध मत के प्राचीन आचार्यों ने नहीं माना है। अभिधर्म के लेखकों ने कारण-शृंखला की प्रत्येक कड़ी की विस्तृत व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

अविज्जापच्चया संखारा, संखारपच्चया विञ्ञानं, विञ्ञानपच्चया नाम रूपं, नामरूपपच्चया सड़ायतनं, सड़ायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खखंधस्स समुदयो होति। अविज्जयात्वेव असेसविरागनिरोधा संखार निरोधो, संखारनिरोधा विञ्ञाननिरोधो, विञ्ञाननिरोधा नामरूप निरोधो,.....जातिनिरोधा जरामरणं सोक परिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति। एवमेतस्स दुक्खखन्धस्स निरोधो होति।

उपर्युक्त नियम में बारह कारण तीन वर्गों में इस प्रकार विभक्त हैं—

पूर्वान्त (पूर्व जन्म)—१. अविद्या, २. संस्कार,

मध्य (वर्तमान जीवन)—३. विज्ञान (चेतना), ४. नाम-रूप, ५. षडायतन (छः ज्ञानेंद्रियाँ), ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान, १०. भव (पुनर्जन्म की इच्छा);

अपरांत (भविष्य जन्म)—११. जाति (पुनर्जन्म), १२. सोक-परिदेवन-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास (जरा-मरण, शोक, विलाप, दुःख और निराशा)।

दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार है—

क्लेश—अविद्या, तृष्णा, उपादान;

कर्म—संस्कार, भव;

वस्तु—विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति, जरा-मरण।

इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अविज्जा (=अविद्या) का मूल अर्थ है चरम सत्य, बोधि वा निर्वाण के ज्ञान का अभाव ; सांसारिक पदार्थों की अनात्मता के ज्ञान का अभाव तथा उनकी अनित्यता के कारण, जो कि दुःख का मूल है, चार आर्य सत्यों के ज्ञान का अभाव, जिनके अंतर्गत कारण-परंपरा का नियम तथा अष्टांग मार्ग भी है। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों के इस ज्ञानाभाव के कारण मोह उत्पन्न होता है और मोह से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। ये तीनों मनुष्य जीवन के लिए घोर बाधास्वरूप तथा समस्त दुःखों के कारण है। अविद्या को वस्तुतः ज्ञान का अभाव मात्र नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती। अविद्या से तात्पर्य राग, द्वेष, मोह आदि दोषों या मलों से है जो भावरूप तथा संस्कारों (संखारा=मिथ्या धारणाएँ) के जनक हैं। ये अविद्या अर्थात् मूल सत्यों के अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इसके द्वारा मन में पुण्य, अपुण्य और 'अनेञ्ज' (न पुण्य, न अपुण्य) संबंधी कल्पनाओं की सृष्टि होती है। जब इस प्रकार की कल्पनाएँ मनुष्य के मन में बद्धमूल होकर उसके जीवन के अत तक बनी रहती है तो उन्हें 'संस्कार' कहते है। ये संस्कार मनुष्य के द्वारा उसके संपूर्ण जीवन में किए गए कर्मो के परिणाम-स्वरूप भी होते है। मनुष्य के इन्हीं संस्कारों वा कर्मफलों के द्वारा उसके अगले जन्म के भविष्य का निर्माण होता है। उपर्युक्त दोनों, अर्थात् अविद्या और संस्कार, का संबंध जीव के पूर्वजन्म (पूर्वान्त) से जोड़ा गया है।

'मध्य' अर्थात् वर्तमान जीवन का प्रारंभ 'विज्ञान' (विञ्ञाण) से होता है, जिसका अर्थ 'कोश' (३।२८) के अनुसार वह विशेष चेतना तत्त्व है जो पुनर्जन्म का कारण है (प्रतिसन्धि विज्ञान)। यह मन (जो छः ज्ञानेंद्रियों में से एक है) का एक रूप भी है (मनोविज्ञान)।

इस मनस्तत्त्व से अन्य मनस्तत्त्व अर्थात् 'वेदना', 'संज्ञा', 'संस्कार' और पंच ज्ञानेंद्रियाँ (पंच-इंद्रिय-विज्ञान) उत्पन्न होती हैं। इन सबको समष्टि रूप में 'नाम' कहते हैं जो नम् धातु (=मोड़ना या झुकाना, मन को विषयों की ओर प्रवृत्त करना) से व्युत्पन्न होता है। मानसिक वृत्तियाँ बिना किसी बाह्य आश्रय या विषय के नहीं रह सकतीं, अतः उनके लिए 'रूप' वा धातुओं—जैसे मांस, रक्त, अस्थि इत्यादि—की आवश्यकता होती है। इस कारण पूर्व जन्म के संस्कार एक नए जीव को उत्पन्न करते हैं जो अपना जीवन गर्भ के भीतर एक वर्धमान डिंभ के रूप में प्रारंभ करता है और जिसका पोषण माता के रक्त द्वारा होता है। गर्भ के भीतर ही बढ़ते हुए इस नाम-

रूपात्मक पिंड में ज्ञानेंद्रियाँ उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि अपने-अपने विषयों के अभाव में वे निष्क्रिय बनी रहती हैं।

जीव जब गर्भ वा अंड से बाहर आता है तब उसकी छहों ज्ञानेंद्रियों का संपर्क (फस्स=स्पर्श) उनके छः प्रकार के विषयों से होता है और वे 'वेदना' अर्थात् बुरे या भले अनुभव उत्पन्न करती हैं। वेदनाएँ अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार की तृष्णा (तण्हा) उत्पन्न करती हैं, जैसे—सांसारिक विषयों की तृष्णा (काम-तृष्णा), काम, रूप और अरूप इन तीन प्रकार की योनियों में से किसी में पुनः जन्म लेने की तृष्णा (भव-तृष्णा), अथवा अपने जीवन का अंत कर देने की तृष्णा (विभव-तृष्णा)। इनमें से भव-तृष्णा केवल शाश्वतवादियों तक सीमित है और विभव-तृष्णा केवल उच्छेदवादियों तक। किसी भी प्रकार की तृष्णा से अपनी इच्छित वस्तुओं एवं मिथ्या धारणाओं के प्रति घोर आसक्ति (उपादान) हो जाती है। 'उपादान' शब्द का अर्थ है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने (छंद) और प्राप्त वस्तु को अपने पास बनाए रखने की बलवती इच्छा (राग)। यह चार प्रकार का कहा गया है—सांसारिक विषयों में आसक्ति (काम), भ्रांत विचारों (दृष्टि) के प्रति आसक्ति, यज्ञ-तप आदि कर्मों (शील-व्रत) के प्रभाव तथा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास के प्रति आसक्ति। उपादान का परिणाम है काम, रूप और अरूप—इन तीन योनियों में से किसी में पुनर्जन्म (भव वा पुनर्भव)।

कारण-शृंखला की तीन अंतिम कड़ियाँ, अर्थात् 'भव' (पुनर्जन्म की इच्छा), 'जाति' (जन्म) एवं 'जरा-मरण' वस्तुतः पूर्ववर्ती कारणों की भाँति कोई क्रमिक कड़ियाँ नहीं हैं, प्रत्युत वे केवल यह संकेत करती हैं कि कारण-शृंखला पुनः प्रारंभ हो जाती है। अतः सच पूछा जाय तो 'उपादान' का परिणाम है पुनर्जन्म की चेतना (प्रतिसंधि विज्ञान), जिसका अर्थ है दूसरे जन्म का प्रारंभ।

कारण-शृंखला की बारह कड़ियों में से 'विज्ञान' से लेकर 'भव' तक आठ कड़ियों का क्रम एक माला के रूप में है और वे वर्तमान जीवन की व्याख्या करती हैं। प्रथम दो (अविद्या, संस्कार) तथा अंतिम दो कड़ियों (जाति, जरा-मरण) के संबंध में यह माना गया है कि वे क्रमशः जीव के अतीत एवं भविष्य जन्मों की सूचक हैं, जिनमें बौद्ध धर्म विश्वास करता है।

(ख) कर्म-सिद्धांत

पहले कहा जा चुका है कि बुद्ध ने मनुष्य के जीवन का भविष्य निर्धारित

करने में कर्म के प्रभाव पर बहुत जोर दिया था। मनुष्य-जीवन पर उसके कर्मों के प्रभाव की बात ब्राह्मण-मतों में भी स्वीकृत है, परंतु बौद्ध लोग नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण, कर्म-फलों के दूसरे जन्मों में संक्रमित होने के संबंध में और ही प्रकार के तर्क उपस्थित करते है।

बौद्ध लोग इस बात को नहीं मानते कि जो मनुष्य कर्म करता है वही उस कर्म का फल भोगता है, अथवा एक मनुष्य कर्म करता है और दूसरा मनुष्य उसका फल भोगता है (सो करोति सो पटिसंवेदयति, अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदयति)।[1]

बौद्ध लोग नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, इस कारण उन्हें यह मत भी स्वीकार्य नही है कि जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, अथवा जो कर्म करता है उसके अतिरिक्त कोई दूसरा उसका फल भोगता है। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति एक निरंतर प्रवाह की स्थिति में है, अर्थात् उसके पाँचों स्कंध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—जिनसे वह बना हुआ है, प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं, इसलिए यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि जो व्यक्ति कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जिस व्यक्ति ने कर्म किया वह तो वस्तुतः उस कर्म का फल होने के समय तक वही व्यक्ति रह ही नहीं गया—प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के कारण वह परिवर्तित हो गया—यद्यपि वह पहले से सर्वथा भिन्न व्यक्ति नहीं हो गया।

बौद्धों का कर्म-सिद्धांत उनके क्षणिकवाद तथा कारण-परंपरा के सिद्धांत से संबद्ध है। उनके मत के अनुसार संसार के समस्त जीव एवं अन्य पदार्थ एक निरंतर प्रवाह की स्थिति में हैं, अतः किन्हीं भी दो क्षणों में वे एक ही स्थिति में नहीं रह सकते। एक क्षण की स्थिति के नष्ट होने पर ही दूसरे क्षण की स्थिति प्राप्त होती है, जैसे एक बीज के नष्ट होने पर ही उससे वृक्ष (अंकुर) उत्पन्न होता है। बीज से उत्पन्न अंकुर वह बीज नही है, परंतु वह सर्वथा उससे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि बीज के गुण अंकुर में संक्रमित हो जाते है, यद्यपि भूमि, जल, वायु इत्यादि की स्थिति के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। कर्म के संबंध में बौद्धों की यह युक्ति कतिपय ब्राह्मण दार्शनिकों को भी मान्य हो गई होती, यदि बौद्धों ने आत्मा को शरीर से पृथक् एक अपरिवर्तनशील सत्ता के रूप में स्वीकार किया होता। परंतु बौद्ध आचार्यो के मत से यदि देहधारियों में आत्मा नाम की कोई वस्तु हो भी तो वह अपरिवर्तनशील नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आत्मा वा पुद्‌गल (पुग्गल) अविच्छेद्य रूप से शरीर के पंच-स्कंधों के साथ

१. संयुत्त० २, पृ० ७५-६।

बँधा हुआ है और उनसे पृथक् उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कर्म-सिद्धांत को समझाने के लिए बौद्ध लोग प्रायः कई प्रकार के दृष्टांत दिया करते है। वे यह तर्क देते हैं कि एक छोटी-सी जलती हुई दियासलाई एक बृहत् अग्निराशि का कारण है, परंतु कोई यह नहीं कह सकता कि दोनों अग्नियाँ एक ही हैं अथवा दोनों एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं। इसी प्रकार एक आम की गुठली और उससे उत्पन्न वृक्ष के फल एक ही नहीं है।

अतः इससे वे यह निष्कर्ष निकालते है कि 'सो करोति सो पटिसंवेदयति' वा 'अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदयति' कहना ठीक नहीं है। ये दोनों दो अंतकोटि के मत हैं, जिन्हें बुद्ध ने त्याग कर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया था जो उनके मत से यह है—'न च सो न च अञ्ञो' (वह न वही है न उससे भिन्न कोई अन्य है)। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है,परंतु उसके कर्म का परिणाम, जैसा कि कारण-परंपरा के सिद्धांत से सिद्ध है, तत्काल होता है, जो उसके पंचस्कंधों में विकार वा परिवर्तन उपस्थित करता है। यह परिवर्तन बुरा भी हो सकता है और भला भी। जैसे,जीव-हिंसा करके मनुष्य अति घोर हिंसक भी बन सकता है और अत्यंत महान् संत भी—अंगुलिमाल ९९ मनुष्यों का वध करने के बाद संत हो गया था। एक खट्टे आम की गुठली से विशेष परिस्थितियों में मीठे आम भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव बौद्ध लोग यह नहीं मानते कि कर्म जिस प्रकार से किया जाता है उसी प्रकार से उसका फल भी प्राप्त होता है। कर्म-सिद्धांत की इस प्रकार की व्याख्या के कारण ही ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के बीच मौलिक अंतर आ गया।

(ग) अनात्मवाद (अनत्त)

बुद्ध द्वारा राहुल को दिए गए उपदेशों में तथा अनत्तलक्खण सुत्त में यह बतलाया गया है कि देही के पंचस्कंधों का अस्तित्व वास्तविक नहीं है; वे सब तत्त्वहीन हैं, मिथ्या हैं, और जब 'आयु', 'ऊष्मा' और 'विज्ञान' का अंत हो जाता है तब वे विघटित हो जाते है। पंचस्कंधों के अतिरिक्त देही के भीतर आत्मा (अत्त) नाम का कोई छठा तत्त्व नहीं है। जब पंचस्कंध संघटित होकर देहधारी का निर्माण करते हैं तब वे उपादान-स्कंध बन जाते है, दूसरे शब्दों में प्रत्येक स्कंध एक निश्चित मात्रा में अन्य सब स्कंधों के साथ मिलकर देही का निर्माण करते हैं। स्कंधों का यह संघटन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की इच्छा वा प्रेरणा से नहीं प्रत्युत कारण-परंपरा के सिद्धांत के अनुसार होता है; जैसे वन में उगा हुआ एक वृक्ष पहले पुष्पों

और फिर फलों को जन्म देता है,[1] और यदि नव-निर्माण के लिए आवश्यक हेतु और परिस्थितियाँ विद्यमान हों तो वे ही फल धरती पर गिरकर पुनः दूसरे वृक्षों को उत्पन्न करते हैं। इस उत्पत्ति-परंपरा में आत्मा नाम की किसी वस्तु का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वन के भीतर वृक्ष की स्वाभाविक उत्पत्ति में हमें आत्मा की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती, यद्यपि पूर्ववर्ती वृक्ष के गुण उसके बीज से उत्पन्न नवीन वृक्ष में बराबर पाए जाते है।

निकायों में ऐसे अनेक प्रवचन है जिनमें यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो अनित्य (अनिच्च) और इस कारण अनात्म (अनत्त) न हो। पंचस्कंध भी इस सत्य के अपवाद नहीं हैं, अतः उनमे से किसी एक स्कंध को, या सबको समष्टि रूप में, आत्मा समझना भ्रांति है। पंचस्कधों के अतिरिक्त और उनसे पृथक् भी किसी वस्तु को हम आत्मा नही कह सकते, जो 'अहं' और 'मम' (मैं और मेरा) की प्रतीति का आधार माना जा सके। पाली[2] में इसे इस प्रकार समझाया गया है––

अस्सुत वा पुथुज्जनो
(१) रूपं (वेदनं सञ्ञं संखारो विञ्ञाणं वा) अत्ततो समनुपस्सति।
(२) रूपवंतं व अत्तानं
(३) अत्तानि व रूपं
(४) रूपस्मि व अत्तानं समनुपस्सति।

अज्ञानी प्राकृत जन भौतिक तत्त्वों अर्थात् 'रूप' को, अथवा अन्य स्कंधों[3] में से किसी एक को आत्मा समझ लेते हैं (यह वैसा ही है जैसे दीपशिखा ओर उसके रंग को एक ही समझ लिया जाय),अथवा वे पंच स्कंधों में से किसी एक को उसी प्रकार आत्मा वा उसका अंग समझ लेते हैं जैसे छाया को वृक्ष का, अथवा वे स्कंधों को आत्मा में उसी प्रकार मानते हैं जैसे सुगंध को पुष्प में, अथवा उस प्रकार जैसे रत्नों को मंजूषा के भीतर।

बौद्ध दर्शन में यह युक्ति उपस्थित की गई है कि यदि आत्मा और स्कंध एक ही हैं तो आत्मा अनित्य और नाशवान् हुआ, और यदि वह स्कंधों से भिन्न है तो उसी प्रकार

१. संयुत्त० ३, पृ० ५४, बीज पाँच प्रकार के हैं––मूल बीज, खंधबीज, अग्गबीज, फलबीज और बीजबीज।

२. वही ३, पृ० १, ४२, ५५।

३. रूप के स्थान में अन्य स्कंधों को रखना चाहिए।

हुआ जैसे गौओं के साथ गोपाल। अत. न यही कहा जा सकता है कि आत्मा और स्कंध एक हैं और न यही कि दोनों भिन्न है। यह एकता और भिन्नता पाली में इस प्रकार व्यक्त की गई है—

तं जीवं तं सरीरं, अञ्ञं जीव अञ्ञं सरीरं।[1]

बुद्ध ने इन दोनों को अनवधारणीय (अव्याकत) कहा है।

इसिपत्तन (बनारस) में पाँचों ब्राह्मणों के लिए बुद्ध द्वारा किए गए द्वितीय प्रवचन का विषय भी आत्मा का अनस्तित्व है। बुद्ध ने उन्हें बतलाया था कि यदि आत्मा समष्टि रूप में वा पृथक्-पृथक् पंचस्कंधों से अभिन्न है तो उसे स्कंधों को यह आज्ञा देने में समर्थ होना चाहिए कि वे कभी रोगग्रस्त न हों, अथवा वे उसकी इच्छा के अनुसार अमुक-अमुक प्रकार से रहें। परंतु यह सुविदित है कि स्कंध अनित्य हैं और जो वस्तु अनित्य है वह निश्चय ही दुःख के अधीन है। अतः स्कंधों को आत्मा मानना तर्कसंगत किसी प्रकार नहीं। स्कंध चाहे वे अतीत जीवन के हों अथवा वर्तमान वा भावी जीवन के, आत्मा नहीं हो सकते। जिन्हें इस सत्य का ज्ञान हो जाता है वे स्कंधों में राग वा आसक्ति नहीं रखते,[2] और इस विराग के परिणामस्वरूप वे मुक्त हो जाते हैं, उनका फिर जन्म नहीं होता। इस उपदेश से पाँचों ब्राह्मणों के ज्ञाननेत्र खुल गए और वे अर्हत् हो गए।[3]

सावत्थी के निकट उक्कट्ठ में बुद्ध द्वारा किए गए मज्झिम निकाय के प्रथम प्रवचन 'मूलपरियाय सुत्त' में आत्मा के अनस्तित्व को उनके उपदेशों का मूल आधार बतलाया गया है। इस सुत्त में वे कहते है कि मनुष्य को सांसारिक पदार्थों के साथ अपना किसी प्रकार का संबंध स्थापित नहीं करना चाहिए। केवल अज्ञानी मनुष्य ही पृथ्वी, अप्, तेज, वायु आदि तत्त्वों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और यह समझते हैं कि ये हमारे हैं, या इनमें से कोई वस्तु निर्गत हुई है, अथवा इनमें कोई वस्तु प्रविष्ट हुई है। इसी प्रकार वे छोटे से बड़े तक समस्त जीवों तथा अपने द्वारा देखे, सुने, जाने या सोचे गए पदार्थों

१. संयुत्त० २, पृ० ६१।

२. तुल० संयुत्त० ३, पृ० ३४——रूपं भिक्खवे, न तुम्हाकं तं पजहथ···वेदना··· सञ्ञा...संखारा···विनासनं यं भिक्खवे न तुम्हाकं तं पजहथ। तं वो पहीनं हिताय सुखाय भविस्सति।

३. विनय १, पृ० १३-१४; संयुत्त० ३, पृ० ६६-८।

की भी सत्ता में विश्वास करते हैं, यहाँ तक कि निर्वाण को भी कोई बाहर से प्राप्त होनेवाली स्थिति मानते हैं। और इन सबके साथ वे अपना एक संबंध स्थापित कर लेते हैं। वे यह नहीं जानते कि यथार्थ में न स्वयं उनकी कोई सत्ता है और न उन पदार्थों की जिनके साथ वे अपना संबंध स्थापित करते हैं। वे अज्ञानवश निर्वाण को बाहर से प्राप्य वस्तु समझते हैं परंतु वास्तविक निर्वाण कोई प्राप्य वस्तु वा स्थिति नहीं है, न वह कोई स्वर्गीय पद वा उससे भी बढ़कर कोई वस्तु है ; वह तो वस्तुतः अपने भीतर ही अनुभव करने की वस्तु है। इस कारण बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश किया कि वे आत्मा तथा सांसारिक पदार्थों की सत्ता के संबंध में अपनी धारणाएँ निर्मूल कर दें।

उपर्युक्त उपदेश का बुद्ध ने 'छब्बिसोधन सुत्त'[१] में और अधिक विस्तार किया है। इस सुत्त में उन्होंने कहा है कि सिद्ध भिक्षु अपने द्वारा देखे, सुने, जाने वा सोचे हुए[२] पदार्थों की धारणा से अपने मन को मुक्त कर लेता है और उसके फलस्वरूप उसके दोष (आसव) नष्ट हो जाते हैं और उसे मानसिक मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वह जीव के पंचस्कंधों (पंच उपादानखन्धा), वा ज्ञानेंद्रियों और उनके विषयों, अथवा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छः तत्त्वों की सत्ता की कल्पना नहीं करता। वह जानता है कि तत्त्व अनात्म (अनत्त), अर्थात् असत् हैं और इसलिए वह उनके प्रति अपने मन में राग नहीं आने देता, जिससे उसका मन मुक्त हो जाता है।

बौद्धेतर मत आत्मा में कुछ गुणों वा उसके स्वभाव की कल्पना करते हैं; जैसे वे मानते हैं कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और अपरिवर्तनशील है। और भी वे कहते हैं कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं, पर उनके फलों का भोक्ता है। वह निर्गुण और निष्क्रिय है। वह अपरिवर्तनशील है, परंतु फिर भी सांसारिक विषयों (प्रकृति) से संयोग हो जाने पर उसमें कुछ विशेषता आ जाती है। बौद्धों का इसपर कथन है कि अपरिवर्तनशील वा अविकारी सत्ता का परिवर्तनशील सत्ता के साथ संयोग किसी भी परिस्थिति में नहीं हो सकता, न अपरिवर्तनशील आत्मा परिवर्तनशील प्रकृति का भोक्ता ही हो सकता है। जो नित्य एवं अपरिवर्तनशील है उसे सदा वैसा ही बने रहना चाहिए और परिवर्तनशील वस्तु के साथ उसका कभी संयोग नहीं होना चाहिए। बौद्धों के मत से आत्मा केवल एक धारणा है जो 'मैं' और 'मेरा' की प्रतीति का आधार है ; उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उनका कथन है कि 'एकता' से भिन्न

१. मज्झिम० ३, पृ० २९।
२. तुल० संयुत्त० ४, पृ० ७३।

अन्य किसी भी प्रकार की सत्ता में कुछ सांसारिक विशेषताएँ होनी चाहिएँ, परंतु अ-बौद्ध लोग ऐसा नहीं मानते। किसी प्रकार से स्कंधों का विश्लेषण किया जाय, उससे आत्मा की स्वतंत्र सत्ता का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण के कारण प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है उसी प्रकार स्कंधों के कारण अहंता (मैं-पन) वा आत्मा (अत्ता) की धारणा उत्पन्न होती है। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिंब नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार स्कंधों के संयोग बिना अहंता की प्रतीति नहीं हो सकती।[1]

कमलपुष्प में से सुगंध निकलती है, परंतु क्या यह कहा जा सकता है कि सुगंध उसके दलों में, या रंग में, या किंजल्क[2] में है, अथवा वह कमल से अलग उससे बाहर कहीं है? इसी प्रकार पंचस्कंधों से अहंता (मैं-पन) की प्रतीति होती है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि अहंता उन पंचस्कंधों मे से किसी एक में वा उन सबमें है, अथवा उनके बाहर है। आत्मा बाँसुरी में से निकली हुई ध्वनि के समान है।[3]

(घ) मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व

आत्मा की सत्ता के प्रश्न से ही संबद्ध एक दूसरा प्रश्न यह है कि परिनिर्वाण के पश्चात् मुक्त व्यक्ति अर्थात् अर्हत्, बुद्ध वा तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं?[4] इस प्रश्न पर विचार करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन बौद्ध धर्म के अनुसार अर्हत् और बुद्ध में क्या अंतर है। संयुत्त निकाय में यह बताया गया है कि सम्मा संबुद्ध ही निर्वाण-पथ के सर्वप्रथम आविष्कर्ता, प्रतिपादक तथा उपदेष्टा हैं, उनसे पहले वह अज्ञात था। सम्मा संबुद्ध ही बौद्ध धर्म के सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। उनके शिष्य उनसे धर्म का उपदेश सुनकर क्रमशः उसमें पूर्णता प्राप्त करते हैं। पहले वे 'सोतापन्न' अवस्था को प्राप्त होते हैं, जिसमें उनका आत्मा के अस्तित्व (सक्काय दिट्ठि) तथा यज्ञ-व्रत आदि के फलों (सीलब्बत परामास) में विश्वास नष्ट हो जाता है, त्रिरत्न की श्रेष्ठता के प्रति संदेह वा अनास्था (विचिकिच्छा) दूर हो जाती है

१. दीघ १, पृ० २२२—लोक समञ्ञा लोकनिरुत्तियो लोकवोहारो लोकपञ्ञत्तियो; संयुत्त० ४, पृ० ५४—सुञ्ञो लोको अत्तेन।

२. संयुत्त० ३, पृ० १३०—घोषिताराम (कौशांबी) के भिक्षु खेमक को दिए गए उपदेश से।

३. संयुत्त० ४, पृ० १९७।

४. वही ३, पृ० ६६।

और सत्य का किंचित् ज्ञान प्राप्त हो जाता है। फिर जब उनमें राग, द्वेष और मोह की मात्रा बहुत घट जाती है तब वे 'सकदागामी' अवस्था को प्राप्त होते हैं। उसी अवस्था में यदि उनकी मृत्यु हो जाय तो अंतिम मुक्ति वा निर्वाण प्राप्त करने के लिए उन्हें इस मर्त्यलोक में केवल एक बार और जन्म लेना पड़ता है। जब उनका राग, द्वेष और मोह पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तब वे तीसरी अर्थात् 'अनागामी' अवस्था में पहुँच जाते हैं। इस अवस्था में मृत्यु हो जाने पर उनका फिर इस मर्त्यलोक में जन्म नहीं होता, वे स्वर्ग में जन्म लेते और वहीं निर्वाण प्राप्त करते हैं। अर्हत् की अंतिम अवस्था में पहुँचने पर उनकी दृष्टि निर्मल हो जाती है, उन्हें सत्य का ज्ञान हो जाता है और उनके मन के सभी विकार तथा वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वे भिक्षु के रूप में अपने सभी कर्तव्यों का पालन करते हैं और उनका फिर से जन्म नहीं होता। इस अवस्था में साधक ज्ञान के द्वारा बुद्ध के समान ही मुक्त (पञ्ञाविमुत्त) रहते हैं।[1] अर्हत् और बुद्ध दोनों ही अपने को पंचस्कंधों--रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान--से पूर्ण रूप से मुक्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में निर्वाण की अवस्था में अर्हत् और बुद्ध में कोई अंतर नहीं रहता।

उपर्युक्त प्रसंग में 'बुद्ध' के बदले 'तथागत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का एक विशेष तात्पर्य है। पाली अट्ठकथा में इसका निरुक्तार्थ इस प्रकार दिया गया है कि जो पूर्ववर्ती बुद्धों की ही रीति से (तथा) आता है (आगत) और जाता है (गत) वह 'तथागत' है। बौद्ध लोग यह मानते हैं कि सत्य सदा एक ही रहता है और सभी बुद्ध सदा एक ही प्रकार से उस एक ही सत्य का आविष्कार एवं उपदेश करते हैं, अतः उस सत्य के आविष्कर्ता को 'तथागत' कहते हैं। पाली ग्रंथों में कारण-परंपरा के नियम को, जिसे 'इदपच्चयता' कहते हैं, इस दृश्य विश्व के स्वरूप की व्याख्या करनेवाला व्यापक एवं नित्य सत्य माना गया है, और इस कारण उसे 'धम्मट्ठितता' और 'धम्म-नियमता' (गोचर पदार्थों का अस्तित्व तथा उन्हें नियंत्रित करनेवाला शाश्वत नियम) भी कहा गया है। अतः जो इस नियम का आविष्कार एवं उपदेश करता है वह 'तथा-

१. आस्रव-क्षीणता की चार अवस्थाओं के कई उपभेद भी किए गए हैं। 'धम्मानुसारि' तथा 'सद्धानुसारि' अवस्थाएँ सोतापन्न के पहले होती हैं (संयुत्त ५, २००)। अंतर परिनिब्बायि, उपहच्च परिनिब्बायि, असंखारा परिनिब्बायि और ससंखारा परिनिब्बायि--ये चारों अनागामी के भेद हैं (संयुत्त० ५, २०१)। उद्धंसोतो, एकबीजी कोलंकोलो, सत्तक्खत्त परमो (संयुत्त० ५, २०५)।

गत' है।[1] 'तथानि' शब्द का प्रयोग 'सच्चानि' के पर्याय के रूप में किया गया है, क्योंकि चारों आर्य सत्य (अरिय सच्चानि)[2] कभी मिथ्या (अवितथ) वा अन्यथा (अनञ्ञतथ) नहीं होते। अतः जो चार आर्य सत्यों का आविष्कार एवं उपदेश करता है वह 'तथागत' है। भगवा को 'ज्ञानभूत', 'ब्रह्मभूत' एवं 'धम्मभूत' कहा गया है। तथा उन्हें निर्वाणमार्ग का आविष्कर्ता एवं अमृतत्त्व प्रदान करनेवाला बतलाया गया है, इस कारण भी उन्हें 'तथागत' वा धर्मेश्वर कहते हैं।[3] तथागत को समुद्र के समान गंभीर और अगाध भी कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि तथागत विश्वव्यापक सामान्य सत्य के ही रूप हैं।[4]

'तथागत' की उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि 'तथागत' शब्द का अर्थ 'बुद्ध' वा 'अर्हत्' से कहीं गंभीर है और उसका एक दार्शनिक अभिप्राय भी है। इस जिज्ञासा के द्वारा कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से वेदांतियों के ब्रह्म को दृष्टि में रखते हुए बौद्ध-धर्मोक्त 'निब्बान' को भी समझने का प्रयत्न किया गया है। बौद्ध धर्म की सभी संहिताओं में इस समस्या को चार प्रकार से उपस्थित किया गया है।

(१) होति तथागतो परं मरणा ति वा ;
(२) न होति तथागतो परं मरणा ति वा ;
(३) होति न च होति तथागतो परं मरणा ति वा ;
(४) नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा ति वा।

उक्त चार प्रकार से प्रस्तुत यह समस्या अप्रत्यक्ष रूप से आत्मा के ही अस्तित्व के प्रश्न को हमारे सामने उपस्थित करती है। यहाँ जिस आत्मा से तात्पर्य है वह मुक्त पुरुष का—अर्हत्, बुद्ध वा तथागत का—आत्मा है। अत. बौद्ध लोग अनात्म (अनत्त) का अर्थात् एक नित्य सत्ता के रूप में आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धांत मानते हैं, अतएव उक्त प्रश्न पर विचार करना व्यर्थ है। यही कारण है कि बुद्ध ने इसे अनिर्णेय घोषित किया। इस प्रश्न में कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है वा नहीं, 'तथागत' से अभिप्राय समस्त दोषों से मुक्त पंचस्कंधवाले तथागत से है। इस प्रश्न

१. संयुत्त० २, पृ० २५।
२. वही ५, पृ० ४३०, ४३५।
३. वही ४, पृ० ९५; मज्झिम० ३, पृ० १७५।
४. संयुत्त० ४, पृ० ३७।

पर विचार करते हुए बौद्ध ग्रंथों मे वे ही युक्तियाँ काम में लाई गई हैं जिनका प्रयोग आत्मा के अस्तित्व पर विचार करते समय किया गया है। अर्थात् पहले इन प्रश्नों पर विचार किया गया है—क्या तथागत पंचस्कंध है ? अथवा वे पंचस्कंधों से भिन्न हैं ? अथवा तथागत पचस्कंधों में है ? अथवा पंचस्कंध तथागत में हैं ? अथवा पचस्कध तथागत के हैं ? यतः इनमे से कोई भी कथन सत्य नहीं है, अतएव तथागत का अस्तित्व यथार्थ नहीं हो सकता। यदि तथागत पृथक्-पृथक् वा समष्टि रूप में पंचस्कंधों से अभिन्न हैं तो उन्हें जन्म और मरण के अधीन मानना पड़ेगा। परंतु तथागत वा शुद्ध आत्मा अनादि और अनश्वर है, अतः स्कंधों से तथागत का एकत्व स्थापित नहीं किया जा सकता। दूसरा तर्क यह है कि यदि तथागत पृथक्-पृथक् वा समष्टि रूप मे स्कंधों से भिन्न हैं, तो उन्हें स्कंधों से पृथक् और स्वतंत्र मानना पड़ेगा; परंतु यह स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अग्नि को काष्ठ से अलग नहीं किया जा सकता। यदि अग्नि को काष्ठ से अलग और स्वतंत्र किया जा सकता तो अग्नि उत्पन्न करने की आवश्यकता ही न होती। उसी प्रकार यदि तथागत को स्कंधों से अलग और स्वतंत्र माना जाय तो तथागत बनने के लिए श्रम करने की कोई आवश्यकता न होगी।

यदि तथागत स्कंधों से भिन्न नही है, तो अन्य तीनों प्रश्न उठाए ही नहीं जा सकते, क्योंकि उनमें स्कंधों से तथागत की भिन्नता पहले ही से मान ली गई है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि तथागत न स्कंधों से भिन्न हैं और न अभिन्न ; और इसलिए तथागत, जो कि साधारणतः एक संत की सर्वोच्च एवं पूर्ण अवस्था का बोधक माना जाता है, अस्तित्वहीन है।

और, यदि तथागत को दर्पण में प्रतिबिंब की भाँति शुद्ध स्कंधों का रूप माना जाय तो उनकी सत्ता स्कंधों पर आश्रित माननी पड़ेगी, और जिन पदार्थों की उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थ के अधीन है वे बौद्ध धर्म के अनुसार असत् (निःस्वभाव) हैं। इस प्रकार भी तथागत का अस्तित्व असिद्ध है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्कंधों की उत्पत्ति कारणों और परिस्थितियों के अधीन है, अतः वे भी असत् हैं। इन सब कारणों से परिनिर्वाण के पश्चात् तथागत के अस्तित्व वा अनस्तित्व के प्रश्न को अनिर्णीत (अव्याकत) ही छोड़ देना चाहिए।

महाकस्सप और सारिपुत्त जब इसिपत्तन (वाराणसी) में थे तो उन्होंने इस विषय की चर्चा उठाई थी। उन्होंने कहा था कि गुरु (बुद्ध) की आज्ञा है कि हम इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ दें, क्योंकि इस विषय पर तर्क-वितर्क करने से निर्वाण का लक्ष्य

प्राप्त नहीं होगा।[1] सारिपुत्त जब सावत्थी में थे तो यमक भिक्खु ने उनसे पूछा कि क्या यह सत्य है कि जो भिक्खु सब दोषों से मुक्त (खीणासवो) हो जाता है उसका मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व नहीं रहता (नो होति परं मरणा)? तब सारिपुत्त ने उत्तर दिया कि यह सर्वथा भ्रांत विचार है और इसे त्याग देना चाहिए। उन्होंने कहा कि यह सत्य है कि पंचस्कंध अनित्य हैं, परंतु तथागत न तो स्कंध हैं और न स्कंध नहीं हैं (अरूप अवेदनो असञ्ञो, असंखारो, अविञ्ञानो)। अतएव तथागत का अस्तित्व इस संसार में उपलभ्य नहीं है (दिट्ठे व धम्मे सच्चेता ठेततो तथागतो अनुपलभियमानो)। जो लोग स्कंधों के यथार्थ स्वरूप को उनकी अनित्यता एवं अस्तित्व की अवास्तविकता को नहीं जानते वे उन्हीं में आसक्त रहते हैं और भ्रमवश तथागत को सत् अथवा असत् समझते हैं। 'चूलसुञ्ञतासुत्त'[2] में एक स्थल पर सिद्ध वा पूर्ण पुरुष की परमावस्था के संबंध में संकेत किया गया मिलता है। बुद्ध जब सावत्थी में निवास करते थे उन्हीं दिनों एक बार आनंद ने उनसे प्रश्न किया कि क्या वे अपना समय शून्यता (सुञ्ञता-विहार) में व्यतीत करते है? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि 'मैंने पहले भी 'सुञ्ञताविहार' (किसी वस्तु का अभाव) में अपना समय व्यतीत किया, और अब भी कर रहा हूँ। जब मैं मिगारमातुपासाद में रहता था तो इस अर्थ में शून्यता-विहार करता था कि वह विहार हाथी-घोड़ा-गाय-सोना-चाँदी तथा स्त्रियों एवं पुरुषों से शून्य (सुञ्ञ) था, परंतु वह भिक्षुओं एवं उनके सामान्य गुणों की भावना से शून्य नहीं था। ऐसे ही, जब मैं वन में निवास करता था उस समय ग्राम तथा उसके मनुष्यों की भावना से शून्य था, परंतु अपनी सभी विशेषताओं से युक्त उस वन के अस्तित्व की भावना से शून्य नहीं (असुञ्ञ) था। इसी प्रकार से जब ध्याता पृथ्वी का एक वस्तु के रूप में, उसपर की नदियों, पर्वतों आदि का पृथक् चिंतन न करते हुए, ध्यान करता है तो वह वनों, पर्वतों, नदियों और मनुष्यों की भावना से शून्य रहता है, परंतु वह पृथ्वी की एकता की भावना से शून्य नहीं रहता। जब उसका ध्यान की पंचम भूमिका (समापत्ति)[3] में उत्थान होता है, जिसमें वह अपने मन को अनंत आकाश (अनंता-काश) पर केंद्रित करता है, तब वह पृथ्वी वा अन्य किसी वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है परंतु वह आकाश की एकता की भावना से शून्य नहीं होता—केवल वही

१. संयुत्त० २, पृ० २२३।
२. मज्झिम० ३, पृ० १०९।
३. संयुत्त० ३, पृ० ११४; ४, पृ० ३८६।

अशून्य (असुञ्ञ=सत् वा भाव रूप पदार्थ) के रूप में उसके ध्यान में रह जाता है। फिर जब वह ध्यान (समापत्ति) की षष्ठ भूमिका में पहुँचता और अपने मन को अनंत विज्ञान (अनंत विञ्ञान) पर केंद्रित करता है तब उस अनत विज्ञान की एकता की भावना को छोड़कर उसके मन में किसी भी पदार्थ की भावना शेष नहीं रह जाती। ध्यान की सप्तम भूमिका में वह इच्छारहित आकाश (अकिंचञ्ञायतन)[1] में ध्यान लगाता है, और उस समय उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की भावना उसके मन में नहीं रह जाती। ध्यान की अष्टम भूमिका में वह न-चेतन-न-अचेतन अवस्था (नेवसञ्ञानासञ्ञायतन) का ध्यान करता है और उसको छोड़कर अन्य कोई भावना उसके मन में नही रह जाती। उसका मन उस भूमिका पर पहुँच जाता है जिसमें उसे किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भी गुणों का ध्यान नहीं रह जाता (अनिमित्त-चेतोसमाधि)। इस अवस्था में उसे अनुभव होता है कि यह भावना भी, जो उसके मन में अवशिष्ट रह गई है, अनित्य (अनिच्च) है। तब वह अपने मन को तीन प्रकार के विकारों (आसवों)—किसी वस्तु को पाने की इच्छा (काम), पुनर्जन्म की इच्छा (भव) और अज्ञान वा अविद्या (अविज्जा)—से मुक्त कर लेता है। परंतु यह भावना कि 'यह छः इंद्रियों से युक्त मेरा शरीर है', उसके मन में उसके जीवन के अंत तक बनी रहती है ; अर्थात् वह प्रत्येक वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है, परंतु अपने शरीर की भावना से शून्य नही होता। यह शून्यता अथवा 'सुञ्ञता' की सर्वोच्च अवस्था है, जिसमें संसार की छोटी से छोटी से लेकर बड़ी से बड़ी तक सभी वस्तुओं के अस्तित्व की भावना का लोप हो जाता है।'

उपर्युक्त प्रवचन से यह स्पष्ट है कि मृत्यु के पश्चात् ध्याता के, चाहे वह अर्हत् हो अथवा तथागत, मन से अपने शरीर के अस्तित्व की भावना का अंतिम चिह्न भी मिट जाता है और वह पूर्ण रूप से शून्यता (सुञ्ञता) में स्थित हो जाता है। पंचस्कंधों के अंतिम चिह्न के विलोप का एक मूर्तिमान् उदाहरण वक्कालि के परिनिर्वाण के वर्णन में पाया जाता है। जब उसका शव जलाया जा रहा था और चिता से धुआँ आकाश में उठ रहा था उस समय बुद्ध ने कहा कि मार विज्ञान (विञ्ञाण, पंचम स्कंध) की ताक में है, परंतु बेचारा उसे पा नहीं सकता, क्योंकि वक्कालि ने पूर्णता प्राप्त कर ली थी और अब इस संसार में उसके विज्ञान का आधार नष्ट (अपटिट्ठित) हो गया है।[2]

१. किंचन=राग, दोस, मोह; दे० संयुत्त० ४, पृ० २९७।

२. जब तक विज्ञान अप्रतिष्ठित नहीं होता तब तक उसका पुनः जन्म लेना निश्चित रहता है (संयुत्त० २, पृ० ६६, १०१)।

सावत्थी में रहते समय बुद्ध ने इस बात को और अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि पाँचों स्कंध अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक अनुवर्ती स्कंध अपने पूर्ववर्ती स्कंध पर आश्रित होता है; अर्थात् वेदना रूप पर, संज्ञा वेदना पर, संस्कार संज्ञा पर तथा विज्ञान संस्कार पर आश्रित है। जब कोई मनुष्य 'रूप' (भौतिक तत्त्वों) के प्रति राग-रहित हो जाता है तब अन्य स्कंधों का आधार या प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है और अंत में 'विज्ञान' अप्रतिष्ठित (अपटिट्ठित) हो जाता है।[१] तब वह विज्ञान मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त होता है; दूसरे शब्दों में वह अकल्पनीय शून्यता (सुञ्ञता) में विलीन हो जाता है।

तथागत वा अर्हत् परिनिर्वाण के अनंतर पंचस्कंधों से शून्य हो जाता है और उसका विज्ञान (विञ्ञाण) 'अपटिट्ठित' हो जाने के कारण अस्तित्वहीन हो जाता है। वह अनंत शून्यता में विलीन हो जाता है और उसका अस्तित्व उसी प्रकार कहीं पृथक् रूप से पहचाना नहीं जा सकता जिस प्रकार गंगा नदी का जल समुद्र में मिल जाने पर उससे एकाकार होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठता है।

बौद्ध लोग मनुष्य की देह में पंचस्कंधों से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते और इस कारण जब कोई मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर तथागत पद को प्राप्त कर लेता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक स्थायी वा नित्य सत्ता थी, जो अब बंधन-मुक्त हो गई और निर्वाण में उसका अस्तित्व बना हुआ है तथा सदैव उसी प्रकार बना रहेगा। निर्वाण में किसी भी वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं है; वह एकरूप, एकरस है; अतः उसमें तथागत का पता लगाने अथवा उनके पृथक् अस्तित्व को ढूंढ़ने का कोई प्रश्न ही नहीं है। निर्वाण की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती, उसके स्वरूप की ईदृक्ता वा इयत्ता का पता नहीं लगाया जा सकता।[२]

(ङ) निर्वाण

ऊपर जिस निर्वाण अथवा मृत्यु के पश्चात् तथागत की स्थिति की चर्चा की गई है उसके विषय में बुद्ध ने जानबूझकर निश्चित रूप से कहीं कुछ नहीं कहा है। अपने द्वारा आविष्कृत निर्वाण रूप सत्य के विषय में उनका प्रथम वचन यह है कि 'वह गंभीर, दुर्बोध्य, शांत, उत्तम एवं तर्करहित है; वह केवल ज्ञानियों द्वारा अपने भीतर अनुभव करने की वस्तु है।' निर्वाण की उत्पत्ति और उसका नाश नहीं होता; वह रोग-शोक से परे है।

१. संयुत्त० १, पृ० १२२; ३, पृ० १२४।
२. संयुत्त० ३, पृ० १८९; नासक्खि परियंतं गहेतुम् (मज्झिम० १, ३०४)।

निर्वाण कोई प्राप्य पदार्थ वा अवस्था नहीं है। वह सदा विद्यमान रहता है, अष्टांग मार्ग अथवा सैंतीस बोधिपक्खीय धम्मों के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता। वह साधक के हृदय में एक ज्योति की भाँति उद्भासित होता है, उसको प्राप्त करने का सपूर्ण प्रयत्न व्यर्थ है। जो साधक ध्यान की उच्चतम भूमिका में पहुँच जाता है, जिसमें न चेतनता रहती है और न अचेतनता (नेव सञ्ञानासञ्ञायतन), यहाँ तक कि जिसमे वह नितांत चेतनाशून्य होकर (सञ्ञावेदयित निरोध) मरण की-सी अवस्था में हो जाता है, उसके संबंध में यह निश्चित नही है कि उसे निर्वाण प्राप्त ही हो जायगा, यदि वह अपनी इस भावना का त्याग न कर दे कि मैंने ध्यान के द्वारा अपने मानस को पूर्ण रूप से शुद्ध कर लिया है। वह तब तक 'सम्मानिब्बानाधिमुत्तो' नहीं कहा जा सकता जब तक वह अपने मन को 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' अथवा 'सञ्ञावेदयित निरोध' के बंधन से मुक्त नही कर लेता।[1]

बुद्ध ने आनंद को बतलाया था कि यदि कोई भिक्षु यह सोचता है कि मैंने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य जन्मों के विषय में अपनी संपूर्ण धारणाओं को त्याग दिया है और इस प्रकार मै मानसिक साम्य की स्थिति प्राप्त कर शांत आनंद का अनुभव करता हूँ, तो वह वस्तुतः रागमुक्त (अनुपादानो) नहीं हुआ, क्योंकि अब भी उसके मन में 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' रूप एक प्रबल उपादान का अस्तित्व बना हुआ है। उपादान रहित (अनुपादानो) होने के लिए आवश्यक है कि वह अपने शांति-लाभ के सबंध में भी कोई भावना अपने मन में न आने दे।[2] यदि वह इस भावना का त्याग नहीं करता तो 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' लोक में उसका देव-योनि में पुनः जन्म होगा और वहीं उसे बहुत समय तक रहना पड़ेगा। इस प्रकार श्रद्धा, शीलपालन, स्वाध्याय, त्याग तथा ज्ञान के द्वारा भिक्षु अपने मानस दोषों (आसवों) को नष्ट करके मानसिक और बौद्धिक मुक्ति प्राप्त करता है और उसे सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। फिर किसी भी लोक में उसका पुनर्जन्म नहीं होता।[3]

यह ध्यान देने की बात है कि परिनिर्वाण के ठीक पहले बुद्ध ध्यानस्थ हुए और ध्यान की अष्टम भूमिका (अष्टम समापत्ति—नेवसञ्ञानासञ्ञा) में पहुँच गए परंतु परिनिर्वाण प्राप्त करने के लिए वे पुनः चतुर्थ 'झाण' (ध्यान की चतुर्थ भूमिका)

१. मज्झिम० २, पृ० २५६।
२. वही, पृ० २६५।
३. वही ३, पृ० १०३।

से उतरे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निर्वाण केवल ध्यान के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, चाहे वह ध्यान कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो; न वह अन्य किसी प्रकार की साधना वा श्रम से ही प्राप्त हो सकता, यद्यपि ऐसी साधना मन को सत्य के साक्षात्कार के योग्य बनाने के लिए आवश्यक होती है। बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधना और ध्यान के विविध रूपों का विस्तार के साथ वर्णन किया है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परंतु अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के संबंध में उनके द्वारा दिए समस्त उपदेशों का मूल तत्त्व, जिसपर उन्होंने बारंबार जोर दिया है, यही है कि मनुष्य को व्यक्तित्व अथवा आत्मा के अस्तित्व के संबंध में अपनी धारणा का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि केवल अनात्म (अनत्त) का अनुभव ही उसे सत्य का ज्ञान कराने में समर्थ हो सकता है। संपूर्ण निकायों में बुद्ध ने बार-बार इस विषय को दोहराया है और यह उनके उपदेशों का मूल आधार (मूल परियाय) है। वस्तुतः अविद्या (अविज्जा) से उनका तात्पर्य 'अहंता' एवं 'ममत्व' (मैं-पन, मेरा-पन) से था और इसी धारणा को दूर करने के लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों—दुक्खं, समुदयं, निरोधं, मग्गं—तथा प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) के नियम का आविष्कार किया। इन सत्यों के द्वारा उन्होंने अपने शिष्यों को इस प्रकार शिक्षित करने का प्रयत्न किया जिससे वे व्यक्तित्व की भावना के ऊपर उठ जायँ और वे सांसारिक पदार्थों से अपना किसी प्रकार का संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक न हों। यह संबंध, जिसे उन्होंने 'काम' कहा है, केवल धन-संपत्ति, मित्रों, संबंधियों अथवा चीवर, भिक्षापात्र आदि वस्तुओं तक ही सीमित नहीं, अपितु वह आध्यात्मिक सिद्धियों अर्थात् अभिज्ञा (अभिञ्ञा), ध्यान, समापत्ति आदि तक भी विस्तृत हो सकता है। बुद्ध ने जोर देकर कहा है कि साधक को कदापि अपने को अपने द्वारा देखी, सुनी, सोची वा जानी हुई (दिट्ठ, सुत, मुत, विञ्ञात)[1] बातों से संबद्ध करके नहीं देखना चाहिए, न उसे सांसारिक पदार्थों की एकता (एकत्त), भिन्नता (नानत्त) वा सर्वता (सब्बं) जैसी अत्यंत सूक्ष्म बातों में ही कोई रुचि रखनी चाहिए। उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं सब जीवों के प्रति मैत्री (मेत्ता) एवं करुणा का भाव रखता हूँ, क्योंकि इससे दो भिन्न सत्ताओं की भावना मन में बनती है—एक उस व्यक्ति की जो दूसरों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव रखता है, और दूसरी उस व्यक्ति की जिसके प्रति मैत्री और करुणा का व्यवहार

१. मज्झिम० ३, पृ० ३०—दिट्ठे सुते मुते विञ्ञत्ते अनुपयो अनपयो अनिस्सितो अप्पतिबद्धो विप्पमुत्तो, इत्यादि; तुल० मज्झिम० १, पृ० ३; सुत्तनिपात पृ० १७८।

किया जाता है। यह अनेक बार कहा गया है कि इस संसार को असार समझना चाहिए (सुञ्ञतो लोको अवेक्खस्सु)[1]। बुद्ध वा तथागत मैत्री एवं करुणा से परे हैं। वे संसार में जीवनयापन करते हुए भी इद्रियार्थो वा पदार्थों के गुणों की ओर ध्यान नहीं देते और भीतर उनका मन शून्यता की अवस्था मे रहता है।[2] भिक्षुओं को यह भी नहीं सोचना चाहिए कि निर्वाण उनके द्वारा प्राप्य परम आदर्श एवं पूर्णता की अवस्था है। इस प्रकार के विचार सर्वथा भ्रांतिपूर्ण हैं कि 'मैंने शांति प्राप्त कर ली है, मै उपादान-रहित (अनुपादान) हो गया हूँ, मेरी तृष्णा बुझ गई है।'[3]

इस प्रकार का अनात्म-बोध बुद्ध के उपदेशों का—बौद्ध धर्म का—सार है, और यही राग, द्वेष एवं मोह को नष्ट करके सत्य वा निर्वाण का साक्षात्कार करने अर्थात् तथागत होने का एकमात्र उपाय है। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रंथों में इसे 'एकत्व' (अद्वयं अद्वैधिकारं) अर्थात् 'द्वैत का अभाव' कहा गया है। पाली ग्रंथों में 'अद्वय' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, परंतु बुद्ध के वचनों से वह अभिप्रेत है। बुद्ध के इस अद्वयता का स्पष्ट उल्लेख न करने का मुख्य कारण यह है कि 'अद्वयता' का अर्थ है कि पहले दो भिन्न सत्ताओं को मान लेना और फिर उनकी एकता स्वीकार करना। परंतु बुद्ध के अनात्म (अनत्त) सिद्धांत में दो भिन्न सत्ताओं की, द्वैत की, कोई संभावना ही नहीं है, और जब उन्होंने दो भिन्न सत्ताएँ मानी ही नहीं तब उनका 'अद्वय' (=दो नहीं) की चर्चा करना कैसे तर्कसंगत होता? उन्होंने कहा है कि 'निब्बान' 'एकरस' है।

अपनी पृथक् सत्ता वा अहंता के भाव का लेशमात्र भी अंश मन में अवशिष्ट न रह जाय, इसलिए यह निर्देश किया गया है कि भिक्षुओं के मन में यह धारणा बनी रह सकती है कि मनुष्य के पाँच स्कंधों में से विज्ञान (विञ्ञाण) की सत्ता निर्वाण (निब्बान) में भी बनी रहती है। उदय माणवक के प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने कहा था कि आंतरिक एवं बाह्य वेदनाओं से उदासीन रहने से एक पूर्ण संत के विज्ञान का अंत हो जाता है।[4] यह भी एक प्रसिद्ध वचन है कि यदि कोई व्यक्ति अपने मन को पाँच स्कंधों अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से मुक्त कर लेता है (निब्बिदाय विरागाय

१. सुत्तनिपात, पृ० २१७।
२. संयुत्त० २, पृ० २६७।
३. मज्झिम० २, पृ० २३७।
४. संयुत्त० पृ० २१५।

निरोधाय पटिपन्नो)[1] तो उसे इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त हो जाता है (दिट्ठधम्म-निब्बानप्पत्तो)। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि 'निब्बान' में 'विञ्ञाण' का भी अंत हो जाता है। केवल अपूर्ण साधक का ही विज्ञान पुनर्जन्म ग्रहण करता है और बार-बार ग्रहण करता रहता है, पूर्ण संत का विज्ञान नहीं; क्योंकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है वह 'अपतिट्ठित' हो जाता है, उसके लिए अन्य स्कंधों का आधार नहीं रह जाता। अर्हत् पद केवल उसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है जब नाम और रूप (जीव के पाँच स्कंध) पूर्ण रूप से उपरुद्ध हो जाते हैं (असेसं उपरुज्झति)।[2] केवल 'केवद्ध सुत्त'[3] के अंतिम छंदों में ही इस बात का किंचित् संकेत किया गया है कि विज्ञान अनंत है, उसका कोई एक स्थान नहीं है (अनिदस्सन) और वह सर्वतः प्रकाशमान (सब्बतो पभं) है। उसमें नाम और रूप, जिनमें विज्ञान भी अंतर्भूत है, उपरुद्ध हो जाते हैं और दीर्घ-लघु, स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम-मध्यम आदि के भेद भी समाप्त हो जाते हैं। उसमें पृथ्वी, अप् (जल), तेज और वायु का अस्तित्व नहीं रहता। अनंतता के इस भाव को सुत्तनिपात के तीन छंदों में स्पष्ट कर दिया गया है—

बुद्ध—अच्चि यथ वातवेगेन खित्तो
अत्थं पलेति न उपेति संखम्
एवं मुनि नामकाया विमुत्तो
अत्थं पतेति न उपेति संखम्।

उपसिव—अत्थं गतो सो उद वा सो नत्थि
उदाहु वेसस्सतिय अरोगो

१. वही ३, पृ० १६४।
२. सुत्तनिपात, पृ० १९८; संयुत्त० १, पृ० १५, ६०।
३. पारायण वग्ग, पृ० २०७।

विञ्ञाणं अनिदस्सनं अनन्तं सब्बतो पहं
एत्थ अपो च पथवि तेजो वायो न गधति
एत्थ दिघं च रसं च अनुंथुलं सुभसुभं
एत्थ नामं च रूपं च असेसं उपरुज्झति
विञ्ञाणस्स निरोधेन एत्थेतं उपरुज्झति।

(दीघ १, पृ० २२३)

तं मे मुनि साधु वियाकरोहि
तथाहि ते विदितो एस धम्मो ।
बुद्ध——अत्थं गतस्स नो पमाणं अत्थि
तेन नं वज्जु तं तस्स नत्थि
सब्बेसु धम्मेसु समुहतेसु
समुहता वादपथ पि सब्बेति ।

(पारायण वग्ग, पृ० २०७)

भगवान् ने उपसिव माणव को समझाया कि जिस प्रकार दीपक की लौ वायु से बुझ जाने पर अदृश्य हो जाती है और उसका कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता, उसी प्रकार नामरूप से (नामकाय) विमुक्त मुनि भी अदृश्य हो जाता है और उसका कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता। तब उपसिव ने उनसे प्रश्न किया कि अदृश्य हो जाने पर क्या उस मुनि का अस्तित्व नहीं रह जाता (सो नत्थि) ? अथवा क्या वह सदैव नीरोग स्थिति में बना रहता है ? भगवान् ने उत्तर दिया कि इस प्रकार जो मुनि अदृश्य हो जाता है उसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता (उसका माप नहीं किया जा सकता); उसका कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता जिसके विषय में मैं कुछ बतला सकूँ। उसके सभी धम्मों का नाश हो जाता है, अतः शब्दों में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके एक सुयोग्य शिष्य अनुरुद्ध ने उनकी मृत्यु का वर्णन इन शब्दों में किया——

"नहु अस्सासस पस्सासो ठितचित्तस्स तादिनो
अनेजो सन्तिं आरब्भ यं कालं अकरि मुनि।
असल्लिनेन चित्तेन वेदनं अज्झवासयि।
पज्जोतस् एव निब्बानं विमोखो चेतसो अहुति ।।"

(अर्थ——अब इन-जैसे स्थितचित्त का श्वास-प्रश्वास बंद हो गया है। अब ये मुनि अविचल विश्राम के लिए चले गए। इन्होंने मृत्यु की पीड़ा को दृढ़ चित्त से सहन किया। इनका मन दीप के निर्वाण के समान मुक्त हो गया है।)

उक्त छंद की अंतिम पंक्ति अनेक विद्वानों के लिए विविध कल्पना का आधार बन गई। उनमें से कुछ ने उससे यह निष्कर्ष निकाला कि 'निब्बान' का सीधा अर्थ नाश वा अभाव है। परंतु यदि इस छंद को ऊपर उद्धृत सुत्तनिपात के छंद के साथ मिलाकर पढ़ा जाय तो विदित होगा कि उनका मन, जो उनके नाशवान् स्कंधों में सबसे विशिष्ट

था, दीपक की लौ के समान अदृश्य हो गया, परंतु वे अनंत अविचल विश्राम पद को (अनेजोसन्तिं) प्राप्त करने के लिए चले गए।

समस्त पाली ग्रंथों में केवल ये ही दो स्थल ऐसे हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि 'निब्बान' अनंत, अवर्णनीय एवं शाश्वत है, तथा ऐसे अनेक वर्णन हैं जिनसे यह विदित होता है कि वह केवल अपने भीतर ही अनुभवगम्य है। परंतु पिछले बौद्ध ग्रंथों की भाँति पाली ग्रंथों में निर्वाण के स्वरूप को बतलाने के लिए 'सुञ्ञता' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

बुद्ध ने सदा इस बात पर जोर दिया कि उनके द्वारा प्रकाशित सत्य दो अति कोटि के मतों, अर्थात् शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, में से एक भी नहीं है। बुद्ध के प्रवचनों में विरले ही ऐसे होंगे जिनमें उन्होंने बौद्धेतर लोगों के अतिवादी मतों की कठोर आलोचना न की हो। इन मतों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है––

(क) यह विश्व शाश्वत है (सस्सतो लोको)

(ख) यह विश्व शाश्वत नहीं है (असस्सतो लोको)

(ग) यह विश्व अंतवान् है (अन्तवा लोको)

(घ) यह विश्व अनंत है (अनन्तवा लोको)

(ङ) आत्मा देह से अभिन्न है

(च) आत्मा देह से भिन्न है

(छ) तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं (होति तथागतो परं मरणा)

(ज) तथागत मृत्यु के बाद नहीं रहते (नो होति तथागतो परं मरणा)

(झ) मृत्यु के पश्चात् तथागत रहते भी हैं और नहीं भी रहते (होति न च होति तथागतो परं मरणा)

(ञ) मृत्यु के पश्चात् तथागत न रहते हैं न नहीं रहते (नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा)।

बुद्ध के कथनानुसार वे इन तथा ऐसे अन्य भी अनेक भ्रांतिपूर्ण मतों से परिचित थे, परंतु उनसे उनका कोई प्रयोजन नहीं था। उन्हें 'वेदना' की उत्पत्ति और विनाश का, उसकी अनुभूति (स्वाद) का तथा उससे उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों एवं उनसे बचने के उपायों का ज्ञान हो गया था। इस ज्ञान के द्वारा वे बिना किसी बाह्य सहायता वा साधन के मुक्त हो गए और उन्होंने उस सत्य का आविष्कार किया जो गंभीर, सूक्ष्म तथा तर्क से परे है (दीघ० १, पृ० ३०)।

निर्वाण के स्वरूप-वर्णन का केवल एक ही प्रकार ऐसा है जिसके द्वारा अतिवादों से बचा जा सकता है। वह यह है कि 'निर्वाण' उसी प्रकार अस्तित्वहीन है जैसे आकाश-

कुसुम, अथवा जैसे बंध्या का पुत्र, अथवा निर्वाण वह अनंतता है जो सर्वगुण-रहित है। परंतु बौद्ध ग्रंथों में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें निर्वाण का उल्लेख 'धातु' (निब्बान धातु), अमतपद (अमृत पद ; सयुत्त १, पृ० २१२; २, पृ० २८०), 'अनुत्तर सन्तिवर पदं' (अद्वितीय उत्तम शान्तिपद ; मज्झिम० २, पृ० २३७), 'परमं सन्तिम्' (परम शान्ति पद ; मज्झिम० २, पृ० १०५), 'अमतोगद अमतपरायणो अमत परियसको निब्बकनिन्न निब्बानपनं निब्बानपब्भरं' (संयुत्त ५, ५५, २२०-१ ; चुल्लवग्ग, पृ० २३९) तथा 'समो भूमिभाग एतं निब्बान अधिवचनं' (संयुत्त ३, १०९) कहकर किया गया है।

अध्याय ११

विहार-चर्या

वर्तमान उत्तर प्रदेश राज्य इस बात का पूरा दावा कर सकता है कि यहीं पर भगवान् बुद्ध ने न केवल "एहि भिक्खु" इन दो सरल शब्दों के उच्चारण द्वारा अपने प्रथम साठ शिष्यों को दीक्षा देकर अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, अपितु विनयपिटक के चुल्लवग्ग एवं महावग्ग में संगृहीत नियमों के एक बहुत बड़े भाग का निर्माण भी किया। उत्तर प्रदेश में ही निम्न एवं उत्कृष्ट दो प्रकार के दीक्षा-संस्कारों (पब्बज्जा, उपसंपदा) तथा वर्षावास के अंत में संपादित किए जानेवाले संघ संबंधी दो महत्त्वपूर्ण कृत्यों—पवारणा और कठिन—की विधियाँ विस्तार के साथ निर्धारित की गई। इन दो कृत्यों में से प्रथम में भिक्षुगण वर्षाकाल के तीन मास में अपने द्वारा कृत पापों तथा अकृत धर्मों को स्वीकार करते थे और द्वितीय कृत्य में भिक्षुओं को पवारणा के अवसर पर उन्हें प्राप्त वस्त्रों को काटने, रँगने और सीने तथा उनके चीवर बनाकर विहार में रहने-वाले भिक्षुओं को वितरण करने की अनुज्ञा दी जाती थी। इन दो कृत्यों के अतिरिक्त वर्षावास के नियमों के यथोचित पालन तथा भिक्षुओं द्वारा चमड़े के जूतों, चीवरों एवं औषधों के उपयोग के संबंध में महावग्ग में संगृहीत अनेक नियमों का निर्माण भी उत्तर प्रदेश में ही किया गया।

चुल्लवग्ग के दस परिच्छेदों में से चार का, जिनमें (१) 'संघादिसेसों' के उल्लंघन के लिए दंडित भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियम, तथा (२) उनके संघ में पुनः प्रवेश एवं (३) उनके द्वारा किए गए पापों के कारण उपोसथ-सभाओं से उनके बहिष्करण की प्रक्रियाएँ दी गई हैं, पूरा संग्रह सावत्थी में किया गया, जहाँ (१) नियमों का उल्लंघन करनेवाले भिक्षुओं के विरुद्ध की जानेवाली आनुशासनिक कार्यवाहियों, (२) भिक्षुओं के दैनिक व्यवहार की वस्तुओं तथा (३) भिक्षुओं को दिए जानेवाले उपस्करों के संबंध में भी अनेक नियम बनाए गए।

पातिमोक्ख सुत्त, जिसमें २२७ नियम हैं, विनयपिटक का मूल आधार बना और उपोसथ-सभाओं में उसका पाठ किया जाने लगा। उसमें संगृहीत अपराधों का वर्गी-करण इस प्रकार है—

चार पाराजिक—इनका संबंध भिक्षु-जीवन के त्याग से है।

तेरह संघादिसेस—इनम भिक्षुओं के अपराधी पाए जाने पर उन्हे संघ द्वारा मिले हुए विशेष अधिकारों को स्थगित कर देने का विधान है, परन्तु साथ ही अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबंधों का समुचित रूप से पालन करने तथा भिक्षुसभा द्वारा योग्य समझे जाने पर, उन्हे पुन. संघप्रवेश का अधिकार दिया गया है।

दो अनियत—अनिश्चित अपराध, जिनका निर्णय वास्तविक परिस्थितियों पर विचार करके किया जाता था।

तीस निसग्गिय—पाचित्तिया, जिसमें भिक्षुओं को उनके लिए निषिद्ध वस्तुओं को त्याग देना, तथा उन्हें ग्रहण करने के अपराध को स्वीकार करना पड़ता है।

बानबे पाचित्तिया—दोषमुक्त होने के लिए इन अपराधों को केवल स्वीकार कर लेना पर्याप्त होता है।

चार पटिदेसनिय।

पछत्तर सेखिय—सदाचरण संबंधी निदेश।

सात अधिकरण समथ—भिक्षुओं द्वारा आपस मे ही विवादों का समाधान कर लेने की रीति।

उपर्युक्त प्रकार का एक पातिमोक्ख सुत्त भिक्षुणियों के लिए भी था, जिसका नाम 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' है।

इन २२७ नियमों में से अधिकांश सावत्थी मे और कुछ बनारस, कोसंबी तथा कपिलवत्थु में बनाए गए थे, जो इस प्रकार है—

पाराजिक	४
संघादिसेस	९
अनियत	२
निसग्गिय पाचित्तिया	२३
पाचित्तिया	८०
पटिदेसनिय	३
सेखिय	७४
अधिकरणसमथ	७
	१९८

भिक्खुनी पातिमोक्ख का संग्रह संपूर्ण रूप से सावत्थी में किया गया था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विनय के नियमों में से अधिकांश उत्तर प्रदेश में ही निर्मित हुए थे।

अब हमें इन नियमों पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए ।

दीक्षा—बुद्ध ने भिक्षुओं को दीक्षा देने का कार्य इसिपत्तन (बनारस) में अपने पाँच पुराने मित्र ब्राह्मण तपस्वियों से आरंभ किया और फिर सेट्ठिपुत्र यश और उसके मित्रों को केवल 'एहि भिक्खु' (आओ, हे भिक्षु) शब्दों के उच्चारण द्वारा दीक्षित किया । जब बुद्ध सहित उनके शिष्यों की संख्या साठ तक पहुँच गई तब उन्होंने उन्हें भिन्न-भिन्न दिशाओं में बौद्ध धर्म के उपदेशों का प्रचार करने के लिए भेज दिया, परंतु उन्हें भिक्षु बनाने वा प्रव्रज्या देने का अधिकार नहीं दिया । जो भिक्षु बाहर धर्म प्रचार के लिए भेजे गए थे उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवालों को संघ में प्रविष्ट करने के लिए बुद्ध के पास लाना पड़ता था; इससे उन भिक्षुओं तथा दीक्षार्थियों को बड़ी असुविधा होती थी । इस कारण बुद्ध ने नव दीक्षार्थियों के संघ-प्रवेश के लिए कुछ शर्तें निर्धारित कर दीं और भिक्षुओं को उन्हें दीक्षा देने का अधिकार प्रदान करने का निश्चय किया । उन शर्तों के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करनेवालों को पहले सिर मुँड़ाकर पीला वस्त्र धारण करना पड़ता था और फिर उस वस्त्र को एक कंधे पर डालकर प्रव्रज्या देने-वाले भिक्षुओं को नमस्कार करना तथा तीन बार इन त्रिशरण-वाक्यों का उच्चारण करना पड़ता था—"बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि" (१, पृ० २२) । भिक्षु लोग दीक्षा देने में बहुत सावधानी और विवेक से काम नहीं लेते थे, इस कारण बाद में बुद्ध को और भी कई शर्तें निश्चित करनी पड़ीं ।

जब बुद्ध पहली बार कपिलवस्तु गए तो उन्होंने नंद और राहुल को संघ में प्रविष्ट कर लिया । इससे शुद्धोदन को बड़ा क्षोभ हुआ, क्योंकि उन दोनों को बिना उनकी सूचना के दीक्षा दी गई थी । इस कारण उस समय बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि किसी को भी बिना उसके माता-पिता की अनुमति के दीक्षा न दी जाया करे (१, पृ० ८३) । उस समय राहुल बहुत छोटा था । जब बुद्ध ने सारिपुत्त को उसे दीक्षा देने की आज्ञा दी तो उन्होंने एक बालक दीक्षार्थी (सामणेर) को दीक्षा देने की प्रक्रिया न जानने के कारण अपनी असमर्थता प्रकट की । तब बुद्ध ने उन्हें उसी प्रक्रिया से दीक्षा देने का आदेश दिया जिसके अनुसार अन्य भिक्षुओं को दीक्षा दी जाती थी । सारिपुत्त ने तब राहुल को 'सामणेर-पब्बज्जा' दी और उसे अपने अंतेवासी (उपट्ठाक) के रूप में ग्रहण किया । उस समय एक भिक्षु को केवल एक ही अंतेवासी रखने की अनु-मति थी, परंतु सारिपुत्त के लिए बुद्ध ने इस नियम को शिथिल कर दिया और कहा कि एक अनुभवी और निपुण भिक्षु एक से अधिक अंतेवासी ग्रहण कर सकता है (१, पृ० ८३) । सारिपुत्त के यह पूछने पर कि सामणेर को क्या शिक्षा देनी चाहिए, बुद्ध

ने कहा कि सामणेर को इन दस शीलों का पालन करने का आदेश देना चाहिए— (१) अहिंसा, (२) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (३) असत्य भाषण न करना, (४) ब्रह्मचर्य, (५) मादक वस्तुओं का सेवन न करना, (६) दोपहर के बाद भोजन न करना, (७) नृत्य तथा अन्य उत्सव न देखना, (८) माला तथा अन्य अलंकारों को धारण न करना, (९) ऊँची शय्या पर न सोना और (१०) सोना-चाँदी न ग्रहण करना। दीक्षा संबंधी कुछ अन्य नियम भी सावत्थी में बनाए गए। गुरु और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्यों के संबंध में विस्तृत अनुदेश दिए गए जिनका आगे वर्णन किया गया है।

उपोसथ[१]—प्रव्रज्या के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण कृत्य हैं (१) 'उपोसथ' (उपवसथ, पाक्षिक दोष-स्वीकार सभा) और (२) वर्षावास के समाप्त होने पर 'पवारणा।' उपोसथ का प्रारंभ राजा बिंबिसार के अनुरोध से किया गया था और पवारणा का राजगृह की प्रजा के। उपोसथ के दिन, जो साधारणतः पूर्णिमा और अमावस्या को पड़ा करता था, विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले समस्त भिक्षुओं को उपोसथ-सभा में उपस्थित होना पड़ता था। सभा का सभापति पातिमोक्ख सुत्त का पाठ करता था, जिसमें उस समय संभवतः (अंगुत्तर के अनुसार) केवल १५० नियम थे; फिर वह प्रत्येक भिक्षु को आज्ञा देता था कि यदि उसने किसी नियम का उल्लंघन किया हो तो उसे प्रख्यापित करे। यदि ऐसे प्रख्यापनों में, भिक्षु द्वारा किए गए अपराध साधारण प्रकार के होते थे तो वह केवल दोष के अंगीकार मात्र से दोषमुक्त कर दिया जाता था; अन्यथा उसे सभा छोड़कर बाहर चले जाने तथा एक भिक्षु-समिति द्वारा विहित दंड को भुगतने की आज्ञा दी जाती थी।

वस्सावास (सं० वर्षावास)—वस्सावास का उद्देश्य था वर्षाकाल के तीन महीनों में भिक्षुओं को एक निश्चित आवास (विहार, गुफा अथवा कोई ऐसा स्थान जहाँ भिक्षु लोग निवास कर सकें) में रखना। वर्षावास के नियम का पालन कुछ बौद्धेतर धर्मों के लोग भी करते थे। इस अवधि में भिक्षुओं को अपनी भिक्षा के लिए पूर्ण रूप से अपने आवास के निकट रहनेवाले गृहस्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता था, और अत्यंत असाधारण परिस्थितियों के अतिरिक्त, जिनका कि विस्तृत रूप से विनिर्देश किया गया था, उन्हें अपने भिक्षाटन के लिए निर्धारित सीमा के बाहर जाने की अनुज्ञा नहीं थी।

१. संस्कृत उपवसथ=सोमयज्ञ का दिन। प्रारंभ में बौद्ध संघ में उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे—प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावस्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन कर दिए गए—पूर्णिमा और अमावस्या।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक काल मे भिक्षु लोग अधिकतर राजगृह और उसके आसपास के स्थानों में ही रहा करते थे और कोसल में भिक्षुओं की संख्या बहुत कम थी। सभवतः इसी कारण से इन दोनों कृत्यों––उपोसथ और वर्षावास––का प्रारंभ मगध में हुआ। इन दोनों के संबंध में कुछ नियम सावत्थी मे बनाए गए, जो सामान्यतः ऐसी ही विशेष परिस्थितियों से संबंध रखते है जिनमे उपोसथ की विधि सक्षिप्त की जा सकती थी और वर्षावास नियत समय से पहले समाप्त किया जा सकता था। कहा गया है कि कोसल के किसी विशेष स्थान में भिक्षुओं को शवरों का बड़ा भय था और इस कारण वे संपूर्ण पातिमोक्ख का पाठ भी नहीं कर पाते थे। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध ने भिक्षुओं को पातिमोक्ख सुत्त का संक्षिप्त रूप में पाठ करने की अनुज्ञा दे दी (अन्तराये संखित्तेन पातिमोक्खं उद्दिसितु ति, १, पृ० ११२)। सुत्त के पाठ को संक्षिप्त करने के और भी कारण हो सकते हैं, जैसे राजाओं एवं दस्युओं का भय; अग्नि, जलप्लावन तथा हिंस्र पशुओं का भय; अथवा ऐसी अन्य परिस्थितियाँ जिनमें भिक्षुओं को अपने प्राणों का भय वा साधना में अंतराय पड़ने की आशंका हो (१, ११३)।

चुल्लवग्ग (पृ० २४४) में बुद्ध ने विस्तृत रूप से ऐसी परिस्थितियों पर विचार किया है जिनमें उपोसथ का कृत्य संपन्न नहीं किया जा सकता था। जिन कारणों से उपोसथ बंद किया जा सकता था, उनमें प्रधान था किसी भिक्षु द्वारा अपराध का दबाया जाना। किसी भिक्षु के अन्य भिक्षु द्वारा अपने ऊपर दोषारोपण किए जाने से बचने के प्रयत्न के संबंध में भी बुद्ध ने कुछ नियम बनाए।

कोसल में बनाए गए वर्षावास के नियमों से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस देश में भिक्षुओं के रहने के लिए अनुकूल सुविधाएँ नहीं थी। कोसल में वर्षाकाल बिताने-वाले कुछ भिक्षुओं ने बुद्ध से शिकायत की कि वहाँ भिक्षुओं के आवासों में सर्पों और चोरों का उपद्रव हुआ करता है और उन्हें अग्नि और जलप्लावन का भी भय रहता है। उन्हें पर्याप्त भोजन तथा औषध प्राप्त करने में कठिनाई होती है; और नगर की दुष्ट स्त्रियाँ भी उन्हे कष्ट दिया करती है। भिक्षुओं में ही कुछ ऐसे हैं जो संघ में फूट डालने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध ने भिक्षुओं को वर्षावास समाप्त कर अन्य स्थानों में चले जाने की अनुज्ञा दे दी।

ऐसी दो अन्य घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है जिनमें बुद्ध का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया था। पहली घटना यह है कि सावत्थी में वर्षावास करनेवाले कुछ भिक्षुओं ने यह निश्चय किया कि वे वर्षाकाल में किसी को दीक्षा (प्रव्रज्या) न देंगे। विशाखा के एक पौत्र ने उनसे वर्षा-काल में ही दीक्षा देने की प्रार्थना की, परंतु

अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने अस्वीकार कर दिया। जब विशाखा ने इस विषय को बुद्ध के समक्ष उपस्थित किया तो उन्होंने भिक्षुओं को आदेश दिया कि वे वर्षाकाल में दीक्षा देना अस्वीकार न करें। दूसरी घटना यह है कि उपनंद सक्यपुत्त ने राजा पसेनदि को वचन दिया था कि 'मैं वर्षा राजा के ही विहार में व्यतीत करूँगा', परंतु पीछे जब उसने देखा कि एक दूसरे स्थान पर वस्त्र अधिक मिलते हैं, तो उसने अपना विचार बदल दिया और उस दूसरे स्थान पर चला गया।

पवारणा—कोसल एक ऐसा प्रदेश था जहाँ के भिक्षु बहुत विनयशील नहीं थे। वर्षावास के दिनों में उनमें आपस में झगड़े हो जाया करते थे, जिससे वे एक-दूसरे से बोलना-चालना बंद कर देते थे। जब बुद्ध को इस स्थिति का पता चला तो वर्षावास के अंत में उन्होंने पवारणा के आयोजन का विधान किया, जिसमें उसके लिए नियत शुभ दिन को प्रत्येक भिक्षु को वर्षावास में किए गए अपने पापों को स्वीकार करना पड़ता था। यदि उनके अपराध साधारण होते थे तो उन्हें स्वीकार कर लेने पर वे तत्काल दोषमुक्त कर दिए जाते थे। इस कृत्य के संपादन में अनेक बाधाएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, जिनके लिए बुद्ध ने कई नियम बनाए।

चर्म पदत्राण—जूते बनाने अथवा अन्य प्रयोजनों के लिए चमड़े के उपयोग के संबंध में नियम मगध में सोण कोलविस के निमित्त बनाए गए थे, जो एक अत्यंत धनाढ्य सेट्ठि का पुत्र था और जिसके पैर इतने कोमल थे कि नंगे पाँव चलने से उनमें से रक्त बहने लगता था। सोण कोलविस ने अपने लिए दी गई विशेष सुविधा के रूप में जूतों का उपयोग करने से इनकार कर दिया, अतः बुद्ध को सभी भिक्षुओं को जूते पहिनने की अनुज्ञा देनी पड़ी। कुछ भिक्षुओं ने इस अनुज्ञा का दुरुपयोग किया और वे विभिन्न प्रयोजनों के लिए चमड़े की बनी सुंदर वस्तुओं का उपयोग करने लगे। जब बुद्ध वाराणसी गए तो वहाँ उन्होंने देखा कि इसिपत्तन के कुछ भिक्षु जूतों के उपयोग के लिए दी गई उनकी अनुज्ञा का दुरुपयोग कर रहे हैं; अतः इस प्रकार का दुरुपयोग रोकने के लिए उन्होंने कुछ प्रतिबंध लगाए (१, पृ० १८९)। बनारस से वे सावत्थी गए जहाँ उन्होंने सुना कि कुछ भिक्षु गायों और गाड़ियों का वाहन के रूप में उपयोग करते हैं। तब बुद्ध ने नियम बनाकर केवल रुग्ण भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं के लिए किसी प्रकार के वाहन का उपयोग निषिद्ध कर दिया (१, पृ० १९१)।

औषधें—बुद्ध ने पहले गोमूत्र तथा ऐसी अन्य वस्तुओं (पुत्तिमुत्तभेसज्जं) का उपयोग औषध के रूप में विहित कर दिया था। जब बुद्ध सावत्थी में निवास करते थे तो वहाँ उन्होंने देखा कि भिक्षु लोग शरत्कालीन रोगों (सरदकानि) के कारण दुबले

और पीले हो रहे हैं और वे कोई भी आहार पचा नहीं सकते। तब उन्होंने अपने शिष्यों के लिए किसी भी प्रकार का गरिष्ठ आहार वर्जित कर दिया, परंतु औषधों के उपयोग की अनुज्ञा दे दी। दिन में किसी भी समय घी, मक्खन, तेल, मधु और राब ग्रहण करने की भिक्षुओं को अनुमति मिल गई। आगे चलकर बुद्ध ने औषध की वस्तुओं की संख्या बढ़ा दी और वसा (चर्बी), जड़ी-बूटियाँ, फल, गोंद तथा आयुर्वेद-शास्त्र-सम्मत ऐसी अन्य वस्तुओं का जिनमें क्वाथों के अतिरिक्त कच्चा मांस और रक्त भी हैं, औषध के रूप में उपयोग विहित कर दिया। आवश्यक होने पर उन्होंने उष्ण जल से स्नान, रेचन, लेप और व्रणोपचार की भी अनुमति दी और औषधों के निर्माण के लिए आवश्यक पात्रों, उपकरणों और अन्य वस्तुओं का उपयोग करने की तथा सूची द्वारा दूषित रक्त निकलवाने एवं शल्य-चिकित्सा कराने की स्वीकृति उन्होंने साधारण रूप से प्रदान की। शल्य-क्रिया केवल उसी अवस्था में निषिद्ध थी जब घाव गुदा-स्थान से दो इंच के भीतर हो। वस्तुतः भिक्षुओं के लिए उस समय उपलब्ध चिकित्सा के सभी साधनों का उपयोग करने की अनुज्ञा थी, प्रतिबंध केवल यह था कि औषध वा चिकित्सा के नाम पर वे अति न करें और गृहस्थी के सुखों का उपभोग न करने लग जायँ।

परंतु बनारस में उन्होंने औषध के रूप में किसी भी प्रकार के मांस का उपयोग वर्जित कर दिया और सावत्थी में भिक्षुओं को सभी प्रकार के फल खाने की अनुज्ञा दी। इस प्रसंग में उन्होंने यह भी नियम बनाया कि यदि विहार की सीमा के भीतर कोई अन्य व्यक्ति वृक्ष का बीजारोपण करे तो उस वृक्ष के आधे फल उस व्यक्ति को दे दिए जायँ। यदि किसी अन्य व्यक्ति की भूमि में स्वयं भिक्षु लोग बीज-वपन कराएँ तो उससे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष के आधे फल उस भूमि के स्वामी को दे दिए जायँ। अंत में उन्होंने औषधों के प्रयोग के विषय में यह निदेश दिया कि भिक्षुगण कोई भी ऐसा आहार औषध के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिन्हें उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुचित और निषिद्ध न ठहराया हो।

कठिन—सावत्थी में निवास करते समय बुद्ध ने वर्षावास के अंत में 'कठिन' के आयोजन का प्रारंभ किया। यह पाठेय्य के तीस भिक्षुओं के निमित्त से किया गया, जो सभी 'धुतंग'[1] नियमों का पालन करनेवाले थे। वे वर्षारंभ के पहले ही सावत्थी

१. बुद्ध के द्वारा भिक्षुओं के लिए अनुमोदित तेरह कठोर नियम हैं—

(१) पंसुकुलिकंगम्—घूर, श्मशान आदि से एकत्र किए गए वस्त्रखंडों से बने हुए चीवर धारण करना।

(२) तेचीवरकंगम्—तीन से अधिक वस्त्र न धारण करना। ये तीनों वस्त्र

पहुँचना चाहते थे, परंतु वे ऐसा न कर सके और उन्होंने साकेत में वर्षावास किया, जो सावत्थी से छः योजन दूर था। वे पवारणा का कृत्य संपन्न करके भीगे और कीचड़ में सने चीवर पहने सावत्थी गए और बुद्ध से मिले। बुद्ध ने यथारीति उनका स्वागत किया। उन्होंने अपना दर्शन करने के लिए भिक्षुओं की उत्सुकता और साथ ही वर्षावास के नियमों के पालन में उनकी दृढ़ता को लक्ष्य करके 'कठिन' के कृत्य का विधान किया, जिसमें भिक्षुओं को अधिकार दिया गया कि वे 'पवारणा' के अवसर पर श्रद्धालु गृहस्थों से प्राप्त अपने वस्त्रों को काट, रँग और सीकर उनके चीवर बनाएँ और आवश्यकतानुसार आपस में बाँट लें। इस संबंध में अधिकारों के दुरुपयोग तथा वस्त्रों के वितरण में अनियमितता को रोकने के लिए कई नियम बनाए गए।

हैं---एक संघाटी, एक उत्तरासंग, और एक अंतरवासक। धोने और रँगने के समय में इन्हीं तीनों से काम चलाना आवश्यक है।

(३) पिंडपातिकंगम्--केवल घर-घर भिक्षा माँगकर संग्रह किया हुआ भोजन ग्रहण करना और विनय में विहित चौदह प्रकार के भोजन का दान न ग्रहण करना। वे चौदहों प्रकार ये हैं---संघभत्तं, उद्देसभ, निमंतनभ, सलकभ, पक्खिकं, उपोसथिकं, पटिपादिकं, आगंतुकभ, गमिकभ, गिलानभ, गिलानुप्पटठ्काभ, विहारभ, धुरभ, वरकभ।

(४) सपदानचारिकंगम्---बिना कोई घर बीच में छोड़ हुए एक ओर से प्रत्यक घर में भिक्षा माँगना।

(५) एकासनिकंगम्---एक ही बैठक में भोजन करना, अर्थात् यदि भोजन के बीच में गुरु को नमस्कार करने वा अन्य कार्य के लिए उठना पड़े तो फिर से भोजन के लिए न बैठना। (महाकस्सप इस धुतंग का पालन करने में सबसे आगे समझे जाते थे)।

(६) पत्तपिंडिकंगम्---केवल एक ही भिक्षापात्र रखना और उसमें डाले हुए सभी प्रकार के भोजन को ग्रहण करना, चाहे वे स्वादिष्ट हों वा नहीं।

(७) खलुपच्चा भत्तिकंगम्---एक बार भोजन समाप्त कर लेने अथवा बस कर देने पर, फिर देने पर भी भोजन की कोई वस्तु न ग्रहण करना, (तुल० पाचित्तिय, ३५)।

(८) आरञ्ञिकंगम्--नगर या ग्राम के निकट न रहकर केवल वन में रहना; वह वन भी ग्राम से, नगर से पर्याप्त दूरी पर होना चाहिए।

(९) रुक्खमूलिकंगम्---बिना किसी छप्पर-छाजन के, केवल वृक्ष के नीचे निवास करना। वह वृक्ष न फलवाला हो, न किसी विहार वा चैत्य (चेतिय) आदि की सीमा के भीतर वा सीमा पर स्थित हो।

(१०) अब्भोकासिकंगम्---खुले स्थान में रहना, अर्थात् न छाजन के नीचे रहना और न वृक्ष के। परंतु इस तथा इसके पूर्ववर्ती व्रत को धारण करनेवाला भिक्षु वर्षा

(१,२९८), उसे एक वा दो वस्त्र शरीर से अलग करने की अनुज्ञा है। गृहस्थों से जो भी वस्त्र दान में प्राप्त हों उन्हें वहाँ उस समय उपस्थित सभी भिक्षुओं में उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरित कर देना चाहिए। यदि किसी स्थान में एक ही भिक्षु हो तो उसे जो वस्त्र मिलें उन्हें वह आगामी 'कठिन' के समय तक अपने उपयोग के लिए रख सकता है (१,२९९-३०१)। साधारणतः एक भिक्षु वा कई भिक्षुओं को दान में मिले वस्त्र संघ की संपत्ति होते थे और उपासकों को यह अनुदेश दिया जाता था कि वे सभी प्रकार के दान किसी एक भिक्षु को न देकर संघ के निमित्त दिया करें।

जब बुद्ध सावत्थी पहुँचे तो विशाखा उनकी सेवा में उपस्थित हुई और उसने उनसे प्रार्थना की कि मुझे भिक्षुओं और भिक्षुणियों को निम्नलिखित वस्तुएँ भेंट करने का गौरव प्रदान किया जाय--

(१) वस्सिकसाटिकम्--वर्षा में व्यवहार करने के वस्त्र।

(२) आगंतुकभत्तम्--सभी आगंतुक भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए भोजन।

(३) गमिकभत्तम्--सभी गमिक अर्थात् जानेवाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए भोजन।

(४) गिलानभत्तम्--बीमारों को भोजन।

(५) गिलानुपट्ठाकभत्तम्--रोगियों के परिचारकों को भोजन।

(६) गिलान भेसज्जम्--रोगियों को औषध।

(७) धुवयगुम्--प्रतिदिन संघ के प्रत्येक व्यक्ति के लिए चावल की खीर।

(८) भिक्खुनीसंघस्स उदकसाटिकम्--भिक्षुणियों के लिए स्नान के वस्त्र (१,२९४)।

उसने बुद्ध से भिक्षुओं के लिए उपवस्त्र वा तौलिया (मुखपुंछन-चोलकम्) भी स्वीकार करने की अनुज्ञा प्राप्त की।

दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ--बुद्ध ने भिक्षुओं के दैनिक जीवन में व्यवहार के लिए उचित एवं उपयुक्त वस्तुओं का पूरा ब्यौरा दिया है। यह ब्यौरा अधिकांशतः राजगृह में तैयार किया गया था। अतः यहाँ उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है (चुल्लवग्ग, अ० ५)। विशाखा ने दैनिक व्यवहार की कुछ वस्तुएँ संघ को प्रदान करने की बुद्ध से अनुज्ञा चाही। ये वस्तुएँ थीं--टोकरी, झाड़ू (घटकञ्च, सम्मज्जनीञ्च), पंखे और चँवर (छाल, घास अथवा मोरपंख के), जिनके लिए बुद्ध ने अनुज्ञा दे दी (२,१३०)।

सावत्थी में विशाखा ने एक दोतला विहार (पासाद) बनवाया, जिसके बरामदों

में हस्तिनख के आकारवाले स्तंभ लगे हुए थे, और यह विहार उसने संघ को दान किया। बुद्ध ने उसे स्वीकार कर लिया और भिक्षुओं को उसमें रहने की अनुज्ञा दे दी, यद्यपि उसकी बनावट बड़ी अलंकारपूर्ण थी। उन्होंने राजा पसेनदि की पितामही के उपस्करों एवं अन्य वस्तुओं को भी स्वीकार किया, जिन्हें उसने अपनी पितामही की मृत्यु के पश्चात् संघ को दान कर दिया था; परंतु उन्होंने भिक्षुओं को आज्ञा दी कि वे पलंगों का उपयोग उनके पाए तोड़कर और उनके गद्दे अलग करके करें, गद्दों के तकिए बना डालें और चादरों को धरती पर बिछाने के काम में लाएँ (२,१६९)।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या इस प्रकार गृहस्थों से दान में प्राप्त उद्यानों अथवा अन्य वस्तुओं का भिक्षु लोग हस्तांतरण कर सकते हैं? बुद्ध ने आज्ञा दी कि कोई भी भिक्षु संघ की अनुलिखित संपत्ति को संघ से पृथक् नहीं कर सकता—(१) उद्यान, कुटी वा विहार, जिसके अंतर्गत उसकी वह भूमि भी सम्मिलित है जिसपर वह बना हो, (२) शय्या, आसन, उपधान तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ, (३) लोहे के घड़े या बरतन, (४) अस्तूरा, बसूला, कुल्हाड़ा या फावड़ा, (४) लताएँ, बाँस, मूँज, (५) काठ वा मिट्टी के बरतन। इन वस्तुओं को आगंतुक वा आवासिक भिक्षुगण भी आपस में बाँट नहीं सकते थे (२,१७०)। आलवी के कुछ भिक्षुओं ने एक विहार कई वर्षों के लिए एक भिक्षु को केवल इसलिए दे दिया कि वह उसकी आवश्यकतानुसार मरम्मत करा दिया करे, और इस प्रकार उन्होंने बुद्ध की उपर्युक्त आज्ञा की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया। बुद्ध ने ऐसे प्रयत्नों का प्रतिषेध कर दिया (२,१७२)।

वत्त (भिक्षुओं के कर्तव्य और आचार)—ऐसा जान पड़ता है कि बुद्ध के जीवन की उत्तरावस्था में, जिसका अधिकांश उन्होंने सावत्थी में व्यतीत किया, भिक्षुओं की संख्या बहुत बढ़ गई थी और वे प्रायः एक से दूसरे विहारों में आया-जाया करते थे। चुल्लवग्ग (पृ० २०८ तथा आगे) में आगंतुक (आनेवाले), आवासिक (विहार में रहनेवाले) और गमिक (जानेवाले) भिक्षुओं के आचार के संबंध में विस्तृत अनुदेश दिए गए हैं। भिक्षाटन (पिंडचारिका) करते समय तथा गृहस्थ के घर भोजन करने के पश्चात् (भत्तग्गम्) भिक्षुओं को किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस संबंध में उनके कर्तव्य बतलाए गए हैं। भिक्षुओं को शय्या, आसन, स्नानगृह, शौचालय आदि का उपयोग कसे करना चाहिए और किस प्रकार उनकी सफाई करनी चाहिए; अरण्यवासी भिक्षुओं की दैनिक आवश्यकताएँ क्या हैं; गुरु और शिष्य (उपज्झाय, सद्धिविहारिक) को परस्पर किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए (इनके कर्तव्य

वही है जो आचार्य और अंतेवासी के)---इन बातों के संबंध में भी अनुदेश दिए गए हैं। यहाँ इस प्रकार के कुछ विनियम उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं---

आगंतुक भिक्षु---आगंतुक भिक्षु के कर्तव्य इस प्रकार हैं---विहार मे आनेवाले भिक्षु को पहले अपने चप्पल या जूते उतार देना चाहिए और छाता बंद करके इन वस्तुओं को एक किनारे रख देना चाहिए। फिर वस्त्र को एक कंधे पर डालकर चुपचाप कुटी मे प्रवेश करना और वहाँ के आवासिक भिक्षुओं के स्थान का पता लगाना चाहिए। उनके निकट जाकर भिक्षापात्र और संघाटी अलग रखकर उपयुक्त आसन पर बैठ जाना चाहिए। फिर उसे पूछना चाहिए कि भोजन और जल कहाँ मिलेगा, और वहाँ जाकर, एक हाथ से पानी डालकर दूसरे से मलते हुए, पैरों को धोकर भोजन करना और जल पीना चाहिए। उसे जूते साफ करने के लिए वस्त्र का पता लगाना चाहिए और मिल जाने पर, आवश्यकता हो तो जूतों को पानी से धोकर, उन्हें उस वस्त्र से पोंछना चाहिए।

यदि आवासिक भिक्षु उससे ज्येष्ठ हो तो उसे उसको प्रणाम करना चाहिए। यदि आवासिक भिक्षु उससे छोटा हो तो वह उसे (आगंतुक को) प्रणाम करे। उसकी शय्या और सोने का स्थान कहाँ है, किन घरों में उसे भिक्षा के लिए जाना चाहिए, शौचालय कहाँ है, कुटी से बाहर जाने और वापस आने के लिए कौन-सा समय नियत है, इन सब बातों को तथा यदि भिक्षुओं ने आपस में और भी कोई नियम निश्चित किए हों तो उनको भी पूछकर उसे जान लेना चाहिए।

यदि भिक्षु किसी ऐसे विहार में पहुँचे जिसमें कोई न हो, तो उसे सावधानी के साथ उसमें प्रवेश करना चाहिए। धूल और जाले साफ करके दीवारों और फर्श को झाड़ देना चाहिए और यदि फर्श पर कोई कालीन, चाँदनी आदि बिछी हो तो उसको तथा शय्या एवं आसनों को धूप में सुखा लेना चाहिए। फिर अपने वस्त्र और भिक्षापात्र को सावधानी से अलग रखकर खिड़कियों को खोल देना चाहिए, घड़े में जल भरकर रख देना चाहिए और इस प्रकार के अन्य कार्य जो आवश्यक जान पड़ें करना चाहिए।

आवासिक और गमिक भिक्खु---इसी प्रकार आवासिक भिक्षुओं तथा विहार छोड़कर जानेवाले (गमिक) भिक्षुओं के भी कर्तव्य बतलाए गए है।

भत्तंगम् (भिक्षा माँगने तथा भोजन का निमंत्रण स्वीकार करने के संबंध में नियम)–भिक्षु को अपने तीनों वस्त्र ठिकाने से पहनकर, हाथ में भिक्षापात्र लेकर, दृष्टि नीची किए हुए धीर गति से जाना चाहिए और आसन दिया जाय तो उसपर शांतिपूर्वक बैठना चाहिए। निमंत्रित भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं को भोजन के

लिए साथ नहीं ले जाना चाहिए। जल दिया जाय तो पात्र को दोनों हाथों से पकड़कर जल लेना चाहिए और बिना इधर-उधर छींटे डाले हुए उसका उपयोग करना चाहिए। भोजन दिए जाने पर भी उसे दोनों हाथों से पात्र को पकड़कर सावधानी से उसमें भोजन लेना चाहिए (विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य २,२१४)। जब तक सभी निमंत्रित भिक्षुओं को भोजन न परोस दिया जाय तब तक भोजन आरंभ नहीं करना चाहिए। जब तक सब लोग भोजन न कर चुकें तब तक हाथ धोने के लिए नहीं उठना चाहिए।

भोजन के पश्चात्, उनमें जो भिक्षु सबसे ज्येष्ठ हो उसे धन्यवाद के रूप में कुछ धार्मिक प्रवचन करना चाहिए।

आरञ्ञक––अरण्यवासी भिक्षु के कर्तव्य इस प्रकार हैं––उसे जल, कुछ भोजन, ईंधन और लकुट व्यवहार के लिए प्रस्तुत रखना चाहिए। उसे ग्रहों, नक्षत्रों और दिशाओं का ज्ञान होना चाहिए। यदि वह ग्राम में जाय तो उसे उन सभी कर्तव्यों का पालन करना चाहिए जिनका ऊपर 'भत्तंगम्' में उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार शयनगृह, उपस्कर, स्नानगृह तथा शौचालय को स्वच्छ करने के संबंध में भी अनुदेश दिए गए हैं।

अंत में गुरु और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्य इस प्रकार बताए गए हैं––शिष्य को भोर में ही शय्या-त्याग करना चाहिए और जूते उतारकर अपने गुरु के लिए दतुअन, आसन और जल प्रस्तुत करना चाहिए। फिर उसे गुरु को एक पात्र में खीर देनी चाहिए और उनके खीर ग्रहण कर चुकने पर पात्र को स्वच्छ कर डालना चाहिए। इसके बाद उसे फर्श पर झाड़ू लगाना चाहिए। यदि गुरु ग्राम में जाना चाहें तो उनके वस्त्र और भिक्षा-पात्र प्रस्तुत करने के पश्चात् स्वयं यथोचित रूप से वस्त्र धारण कर उनका अनुगमन करना चाहिए। यदि गुरु किसी व्यक्ति से वार्तालाप कर रहे हों तो उसे बोलना नहीं चाहिए। गुरु के ग्राम से लौटने पर उन्हें चरण धोने के लिए जल देना चाहिए और उनका वस्त्र और भिक्षापात्र लेकर उचित स्थान पर रख देना चाहिए। यदि गुरु स्नान करना चाहें तो उन्हें आवश्यकतानुसार उष्ण वा शीतल जल देना, और स्नान के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक हों उन्हें स्नानगृह में प्रस्तुत करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य बातें भी बताई गई हैं। यदि गुरु किसी अपराध के दोषी ठहराए जायँ और उन्हें दंड दिया जाय तो शिष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गुरु अपने ऊपर लगाए गए सब प्रतिबंधों का पालन करें और नियत समय के भीतर दोषमुक्त कर दिए जायँ।

गुरु को भी अपने शिष्य का ध्यान रखना चाहिए। गुरु को अपने शिष्य के प्रश्नों का समुचित उत्तर देना तथा अपने व्याख्यान से उसकी शंकाओं का समाधान करना चाहिए। यदि शिष्य के पास वस्त्र और भिक्षापात्र न हों तो गुरु को उनका प्रबंध करना चाहिए। यदि शिष्य बीमार हो जाय तो गुरु को सावधानी के साथ उसकी शुश्रूषा और परिचर्या करनी चाहिए, और यदि वह गाँव में जाना चाहे तो उसे वस्त्र और भिक्षापात्र देकर तथा यदि वस्त्र गीले हो तो उन्हे सुखाकर उसकी सहायता करनी चाहिए। शिष्य के भोजन कर लेने के पश्चात् उसे पीने के लिए पानी देना और इस प्रकार के अन्य छोटे-मोटे कार्य करना चाहिए जिन्हें गुरु के लिए करने की शिष्य से अपेक्षा की जाती है। गुरु को शिष्य को यह भी बतलाना चाहिए कि वह अपने वस्त्र किस प्रकार धोए और रँगे और इस कार्य में उसकी सहायता करनी चाहिए।

कोसंबी का विवाद

कोसंबी मे भिक्षुओं के दो दलों में एक बार बहुत बड़ा विवाद उपस्थित हो गया। विवाद यहाँ तक बढ़ा कि उसमें बुद्ध के हस्तक्षेप करने से भी कोई लाभ नहीं हुआ। बुद्ध को इससे इतना क्षोभ हुआ कि वे वहाँ से वन में चले गए और मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं के संग रहना उन्होने अधिक पसंद किया। झगड़ा बहुत छोटी सी बात को लेकर आरंभ हुआ। कहा जाता है कि एक भिक्षु ने शौचालय के जलपात्र में बचे हुए जल को उसी में रहने दिया, उसे गिराया नहीं, जैसा कि साधारणतः करने का नियम था। इस छोटी सी त्रुटि पर एक भिक्षु को आपत्ति हुई। उसने अपने पक्षपाती भिक्षुओं और उपासकों को अपने समर्थन के लिए एकत्र किया और दोषी भिक्षु को संघ द्वारा 'उक्खेपन' (सं०—उत्क्षेपण) का दंड दिलाने का निश्चय किया। दोषी भिक्षु ने भी, जो एक बहुत बड़ा विद्वान् था, अनेक भिक्षुओं और उपासकों का समर्थन प्राप्त किया और यह प्रख्यापित किया कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है, अतः 'उक्खेपन' अवैध है। दोनों पक्ष के लोगों ने संघ के कृत्यों का एक साथ मिलकर संपादन करना अस्वीकार कर दिया, जिससे संघ-भेद होने की आशंका उपस्थित हो गई, जिसे बुद्ध ने पितृघात के तुल्य पाँच महापातकों में से एक बतलाया है। एक दल ने उपोसथ-सभा विहित सीमा के भीतर की और दूसरे ने उसके बाहर। बुद्ध ने दोनों को समझाया कि 'तुम लोग मेरे बनाए हुए नियमों का उल्लंघन कर रहे हो और इस प्रकार संघ की एकता भंग कर रहे हो।' इसपर दोनों दलों ने धार्मिक कृत्यों को तो सीमा के भीतर करना आरंभ कर दिया, परंतु उनके बीच कटुता बढ़ती ही गई। उन्हें परस्पर दोषारोपण करने से रोकने और

उन्हें प्रबोध देने के लिए बुद्ध ने उन्हें कोसल के पूर्वकालीन राजा दीघीति की कथा सुनाई, परंतु उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इससे क्षुब्ध होकर बुद्ध ने उस स्थान को छोड़ दिया और वहाँ से वे बालकलोणाकार ग्राम चले गए। फिर वे पाचीन वंसदाय गए जहाँ उनकी अनुरुद्ध, नंदिय और किंबिल से भेंट हुई, जो एक साथ मेल से रहते और आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधना करते थे। वहाँ से वे परिलेय्यक वन में गए, जहाँ एक हाथी उनकी सेवा करता था। फिर वे सावत्थी जाकर जेतवन में ठहर गए। कोसंबी के उपासकगण वहाँ के झगड़ालू भिक्षुओं से बहुत रुष्ट हो गए। उन्होंने उनका आदर करना और उन्हें भिक्षा देना बंद कर दिया। इससे उन भिक्षुओं की बुद्धि ठिकाने आ गई और वे बुद्ध से अपने विवाद का समाधान कराने के लिए सावत्थी गए। उस समय जेतवन में बुद्ध के प्रमुख शिष्यगण——सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकस्सप, महाकच्चान, महाकोट्ठिल, महाकप्फिन, महाचुंड, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनंद, राहुल तथा महापजापति गोतमी——विद्यमान थे। उन्होंने और अनाथपिंडिक तथा विशाखा ने सुना कि कोसंबी-विवाद के दोनों पक्षों के भिक्षु बुद्ध के पास आ रहे हैं। बुद्ध ने उन्हें निम्नलिखित अठारह प्रकार के अधर्मी भिक्षुओं से सावधान किया——

वे भिक्षु जो (१) मिथ्या सिद्धांतों को सत्य समझकर मानते हैं;

(२) सत्य सिद्धांतों को मिथ्या समझते हैं;

(३) विनय के मिथ्या नियमों को सत्य मानते हैं;

(४) सत्य नियमों को मिथ्या मानते है;

(५) तथागत के वचनों को उनके वचन नहीं मानते (६) जो वचन तथागत के नहीं हैं उन्हें उनके वचन मानते हैं;

(७,८) तथागत द्वारा विहित कर्मों को उनके द्वारा विहित नहीं मानते, और जो तथागत द्वारा विहित नहीं हैं उन्हें उनके द्वारा विहित मानते है;

(९,१०) तथागत के उपदेशों को अन्य का और अन्य के उपदेशों को तथागत का मानते है;

(११,१२) अपराधों को अपराध नही मानते और जो अपराध नहीं है उसे अपराध मानते हैं;

(१३,१४) साधारण अपराध को गंभीर और गंभीर अपराध को साधारण मानते है;

(१५,१६) अपराध को उसका अपवाद और अपवाद को अपराध मानते हैं;

(१७, १८) बड़े अपराध को छोटा और छोटे को बड़ा मानते हैं।

आगे बुद्ध ने यह भी बतलाया कि किस प्रकार भिक्षुओं का झगड़ा निपटाना और संघ की एकता को अक्षुण्ण रखना चाहिए।

जेतवन में रहते हुए बुद्ध ने विनय के अंतिम नियम बनाए, जिनमें उन्होंने भिक्षुओं द्वारा कर्तव्यों के उल्लंघन को रोकने के लिए कई संघीय दंडों का विधान किया। वे दंड इस प्रकार हैं—

(१) तज्जनिय (अविश्वास) और निस्सय (गुरु की अवेक्षा के अधीन रहना),
(२) पब्बाजनिय (अस्थायी रूप से विहार से निष्कासन),
(३) पटिसारनिय (क्षमा माँगने के लिए कहना),
(४) उक्खेपनिय (निलंबन)।

(१) **तज्जनिय**—सावत्थी में और उसके आसपास बहुत से झगड़ालू भिक्षु रहते थे। उनका एक दल पंडुलोहितक कहलाता था जो प्रायः अन्य भिक्षुओं से झगड़ा ठान लिया करता था। इससे आए दिन संघ में कलह उपस्थित हो जाता था। बुद्ध ने उन्हें भिक्षु बने रहने के अयोग्य घोषित किया और उनके लिए तज्जनिय कम्म (सं० तर्जनीय कर्म) का विधान किया। इसके अनुसार अपराधी व्यक्ति को पहले चेतावनी देनी चाहिए, फिर उसे उसके अपराधों का स्मरण कराना चाहिए और तब उसपर दोषारोपण करना चाहिए। यह कर्म उसकी उपस्थिति में संपादित किया जाना चाहिए। उससे उसके अपराध के संबंध में प्रश्न करना और उसे दोष का ज्ञान कराना चाहिए। तज्जनिय कम्म द्वारा दंडित भिक्षु को प्रव्रज्या देने, श्रामणेरों को अपनी सेवा में रखने और भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के समक्ष प्रवचन करने का निषेध कर दिया जाता था (२,५)। परंतु यदि वे अपना आचरण सुधार लेते और संघ से अपने ऊपर लगाई गई रोक हटा लेने की प्रार्थना करते थे तो वे पुनः संघ में प्रविष्ट कर लिए जाते थे। यही दंड उन भिक्षुओं को भी दिया जाता था जो गृहस्थों से बहुत अधिक संपर्क बढ़ाते थे।

यदि उक्त प्रकार से दंडित भिक्षु संघ के किसी कृत्य में भाग ले तो फिर उसे निस्सय कम्म द्वारा दंड देना चाहिए और उसे एक गुरु वा शिक्षक के अधीन कर देना चाहिए, जिसकी देखरेख में वह उसके अनुदेशों के अनुसार आचरण करे। इस दंड को देने की प्रक्रिया वही थी जो ऊपरवाले दंड की।

(२) **पब्बाजनिय**—सावत्थी के निकटवर्ती किटागिरि स्थान के भिक्षुओं ने कई गंभीर अपराध किए। उनके लिए बुद्ध ने पब्बाजनिय दंड का विधान किया। इसके अनुसार अपराधी भिक्षु को विहार के भीतर नहीं रहने दिया जाता था। इस दंड को

देने तथा इससे अपराधी को मुक्त करने की प्रक्रिया वही थी जिसका विधान तज्जनिय कम्म में किया गया है।

(३) **पटिसारनिय**--मच्छिकामंड के भिक्षु सुधम्म ने एक बार एक सज्जन उपासक चित्तगहपति की निंदा की। बुद्ध ने उसे डाँटा और उसके-जैसा अपराध करने-वाले भिक्षुओं के लिए पटिसारनिय कम्म का विधान किया। इस कर्म का संपादन भी पूर्वोक्त कर्म की भाँति किया जाना चाहिए। अपराधी भिक्षु उसी अवस्था में दोष-मुक्त किया जा सकता है जब वह अपमानित गृहस्थ से क्षमा माँग ले।

(४) **उक्खेपनिय**--कोसंबी के छन्न भिक्षु ने कोई अपराध किया, परंतु वह अप-राध को स्वीकार नहीं करता था। ऐसे लोगों के लिए बुद्ध ने उक्खेपनिय कम्म का विधान किया। इस कर्म का संपादन भी पूर्वोक्त कर्मों की भाँति किया जाता था। दंडित भिक्षु को विहार से बाहर चले जाने की आज्ञा दी जाती थी। अन्य भिक्षुओं को उसके प्रति आदर और शिष्टता का व्यवहार करने का निषेध था। उसपर लगाए गए अन्य प्रतिबंध पूर्वोक्त कर्मों-जैसे ही हैं। यही दंड उन भिक्षुओं को भी दिया जाता था जो अरित्थ के समान इस प्रकार की भ्रांत धारणाएँ रखते थे कि बुद्ध ने निर्वाण के मार्ग में जिन बाधाओं का वर्णन किया है वे सर्वथा सत्य नहीं हैं।

सावत्थी में रहते समय बुद्ध ने अन्य संघीय दंडों का भी विधान किया, जो इस प्रकार है--

(१) परिवास (परीक्षाधीन रखा जाना)--इसके अनुसार भिक्षु को एक निश्चित काल के लिए संघ के कोई कृत्य करने की अनुज्ञा नहीं दी जाती थी और अन्य भिक्षु उसके प्रति आदर और शिष्टता प्रदर्शित नहीं करते थे।

(२) मानत्त--यह भी पूर्वोक्त दंड के समान ही है, केवल परीक्षा-काल इसमें छः ही दिनों तक सीमित होता था।

(३) मुलायपटिकस्सना--यह दंड उस भिक्षु को दिया जाता था जिसे परिवास का दंड दिया जाने पर भी वह उसके प्रतिबंधों का पालन नहीं करता था। ऐसी अवस्था में उसके द्वारा बिताया गया परीक्षा-काल व्यर्थ करके उसे फिर से आरंभ किया जाता था।

दंडकम्म तथा आवरण--बुद्ध ने वेसाली में भिक्षुणी-संघ बनाने की स्वीकृति दी थी और उन्होंने स्त्रियों पर आठ प्रतिबंध लगाए थे भिक्षुणियों के लिए विनय के वे सभी नियम पालनीय थे जिनका पालन भिक्षुओं के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी थे, जो भिक्षुओं को भिक्षुणियों से अलग रखने तथा कुछ ऐसे धार्मिक कृत्यों से संबंधित थे जिनमें भिक्षुणियों को भिक्षुओं से निदेश

लेने पड़ते थे। सावत्थी में कुछ भिक्षुओं के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि वे भिक्षुणियों से अनुचित व्यवहार करते हैं। बुद्ध ने इस प्रकार के दुर्व्यवहारों को रोकने के लिए कुछ नियम बनाए, जिनके अनुसार अपराधी भिक्षुओं को 'दंडकम्म' द्वारा दंडित किया जाता था। इस कर्म के अनुसार अपराधी भिक्षु, भिक्षुणियों का अभिवादन पाने के लिए अपात्र घोषित कर दिए जाते थे। यदि भिक्षुणियाँ इस प्रकार के अपराध में दोषी पाई जाती थीं तो उन्हें 'आवरण' द्वारा दंडित किया जाता था, अर्थात् उनका भिक्षुओं के विहार में प्रवेश करना निषिद्ध कर दिया जाता था। यदि वे इसका उल्लंघन करतीं तो उन्हें चेतावनी (ओवाद) दी जाती थी और वे उपोसथ सभाओं से निष्कासित कर दी जाती थीं (२,२६२)।

सावत्थी में बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए यह विशेष उपबंध किया कि यदि वे मार्ग की आपदाओं के कारण उच्च दीक्षा के लिए भिक्षुओं के विहार में न जा सकें तो उन्हें उनकी अनुपस्थिति में प्रतिनिधि द्वारा दीक्षा दी जाय (२,२७७)।

यद्यपि भिक्षुणियों के संबंध में अन्य नियम कोसल के बाहर बनाए गए, किंतु 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' के संपूर्ण नियम सावत्थी में ही संकलित किए गए थे।

पातिमोक्ख

यह पहले कहा जा चुका है कि पातिमोक्खसुत्त के २२७ नियमों में से १९८ उस समय बनाए गए थे जब बुद्ध सावत्थी में तथा वाराणसी, कोसंबी एवं कपिलवत्थु में निवास करते थे। 'पाराजिक' नाम का प्रथम खंड मगध के वेसाली नामक स्थान में बनाया गया था। 'पाराजिक' के अपराध का दोषी भिक्षु-संघ से निष्कासित कर दिया जाता था और उसे उपासक (गृहस्थ) बनने के लिए विवश किया जाता था। दूसरे खंड 'संघादिसेस' में तेरह नियम थे, जिनमें से नौ सावत्थी में बनाए गए थे। इन नौ में से प्रथम पाँच नियमों का संबंध भिक्षुओं द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन न किए जाने की संभावना से है। पहले नियम में जानबूझकर स्वयं (अप्राकृतिक कर्मों द्वारा) ब्रह्मचर्य नष्ट करने, दूसरे, तीसरे और चौथे में मैथुन की इच्छा से किसी स्त्री को गुप्त रूप से संकेत करने और पाँचवें में अनैतिक कर्म के लिए किसी पुरुष एवं स्त्री के बीच दूत का कार्य करने का निषेध किया गया है। छठा नियम यद्यपि राजगृह में बनाया गया था, किंतु उसके निर्माण के कारण कुछ आलविक भिक्षु थे, जिन्होंने एक गृहस्थ को अपने निमित्त एक विहार बनवाने के लिए तैयार कर लिया, परंतु उसका निर्माण-कार्य पूरा करने के लिए उन्होंने कई वस्तुएँ अन्य गृहस्थों से माँगीं। छठे नियम में इस प्रकार गृहस्थों से वस्तुओं

के माँगने का निषेध किया गया है। सातवाँ नियम भिक्खु छन्न के कारण बनाया गया था, जिसने कोसंबी में विहार बनवाने के लिए एक अनुचित स्थान चुना था। यह विहार उसका एक उपासक बनवाना चाहता था। चुने गए स्थान पर एक वृक्ष था, जिसे वहाँ के लोग पवित्र मानते थे और जिसके काटे जाने पर उन्हें आपत्ति थी। अतः इस नियम में यह विधान किया गया कि विहार के लिए स्थान का चुनाव भिक्खुओं की एक समिति किया करे। बारहवाँ नियम भी छन्न भिक्खु के दुराग्रह के कारण बनाया गया था, क्योंकि वह कहता था कि 'मैं विनय के नियमों के पालन में स्वतंत्र रहना चाहता हूँ, उसमें अन्य भिक्षुओं का उपदेश वा हस्तक्षेप मैं नहीं सहन कर सकता'। बारहवें नियम में इस प्रकार के दुराग्रह के लिए यह विधान किया गया है कि पहले ऐसे भिक्षु को तीन बार तक अवसर दिया जाय कि वह अपना दुराग्रह छोड़ दे; फिर न मानने पर, उसपर 'संघादिसेस' का दोषारोपण किया जाय। तेरहवाँ नियम किटागिरि के भिक्षुओं के कारण बना था, जो स्वच्छंद रूप से गृहस्थों के साथ मिलते-जुलते थे और ऐसे कार्य करते थे जो भिक्षुओं के लिए वर्जित थे। इस नियम के अनुसार पहले दोषी पाए जानेवाले भिक्षु की कुप्रवृत्तियों को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, और इसमें सफलता न मिलने पर उसपर 'संघादिसेस' का अपराध लगाया जाना चाहिए।

'संघादिसेस' के अपराधी भिक्षु को उचित दंड प्राप्त करने के लिए भिक्षुओं की एक समिति के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था। दंड भोग लेने के पश्चात् वह दोष-मुक्त होने तथा संघ के अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए पुनः उस समिति के समक्ष उपस्थित होता था।

तृतीय अर्थात् 'अनियत' खंड में केवल दो नियम हैं। इस खंड के शीर्षक से यह प्रकट है कि यदि किसी पर कोई ऐसा अपराध लगाया गया है जिसका किया जाना संदिग्ध है, तो जाँच करके यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि वह अपराध किन परिस्थितियों में किया गया है। इस खंड के अंतर्गत दिए गए दोनों नियम सावत्थी में विशाखा के कारण बनाए गए थे, जो उस समय वृद्ध हो गई थी। 'विशाखा ने एक बार उदायि भिक्खु के एकांत में एक स्त्री के साथ बैठकर उससे बातचीत करने पर आपत्ति की थी। परंतु ऐसी अवस्थाओं में कभी-कभी ऐसा होता था कि जिस स्त्री के साथ कोई भिक्षु बातचीत करता पाया जाता था वह उसकी माता, भगिनी अथवा कन्या होती थी, अतः उसका उससे बात करना कोई अपराध नहीं होता था। इस कारण इस नियम में यह विधान किया गया कि ऐसे विषयों में परिस्थिति की जाँच कर ली जाया करे।

चतुर्थ खंड में तीस निसग्गिय पाचित्तिय नियम हैं, जिनमें यह विधान किया गया है

कि भिक्षु निषिद्ध वस्तु का त्याग (नैसर्गिक) कर दे और उसे ग्रहण करने के अपराध के लिए खेद प्रकट करे (पाचित्तिय=पातयन्तिक=प्रायश्चित्तिक)। इस खंड के तीस नियमों में से तेईस उत्तर प्रदेश के भीतर, सावत्थी तथा अन्य स्थानों में, बनाए गए थे।

एक बार आनंद को एक अधिक चीवर प्राप्त हुआ और उसे उन्होंने सारिपुत्त को देना चाहा, जो उस समय साकेत में थे। बुद्ध ने आनंद को उस अधिक वस्त्र को दस दिनों तक अपने पास रखने की अनुमति दे दी, जिसके पश्चात् सारिपुत्त सावत्थी में आनेवाले थे। तब से यह नियम बना दिया गया कि कोई भिक्षु अधिक से अधिक दस दिनों तक अपने पास अपनी आवश्यकता से अधिक वस्त्र रख सकता है। इस खंड के अन्य नियम, जो सावत्थी में बनाए गए, इस प्रकार हैं——

(क) कोई भिक्षु कहीं जाते समय केवल दो वस्त्र पहनकर, तीसरे को किसी अन्य व्यक्ति के पास छोड़कर, प्रस्थान न करे।

(ख) यदि चीवर बनाने के लिए वस्त्र कम पड़ रहा हो तो और वस्त्र पाने की प्रतीक्षा में कोई भिक्षु 'कठिन' के कृत्य के पश्चात् एक मास से अधिक अपने पास उस वस्त्र को न रखे।

(ग) कोई भिक्षु अपने मैले वस्त्रों को किसी ऐसी भिक्षुणी से न धुलवाए जिससे उसका कोई निकट का नाता न हो। विनिमय के अतिरिक्त अन्य किसी अवस्था में वह किसी भिक्षुणी का दिया हुआ वस्त्र स्वीकार भी न करे।

(घ) कोई भिक्षु किसी ऐसे गृहस्थ से वस्त्र अथवा अन्य कोई वस्तु न माँगे जो उसका संबंधी न हो। परंतु अत्यावश्यक होने पर, अर्थात् ऐसी स्थिति में जब उसका वस्त्र वा कोई अन्य वस्तु खो गई या चोरी चली गई हो, अपवादस्वरूप वह अन्य गृहस्थ से भी माँग सकता है, पर प्रतिबंध यह है कि दो वस्त्र (अंतरवासक और उत्तरा-संग) से अधिक न माँगे।

उपनंद भिक्खु ने धर्म-प्रवक्ता के रूप में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की और उनके बहुत से उपासक हो गए, जिनमें अनेक संपन्न गृहस्थ थे। उन उपासकों से उन्हें प्रचुर वस्त्र एवं धन प्राप्त हुआ। ऐसी स्थितियों के लिए बुद्ध ने ये नियम बनाए——

(क) यदि कोई गृहस्थ किसी भिक्षु को वस्त्र दान करना चाहे तो भिक्षु उससे किसी विशेष प्रकार के वस्त्र के लिए अपनी इच्छा न प्रकट करे।

(ख) यदि किसी भिक्षु के वस्त्र बनवाने के लिए कोई गृहस्थ दर्जी को वस्त्र या रुपए दे और दर्जी नियत समय पर वस्त्र सीकर न दे तो वह भिक्षु अधिक से अधिक छः बार तक उस दर्जी के पास जा सकता है; परंतु वह दर्जी से कुछ कहे नहीं, केवल जाकर

चुपचाप उसके पास खड़ा हो जाय। यदि फिर भी वस्त्र न प्राप्त हों तो भिक्षु को वस्त्र वा रुपए दर्जी से वापस ले लेने के लिए इसकी सूचना दाता गृहस्थ को दे देनी चाहिए। जब वस्त्र दर्जी को सीने के लिए दिया जाय तो भिक्षु को उससे यह नहीं कहना चाहिए कि वस्त्र इतने लंबे या चौड़े हों, या सफाई से सिए जायँ, इत्यादि।

भिक्षुओं के लिए आसनी बनाने में रेशम का प्रयोग निषिद्ध था। यदि आसनी भेड़ के ऊन की हो तो उसमें आधा ऊन काला, एक चौथाई सफेद और एक चौथाई भूरा होना चाहिए। एक आसनी का उपयोग कम-से-कम छः वर्ष तक करना आवश्यक था। आसनी और चटाई बनाने के विषय में ऐसे और भी कई अनुदेश दिए गए हैं।

सावत्थी में बनाए इस खंड के अन्य नियम इस प्रकार हैं—

(क) कोई भिक्षु वस्तुओं के क्रय-विक्रय का कार्य न करे, न अपने हाथ से सोने और चाँदी का स्पर्श करे।

(ख) कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त भिक्षापात्र दस दिन से अधिक न रखे, न तब तक अपना भिक्षापात्र बदले जब तक कम-से-कम पाँच बार उसकी मरम्मत न हो चुकी हो।

(ग) कोई भिक्षु एक सप्ताह से अधिक अपने पास चिकित्सा की सामग्री संचित न करे।

पंचम खंड में पाचित्तिय के ९२ नियम हैं, जिनके अनुसार भिक्षु को दोषमुक्त होने के लिए भिक्षु-पंचायत के सामने अपना अपराध स्वीकार करना चाहिए। इनमें से अस्सी नियम सावत्थी तथा उत्तर प्रदेश के अन्य स्थानों में बनाए गए थे।

हत्थक भिक्षु ने शास्त्रार्थ में अन्य संप्रदायवालों से पार न पाने के कारण असत्य भाषण करना प्रारंभ किया। बुद्ध ने इसके लिए हत्थक की भर्त्सना की और यह नियम बनाया कि जान-बूझकर असत्य भाषण करना पाचित्तिय अपराध है। अन्य विभिन्न अवसरों पर उन्होंने और भी कई नियम बनाए; जैसे भिक्षु किसी की निंदा न करे और वह भिक्षु के अतिरिक्त अन्य किसी के पास दो रात से अधिक शयन न करे।

बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य अनुरुद्ध को एक ऐसे स्थान पर सोना पड़ा जहाँ एक स्त्री थी। उस स्त्री ने उन्हें अपने जाल में फँसाने का प्रयत्न किया, परंतु वह उनके मन को अपनी ओर आकर्षित करने में असफल रही। अनुरुद्ध ने जब इस घटना की सूचना बुद्ध को दी तो उन्होंने नियम बना दिया कि कोई भिक्षु उस कमरे में न सोया करे जिसमें कोई स्त्री सोती हो, न वह किसी स्त्री को ऐसा उपदेश दे जिसमें उसे पाँच शब्द से अधिक बोलना पड़े।

आलवी और कोसंबी में बुद्ध ने भिक्षुओं को धरती खोदने, पेड़ काटने और अस्पष्ट वा संदिग्ध भाषण करने का निषेध किया। सावत्थी में उन्होंने विहार के उपस्करों का उपयोग करने तथा कोसंबी में कुटी छाने के संबंध मे कुछ अनुदेश दिए। आलवी में उन्होंने भिक्षुओं को आदेश दिया कि वे असावधानता से ऐसे जल का उपयोग न करें जिसमें कीड़ियाँ पड़ गई हों। सावत्थी और कपिलवत्थु में उन्होंने भिक्षुओं को सावधान किया कि वे (क) भिक्षुणियों को उपदेश न दें, (ख) भिक्षुणियों को वस्त्र न दे, (ग) भिक्षुणियों से वस्त्र न सिलवाएँ, (घ) एक ही सड़क पर वा एक नाव में भिक्षुणियों के साथ यात्रा न करें और (ङ) किसी भिक्षुणी के पास न बैठें। सावत्थी में उन्होंने इस विषय पर कुछ उपदेश दिए कि भिक्षुओं को क्या और कितना भोजन करना चाहिए और किसी उपासक के घर भोजन करते समय भिक्षुओं के परस्पर क्या कर्तव्य है।

एक बार राजा पसेनदि ने भिक्षुओं को सैनिक योग्या का प्रदर्शन देखते हुए पाया। राजा को यह अनुचित प्रतीत हुआ और उसने बुद्ध को इसकी सूचना दी। तब बुद्ध ने भिक्षुओं का सैनिकों से मिलना या सैनिक प्रदर्शन देखना निषिद्ध कर दिया। इस खंड के कुछ अन्य नियम ये हैं—(क) भिक्षुओं को हास-परिहास नहीं करना चाहिए, (ख) अपने वस्त्रों की पहचान के लिए उनपर रंग से कोई चिह्न बना देना चाहिए, (ग) किसी दूसरे भिक्षु के लिए रखे हुए वस्त्रों वा अन्य वस्तुओं का उपयोग नहीं करना चाहिए, (घ) कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे किसी भी जीव को कोई कष्ट पहुँचे, चाहे वह जीव कितना ही छोटा क्यों न हो, (ङ) धर्म के उपदेशों तथा विनय के नियमों की, चाहे वे बड़े हों या छोटे, तनिक भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, (च) आपस में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए और (छ) राजा के शयनगृह में प्रवेश करना वा वहाँ की कोई बहुमूल्य वस्तु छूना नहीं चाहिए।

षष्ठ खंड अर्थात् 'पाटिदेसनिय' के अंतर्गत चार नियम हैं। इनके अनुसार इनमें उल्लिखित अपराधों का करनेवाला भिक्षु उन अपराधों को स्वीकार कर लेने मात्र से दोष-मुक्त कर दिया जाता था। सावत्थी और कपिलवत्थु में बनाए गए तीन नियमों में यह उपदेश दिया गया है कि किसी भिक्षु को (क) किसी ऐसी भिक्षुणी के भोजन में से जिससे उसका कोई नाता न हो, (ख) उस भोजन में से जो किसी उपासक के घर में भिक्षुओं के लिए प्रस्तुत किया गया हो, अथवा (ग) उस भोजन में से जो किसी अरण्य-वासी भिक्षु को किसी उपासक द्वारा दिया गया हो, कोई सामग्री बिना दिए, स्वयं अपने हाथ से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

सप्तम खंड अर्थात् 'सेखिय' वा प्रस्तावना में पछत्तर नियम हैं। इनमें अपराधों का विवरण नहीं, प्रत्युत भिक्षुओं की दैनिक जीवनचर्या में उनके मार्ग-प्रदर्शन के लिए अनुदेश दिए गए हैं। इनमें से केवल एक को छोड़कर शेष सभी नियम सावत्थी में बनाए गए थे।

आरंभ के पचीस नियमों में भिक्खुओं को यह अनुदेश दिया गया है कि उन्हें गृहस्थों के घरों में किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए। उनके बाद के पैंतीस नियमों (२६–६०) में उन्हें यह बतलाया गया है कि उन्हें किस प्रकार बिना किसी को अप्रसन्न किए भोजन करना तथा भोजन करते समय एवं भोजन के पश्चात् किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। ६१ तथा ६२ संख्यक नियमों में भिक्षुओं को रोगी के कमरे में जूते पहिनकर जाने का निषेध किया गया है और ६३ से ७२ तक के नियमों में उन स्थानों और परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनमें उपासकों को उपदेश नहीं देना चाहिए। नियम सं० ७४ और ७५ में हरी घास पर वा जल में शौचादि करने का निषेध किया गया है।

इस खंड में दिए गए नियमों में सदाचरण के संबंध में सामान्य अनुदेश दिए गए हैं, इस कारण इनके उल्लंघन के लिए किसी प्रकार के दंड का विधान नहीं किया गया है।

अंतिम खंड 'अधिकरण-समथ' में किसी विवाद के निर्णय से संबंधित नियम दिए गए हैं। इन नियमों का निर्माण कोसंबी में हुआ था। बुद्ध ने विनय के नियमों के पालन से संबंधित विवादों का निर्णय करने की सात रीतियाँ बतलाई हैं।

प्रथम (सम्मुखविनय) रीति यह है कि यदि किसी भिक्षु का अन्य भिक्षुओं से किसी विषय पर मतभेद हो तो उसके विषय में समाधान एवं निर्णय के लिए उसे संघ के समक्ष उपस्थित होने अथवा ग्रंथों का अवलोकन करने, अथवा अपने विरोधियों का प्रतिवाद करने का आदेश देना चाहिए। द्वितीय रीति 'सति विनय' है, जिसका उपयोग उस अवस्था में किया जाता है जब किसी भिक्षु पर अन्य भिक्षुओं द्वारा दोषारोपण किया गया हो, किंतु वह कहता हो कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है। ऐसी स्थिति में भिक्षु को यह प्रख्यापित करने का आदेश दिया जाता है कि 'जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैं निर्दोष हूँ।' तृतीय अर्थात् 'अमूढ़ विनय' में यह विधान है कि अपराधी भिक्षु संघ के समक्ष उपस्थित होकर यह स्वीकार करे कि 'अपराध करने के समय मेरा पुण्य नष्ट हो गया।' चतुर्थ (पतिञ्ञा) में यह आदेश है कि जिस भिक्षु पर स्पष्ट और निश्चित आधार पर दोषारोप किया गया हो वह अपने अपराध को स्वीकार करे। पंचम (ये-भुय्यासिका) में यह विधान है कि जिन भिक्षुओं के बीच कोई विवाद उपस्थित हो वे

उस विवाद को भिक्षुओ की बड़ी सभा के समक्ष प्रस्तुत करें और उसका निर्णय मतदान (शलाका) द्वारा किया जाय। पष्ठ (तस्सपापिय्यस्सिका) में ऐसे विपयों पर विचार किया गया है जिनमे कोई भिक्षु पहले तो अपने द्वारा किए गए अपराध को स्वीकार कर लेता है परंतु पीछे उससे मुकर जाता है। ऐसी अवस्था मे संघ को उसे अपराधी घोषित कर समुचित दड देना चाहिए। अंतिम नियम (तिणवत्थारक) में यह विधान है कि किसी ऐसे अपराध पर जो भिक्षुओं के किसी वर्ग द्वारा किया गया हो, परंतु जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया हो, खुली सभा में विचार न किया जाय।

'भिक्खुणी पातिमोक्ख' मे उपर्युल्लिखित प्रायः सभी नियमों का समावेश तो किया ही गया है, उसके प्रथम (पाराजिका), द्वितीय (संघादिसेस), पंचम (पाचित्तिय) तथा पष्ठ (पाटिदेसनिय) खंडों मे कुछ और नियम भी जोड़ दिए गए हैं। परंतु उन नियमों को इस रूप में रखा गया है कि विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा किए गए नियम-भंग के विषयों में उनका प्रयोग किया जा सके।

अध्याय १२

उपगुप्त और अशोक

अभी तक हमने बौद्ध धर्म के अशोक-पूर्व काल के इतिहास तथा उपदेशों का विवरण प्रस्तुत किया है। यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् बौद्ध-संघ थेर-(स्थविर)वाद और महासंघिक—इन दो संप्रदायों में बंट गया। पहला संप्रदाय विशुद्ध प्राचीन बौद्ध विचारों का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा प्रगतिशील विचारों का, जिससे आगे चलकर बौद्ध मत की महायान शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। परंतु महायान मत का विकास उत्तर प्रदेश में नहीं हुआ। आरंभ में इसका केंद्र दक्षिण में आंध्र देश में था। पीछे इसके कई केंद्र कश्मीर, गंधार और मध्य एशिया में स्थापित हुए। हाँ, उत्तर प्रदेश में बौद्ध मत की एक अन्य शाखा का विकास अवश्य हुआ, जिसके सिद्धांत विशुद्ध प्राचीन थेरवाद से किंचित् भिन्न थे। इसका सिद्धांत 'सर्वास्ति-वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक हीनयानी संप्रदाय था, जो पाली के स्थान पर संस्कृत भाषा का व्यवहार करता था। चीनी तथा यूरोपीय विद्वानों ने इसके सिद्धांत को 'यथार्थवाद' कहा है। नागार्जुन, असंग और वसुबंधु-जैसे प्रसिद्ध महायानी दर्शन-पंडितों ने सर्वास्तिवाद की तीव्र आलोचना की। उन्होंने इसे 'अ-यथार्थवाद' (शून्यता) एवं 'आदर्शवाद' (विज्ञप्तिमात्रता) कहा।

सर्वास्तिवादियों ने आरंभ में मथुरा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और बाद में यहीं से वे गंधार, कश्मीर और अंत में मध्य एशिया, चीन तथा अन्य देशों में गए। सर्वास्तिवादियों द्वारा मथुरा को अपना केंद्र बनाने के संबंध में निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है—

सिंहली इतिहासों के अनुसार, सम्राट् अशोक को उनके भतीजे निग्रोध सामणेर ने बौद्धधर्मानुयायी बनाया। बौद्ध होने के पश्चात् सम्राट् उन उच्छृंखल ब्राह्मणों से रुष्ट हो गए जिन्हें उनके पिता के समय से ही राजप्रासाद में प्रतिदिन भोजन कराया जाता था और उन ब्राह्मणों के स्थान पर उन्होंने सदाचारी एवं संयमी बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराने की आज्ञा दी। वे उस समय के श्रेष्ठ भिक्षु मोग्गलिपुत्त तिस्स से मिले, जिनसे उन्हें ज्ञात हुआ कि बुद्ध द्वारा दिए गए कुल चौरासी प्रवचन हैं। तब सम्राट् ने स्थपतियों को अपने साम्राज्य भर में ८४,००० विहार और स्तूप बनाने की आज्ञा दी

और इस कार्य मे उन्होंने अपार धन व्यय किया। उन्होंने स्वयं पाटलिपुत्त में इंदगुप्त की देखरेख में अशोकाराम का निर्माण कराया। उन्होंने नागराज महाकाल से बुद्ध की एक मूर्ति भी बनवाई। विहारों और स्तूपों के निर्माण का कार्य तीन वर्षों मे संपन्न हुआ। जिन-जिन स्थानों को बुद्ध ने अपने चरणों से पवित्र किया था उनमें अशोक ने स्तूपों का निर्माण कराया। यतः बौद्ध संघ को दिए गए अपने इन मुक्तहस्त दानों से सम्राट् संघ के दाता ('दायक') बन सके, 'दायाद' नही, इस कारण उन्होंने अपने पुत्र महिंद तथा अपनी पुत्री संघमित्ता को भिक्षु और भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दी और उन्हें सिंहल में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य सौंपा।

इसी समय पाटलिपुत्त के भिक्षुओं में पारस्परिक विवाद और वैमनस्य बहुत वढ़ गया, जिससे अत्यंत क्षुब्ध होकर मोग्गलिपुत्त तिस्स नगर छोड़कर बाहर चले गए और सात वर्ष तक 'अहोगंग' के निकट एक पहाड़ी पर रहे। पाटलिपुत्त के अशोकाराम में सात वर्ष तक उपोसथ का आयोजन नही हो सका। भिक्षुओं में विवाद मूलतः इस कारण हुआ कि अशोक के समय में बौद्ध धर्म के कई संप्रदाय हो गए थे और विनय के कुछ नियमों के संबंध में उनमें मतभेद हो गया था, जिसके कारण एक संप्रदाय के अनुयायी दूसरे संप्रदायवालों को उतना शुद्ध और पवित्र नहीं मानते थे जितना उपोसथ का आयोजन करनेवालों के लिए होना आवश्यक था; इससे वे एक साथ मिलकर तो उपोसथ कर ही नहीं सकते थे, दूसरी ओर अलग-अलग उपोसथ का आयोजन भी उनके लिए संभव नहीं था, क्योंकि एक ही विहार के भीतर अलग-अलग उपोसथ करने का 'विनय' में निषेध किया गया है। सिंहली इतिहासों के अनुसार, इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए अशोक के तत्त्वावधान में भिक्षुओं की एक सभा हुई और थेरवाद (विभज्जवाद) के सिद्धांतों और विनय-नियमों को न माननेवाले सभी भिक्षुओं को वह स्थान छोड़कर बाहर चले जाने के लिए विवश किया गया। संस्कृत में सुरक्षित अनुश्रुतियों में बौद्ध धर्म-परिषद् के इस अधिवेशन का उल्लेख नहीं है, जिससे प्रकट होता है कि अ-थेरवादियों ने इस परिषद् की साधुता को स्वीकार नहीं किया।

हुएन-सांग (वाटर्स, १, पृ० २६७) ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिससे इस घटना पर कुछ प्रकाश पड़ता है। वह अनुश्रुति इस प्रकार है—राजधानी (पाटलिपुत्र) में ५०० अर्हत् और ५०० अन्य भिक्षु (अनर्हत्) थे। अनर्हतों में एक का नाम महादेव था, जो मथुरा का निवासी था। वह 'अत्यंत बुद्धिमान्, विद्वान् तथा नाम एवं तत्त्व का सूक्ष्म अन्वीक्षक' था। उसे सम्राट् की सहायता प्राप्त थी। अन्य भिक्षुओं ने उसके मतों को चुनौती दी, और उस स्थान को अपने अनुकूल न पाकर

वे वहाँ से कश्मीर चले गए। पीछे, एक दुष्ट भिक्षु को सहायता देने के कारण अशोक को खेद हुआ और अपनी उस भूल का प्रायश्चित्त उसने कश्मीर में सदाशय भिक्षुओं के लिए विहार बनवाकर किया।

चीनी यात्री हुएन-सांग के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुछ भिक्षुओं ने पाटलिपुत्र छोड़कर उत्तर में अपना केंद्र स्थापित किया।

सभी अनुश्रुतियों में बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् मध्यान्तिक के कश्मीर जाने और वहाँ बौद्धधर्म का प्रचार करने का उल्लेख पाया जाता है।[1] महावंस (अध्याय १२) में भी मज्झन्तिक का उल्लेख है, जिसे अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गंधार और कश्मीर भेजा था। मध्यान्तिक आनंद का शिष्य तथा सानवासिक का समसामयिक था, जो कि पहले आनंद के जेतवन में रहने के समय उनका 'उपासक' था। तिब्बती भाषा में इस अनुश्रुति का रूप कुछ भिन्न है। उस अनुश्रुति के अनुसार बनारस में मध्यान्तिक की ख्याति बहुत बढ़ गई और उसके पास भिक्षु लोग इतनी अधिक संख्या में एकत्र हो गए कि वहाँ के लोगों के लिए वे भार हो गए और उन्होंने उनका विरोध किया। तत्पश्चात् मध्यान्तिक अपने शिष्यों के साथ उस स्थान को छोड़कर मथुरा के निकट उशीर गिरि पर चला गया।

सानवासिक भी सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध उपदेशक हुआ और उसके अनेक शिष्य हुए। संभवतः वह मथुरावासियों के आमंत्रण पर वहाँ यक्षों का उपद्रव रोकने के लिए गया, जो महामारी फैलाकर देश को उजाड़ रहे थे।

मथुरा में बौद्ध धर्म किस प्रकार पहुँचा, इस विषय में मूल सर्वास्तिवाद विनय पिटक में तथा अशोकावदान के चीनी अनुवाद में सुरक्षित अनुश्रुति इस प्रकार है[2]—

भगवान् एक बार शूरसेन देश में भ्रमण कर रहे थे। उस देश के विषय में उन्होंने कहा कि यह सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) है, जिसने अपने लिए राजा (महासम्मत) चुना। भगवान् भ्रमण करते हुए मथुरा पहुँचे, जहाँ आनंद ने उन्हें उरुमुंड नामक पर्वत पर स्थित एक हरा-भरा वन दिखलाया, जो विशुद्ध नील वर्ण का (नीलनीला) दिखलाई पड़ता था। बुद्ध ने कहा कि मेरे परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् नट और

१. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, भाग १—मम वर्ष शतपरिनिर्वृतस्य मध्यन्दिनो नाम भिक्षुर्भविष्यत्यानन्दस्य भिक्षोः सार्द्धविहारी।

२. 'ए-युवोवांग-त्सुआन' (=अशोकावदान), संघभद्र द्वारा ५०६ ई० में अनुवादित। प्रिज़ुलुस्की, 'ला लिजेन्द दे ल एम्पेरर अशोक।

भट नाम के दो धनी भाई यहाँ नटभट विहार बनवाएँगे, जो शांति (सामथ) और अंतर्दृष्टि (विपश्यना) की कामना करनेवाले भिक्षुओं के ध्यान के लिए बहुत उपयुक्त स्थान होगा। उसी समय एक गंध के व्यापारी का जन्म होगा, जिसका पुत्र उपगुप्त मेरे ही समान महान् धर्मोपदेशक होगा, केवल उसके शरीर में बुद्ध के लक्षण न होंगे। वह आनंद के शिष्य माध्यन्दिन से दीक्षा ग्रहण करेगा और वह अंतिम धर्मोपदेशक होगा। वह अत्यंत वृद्ध होकर संसार छोड़ेगा, जब कि चार अंगुल लंबी इतनी अधिक लकड़ियाँ एकत्र हो जायँगी कि उनसे एक १८ हाथ लंबी और १२ हाथ चौड़ी गुफा भर जायगी। वे लकड़ियाँ उसके वे ही शिष्य एकत्र करेंगे जो अर्हत् होंगे, और उन लकड़ियों का उपयोग उसके शव-दाह के लिए किया जायगा।[1]

जब बुद्ध मथुरा पहुँचे तो वहाँ के ब्राह्मण अप्रसन्न हुए, उन्होंने समझा कि बुद्ध के कारण उनकी प्रतिष्ठा घटेगी। वे अपने नेता नीलभूति के पास गए और उससे बुद्ध को अपशब्द कहने की प्रार्थना की। नीलभूति ने उत्तर दिया कि मेरी जिह्वा कभी असत्य भाषण नहीं करती, वह बुद्ध के विषय मे सच्ची बात ही कहेगी। सो उसकी जिह्वा से बुद्ध की प्रशंसा के ही शब्द निकले।

कहते हैं कि बुद्ध ने एक बार मथुरा के विषय में यह कहा था कि इस स्थान के पाँच अवगुण (आदीनवा) हैं—(१) यहाँ के निवासियों में उच्च और नीच कुलों का भेद, (२) झाड़ियाँ और काँटे, (३) पत्थर और कंकड़ियाँ, (४) स्त्रियों की बहुलता, (५) अनेक मनुष्यों का केवल रात्रि के पिछले प्रहर में भोजन करना।[2] बौद्ध अनुश्रुतियों से प्रकट होता है कि मथुरा यक्षों का प्रिय स्थान था, जो एक उद्धत जाति थी और वहाँ के निवासियों को कष्ट दिया करती थी। एक बार जब उस देश में महामारी फैली तो वहाँ के निवासियों ने उस विपत्ति से त्राण पाने के लिए बुद्ध के पास जाकर सहायता की प्रार्थना की। बुद्ध उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मथुरा गए। वहाँ वे उस स्थान के उपासकों के घरों से भिक्षा माँगकर यक्षों के मुखिया गर्दभ के आँगन में ही भोजन करते थे।

उनकी प्रायः यक्षों से भेंट हो जाती थी, जिन्हें उन्होंने अपने वश में कर लिया।

१. यह कथा दिव्यावदान (पृ० ३४९) में भी दी हुई है।

२. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स ३, भाग १, पृ० १४-१५—पञ्चेमे भिक्षव आदीनवा मथुरायाम्। कतमे पञ्च? उत्कुल-निकुला स्थाणुकण्टकप्रधाना बहुपाषाणशार्कर-कठल्ला उच्चन्द्रभक्ताः प्रचुर मातृग्रामा इति।

बुद्ध की ऐसी शक्ति देखकर वहाँ के निवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उनके अनुरोध पर यक्षों के रहने के लिए कुछ स्थान बनवाना स्वीकार कर लिया। यक्षों ने भी वचन दिया कि भविष्य में वे वहाँ के निवासियों को कष्ट नहीं देंगे।

मथुरा से बुद्ध ओतला होते हुए वैरंभ गए, जहाँ उन्होंने अपने ५०० शिष्यों के साथ वर्षावास किया। उस समय वहाँ दुर्भिक्ष पड़ जाने के कारण उस वर्षा में उन्हें भोजन के लिए बहुत कष्ट सहन करना पड़ा। वैरंभ से वे दक्षिण पंचाल की राजधानी (?) अयोध्या को गए, जहाँ वे गंगा-तट पर रहे और वहीं दारुस्कंध सूत्र का व्याख्यान किया। अयोध्या से वे साकेत और वहाँ से श्रावस्ती गए। फिर वहाँ से नगरबिंद नामक कोसल के एक ब्राह्मण-ग्राम में गए और अंत में वैशाली।

पाली अनुश्रुति में बुद्ध के मथुरा में किए गए उपर्युक्त कार्यों का एकदम उल्लेख नहीं है, यद्यपि कई ग्रंथों में, जिनमें महावग्ग भी है, मथुरा के पश्चिम वेरंज (वैरंभ) नामक स्थान में उनके जाने का वर्णन किया गया है। इससे प्रकट है कि बुद्ध के मथुरा जाने और मथुरा में उपगुप्त तथा कश्मीर में मध्यान्तिक एवं धीतिक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार तथा कनिष्क द्वारा स्तूपों के निर्माण के संबंध मे उनके भविष्यवाणी करने की कथा सर्वास्तिवादियों ने अपनी प्राचीनता एवं मौलिकता सिद्ध करने के लिए अपनी ओर से जोड़ ली।

दिव्यावदान (पृ० ३४८) में बुद्ध के मथुरा जाने का समय उनके परिनिर्वाण (परिनिर्वाणकाल समये) के कुछ पहले बताया गया है, जब उन्होंने उपगुप्त के आविर्भाव के विषय में भविष्यवाणी की थी, परंतु इस विवरण में अंतर केवल यह है कि उपगुप्त को बौद्ध-धर्मानुयायी बनाने और दीक्षा देने का श्रेय शाणकवासी नामक एक भिक्षु को दिया गया है। इस संबंध में हमें उपलब्ध साक्ष्यों की भ्रामकता के कारण यह निश्चय करना कुछ कठिन है कि (१) उपगुप्त के आध्यात्मिक गुरु मध्यान्दिन थे अथवा शाणकवासी, (२) क्या मध्यान्दिन और अशोक द्वारा नियुक्त धर्मप्रचारक मज्झन्तिक एक ही थे, तथा (३) क्या शाणकवासी द्वितीय बौद्ध परिषद् के प्रसिद्ध भिक्षु संभूत शानवासी थे? प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद कितने ही भिक्षुओं के एक-से और प्रायः वही नाम रखे जाते थे। इसके कारण प्रायः बहुत भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जैसा कि नागार्जुन के नाम के सबंध में। अशोकावदान (चीनी अनुवाद) में कहा गया है कि मध्यान्दिन और शाणकवासी दोनों आनंद के शिष्य थे, जिन्होंने वैशाली में अपने परिनिर्वाण के समय मध्यान्दिन को कश्मीर और शाणकवासी को मथुरा में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया था। यतः मध्यान्दिन का नाम मथुरा की अपेक्षा

कश्मीर में धर्म-प्रचार से अधिक संबद्ध है, इस कारण दिव्यावदान की यह अनुश्रुति अधिक ठीक जान पड़ती है कि शाणकवासी उपगुप्त के आध्यात्मिक गुरु थे। इस ग्रंथ में उनके बौद्ध संघ में प्रविष्ट होने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—शाणकवासी उक्त सुगंधों के व्यापारी के यहाँ भिक्षा माँगने जाया करते थे। एक दिन वे बिना किसी सामणेर को संग लिए उसके घर गए। यह देखकर उस मसाले के व्यापारी ने उन्हें अपने पुत्रों में से एक को उनके सामणेर के रूप में देने का वचन दिया। परंतु जब उसके पुत्र उत्पन्न हुए तो पहले दो पुत्रों की बार वह अपने वचन का पालन नहीं कर सका। जब उसका तीसरा पुत्र उपगुप्त उत्पन्न हुआ तब वह शाणकवासी की और अधिक उपेक्षा नहीं कर सका और उपगुप्त के बड़े होने पर उसे उनका सामणेर बनने की अनुमति दे दी। जब उपगुप्त अपने घर रहकर अपने पिता के व्यापार में सहायता करते थे, उन दिनों मथुरा की एक वेश्या वासवदत्ता उन पर आसक्त हो गई थी।

उपगुप्त के सभी जीवनचरितों में वासवदत्ता की कथा को प्रमुख स्थान दिया गया है। कहा गया है कि वासवदत्ता अतीव सुंदरी एवं प्रसिद्ध वेश्या थी। वह उपगुप्त पर मोहित हो गई, परंतु उसके अपनी दासी के द्वारा बार बार संदेश भेजने पर भी उपगुप्त ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और कहला भेजा कि 'अभी तुमसे मेरे मिलने का उपयुक्त समय नहीं आया है।' एक दिन वासवदत्ता ने कुछ धनी व्यापारियों का, जो विदेशों से आए थे, अपने यहाँ सत्कार किया। यह सूचना पाकर मथुरा के राजा ने उसे दंड दिया और उसकी नाक और कान कटवाकर उसे श्मशान पर छोड़वा दिया। इस प्रकार, जब उसका मुख विकृत हो गया और वह पीड़ा से कराह रही थी, उसी समय उपगुप्त उसके पास पहुँचे। उन्होंने उससे कहा कि 'मेरे आने का उपयुक्त समय आ गया है, इस कारण मैं तुम्हारे पास आया हूँ'। उन्होंने मानव-शरीर के दोषों और उसकी क्षणभंगुरता के विषय में उपदेश देकर उसे सान्त्वना दी। उसे चार सत्यों का प्रथम बार दर्शन हुआ और उसका पूर्व स्वास्थ्य एवं रूप पुनः प्राप्त हो गया, परंतु अब समस्त सांसारिक रागों से उसका मन विरक्त हो गया। उसे उपदेश देने के बाद उपगुप्त को भी 'अनागामी' अवस्था प्राप्त हुई।

इस घटना के पश्चात् शाणकवासी ने उपगुप्त को नटभट-वन विहार में विधिवत् दीक्षा दी और उपगुप्त अर्हत् हो गए।

उपगुप्त ने बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरंभ किया और बहुत लोगों को बौद्ध बनाया। उनकी अद्भुत व्याख्यान-कुशलता से मार भयभीत हो गया, क्योंकि उनके व्याख्यानों में इतना आकर्षण होता था कि उसके लाख प्रयत्न करने पर भी उनके

श्रोताओं की संख्या बढ़ती ही जाती थी और वह उन्हें रोकने में असमर्थ रहा। उपगुप्त ने मार को अपने वश में कर लिया और उससे बुद्ध का दर्शन कराने के लिए कहा। मार ने उनकी इच्छा पूर्ण की और वे बुद्ध के तेजस्वी रूप का दर्शन कर आनंद-गद्गद होगए।

इसके पश्चात् उन्हें विदित हुआ कि अशोक की इच्छा बुद्ध के चरणों से पवित्र स्थानों पर स्तूप तथा अन्य स्मारक बनवाने की है और वह उनका परामर्श चाहता है। वे गंगा-मार्ग से पाटलिपुत्र गए और अशोक से मिले। उन्होंने अशोक को वे सब स्थान बतलाए जो बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं तथा उनके प्रमुख शिष्यों के परिनिर्वाण से संबंधित थे, और उनके सुझाव के अनुसार अशोक ने उन चुने हुए स्थानों पर स्मारक बनवाए।

उपगुप्त ने बहुत लंबी आयु पाई और बहुत अधिक संख्या में लोगों को शिष्य बनाया, जिनमें अनेक अर्हत् हो गए। कहा जाता है कि उनके अर्हत् शिष्यों द्वारा जुटाई हुई छोटी लकड़ियों की संख्या इतनी अधिक हो गई कि उनसे १८ हाथ लंबी और १२ हाथ चौड़ी एक गुफा भर गई और उन्हीं लकड़ियों से उनके शव-दाह की क्रिया संपन्न हुई।

तारानाथ के अनुसार उपगुप्त ने धीतिक को अपना उत्तराधिकारी चुना। धीतिक उज्जैनी के एक धनी ब्राह्मण का पुत्र था। उसने सकल ब्राह्मण-शास्त्रों का अध्ययन किया और उसके ५०० ब्राह्मण शिष्य हो गए। वह बड़ी साधु प्रकृति का था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह परिव्राजक हो गया और मथुरा में जाकर उपगुप्त से मिला। उपगुप्त के व्याख्यानों से वह बहुत प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कुछ समय के पश्चात् उसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की और बौद्ध धर्म के उपदेशों का प्रचार कश्मीर और गंधार तक किया, जहाँ उस समय मेनांडर राज्य करता था, जो उसका उपासक हो गया। बौद्ध धर्म में राजा मेनांडर की आस्था का वर्णन 'मिलिन्दपञ्ह' नामक पाली ग्रंथ में स्पष्ट रूप से किया गया है।

बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय में उपगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा था और कई अवदानों में उनके जीवनवृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है। 'शृंगभेरी' और 'व्रतावदानमाला' जैसे बहुत बाद के ग्रंथों के लेखक ने उपगुप्त को उन ग्रंथों में वर्णित धार्मिक विधियों और कृत्यों का प्रतिपादक बताया है, जिसका उद्देश्य स्पष्टतः उन ग्रंथों को अधिक प्रामाणिक बतलाना था। किंतु अवदानों में उपगुप्त को किसी ग्रंथ के प्रणयन का श्रेय प्रदान नहीं किया गया है। केवल 'अभिधर्मकोश-व्याख्या' (२,४४) में उनके 'नेतृपदशास्त्र' ग्रंथ का कर्ता होने का उल्लेख इस विवाद के प्रसंग में किया गया है कि क्या तथागत को निर्वितर्क समाधि (निरोध-समापत्ति) उस समय प्राप्त हुई जब

वे बोधिसत्त्व के रूप मे अपनी साधना या अभ्यास की अवस्था (शैक्ष) मे थे, और उसके पश्चात् उन्हें यह ज्ञान हुआ कि 'यह हमारा अतिम जीवन है' (क्षयज्ञान), अथवा निरोध-समापत्ति और क्षयज्ञान दोनों ही, एक दूसरे के बाद तुरत, उन्हें उनके अंतिम जीवन में प्राप्त हुए, जब कि उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई। प्रथम मत पाश्चात्य (अर्थात् गंधार के) सर्वास्तिवादियों और वैभाषिकों का था, और द्वितीय उपगुप्त का, जिसे उन्होंने अपने 'नेतृपदशास्त्र' मे व्यक्त किया। उपगुप्त के इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि वे अवश्य बड़े विद्वान् भिक्षु तथा अनेक ग्रंथों के कर्ता थे और उनके विचारों का आदर मथुरा के सर्वास्तिवादियों और वैभाषिकों के समान होता था। वाटर्स ने अपने 'युवान च्वाग' नामक ग्रंथ (१, पृ० २२६–७) में लिखा है कि महासंघिकों, धर्मगुप्तों, महिशासकों, काश्यपीयों और सर्वास्तिवादियों के पांच विनय-ग्रंथ उपगुप्त के ही पॉच शिष्यों द्वारा संपादित किए गए थे। किंतु इस कथन की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं हैं। फिर भी प्राप्त साक्ष्यों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उपगुप्त केवल एक बहुश्रुत धर्म-प्रवक्ता ही नहीं, अपितु मथुरा के बौद्ध वैभाषिक संप्रदाय के एक प्रतिष्ठित ग्रंथकर्ता भी थे।

अध्याय १३

उत्तर प्रदेश में सर्वास्तिवादी और सम्मितीय

उत्तर प्रदेश में प्राक्कालीन बौद्ध धर्म के दो संप्रदायों का प्रचार हुआ---एक सर्वास्तिवाद का और दूसरे सम्मितीय संप्रदाय का, जिसमें वात्सिपुत्रीय (वज्जिपुत्तक) भी थे। सर्वास्तिवादियों का मुख्य केंद्र मथुरा में था और ईसवीय प्रथम से चतुर्थ वा पंचम शताब्दी तक के प्रारंभिक काल में सम्मितीयों की अपेक्षा इनका प्रचार अधिक हुआ। सम्मितीयों की उन्नति दूसरी या तीसरी शताब्दी से प्रारंभ हुई और मथुरा तथा अन्य स्थानों में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने में वे सर्वास्तिवादियों से प्रतियोगिता करने लगे। भारतीय-शक (इंडो-सीथियन) काल के प्राचीनतम अभिलेखों से विदित होता है कि उस समय सर्वास्तिवादियों का, विशेषतः मथुरा में, प्राधान्य था; सम्मितीयों का स्थान उनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण था। परंतु बाद के अभिलेखों से पता चलता है कि ई० चतुर्थ शताब्दी से सम्मितीयों के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी थी, यहाँ तक कि हर्षवर्धन के राज्य-काल में उनका प्रचार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया।

सर्वास्तिवाद

पिछले अध्याय में यह दिखलाया जा चुका है कि अशोक के राज्य-काल में पाटलिपुत्र में क्या मगध भर में, सर्वास्तिवादियों के अनुकूल परिस्थिति नहीं थी, अतः वे उत्तर में चले गए। उन्होंने दो केंद्र स्थापित किए---एक कश्मीर में आचार्य मध्यान्तिक के नेतृत्व में, दूसरा मथुरा में आचार्य उपगुप्त के नेतृत्व में। मध्यान्तिक स्वयं आनंद के शिष्य थे और उपगुप्त आनंद के एक अन्य शिष्य शानवासिक के। अतः सर्वास्तिवादी लोग आनंद को अपना प्रथम गुरु कह सकते हैं, परंतु तिब्बती अनुश्रुतियों के अनुसार सर्वास्तिवादी संप्रदाय की स्थापना करनेवाले आचार्य राहुलभद्र थे, जो क्षत्रिय जाति के थे और "विनय में अपनी श्रद्धा के लिए प्रसिद्ध थे"। अभिधर्मकोश-व्याख्या (पृ० ७१४, ७१९) में स्थविर राहुल नाम के एक आचार्य का उल्लेख है।

बौद्ध धर्म के मूल संप्रदाय स्थविरवाद से एक शाखा के रूप में सर्वास्तिवाद के अलग होने का विवरण सिंहली इतिहासों में इस प्रकार दिया है---बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात्

एक सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म का केवल एक ही संप्रदाय था—थेरवाद (स्थविरवाद)। द्वितीय धर्म-परिषद् के पश्चात् उसके दो विभाग हो गए—थेरवाद और महासंघिक। ये दोनों भी कई शाखाओं में विभक्त हो गए। थेरवाद की बारह शाखाएँ हुई और महासंघिक की छः। थेरवादियों की पहले दो शाखाएँ हुई—महिंसासक और वज्जि-पुत्तक (वात्सीपुत्रीय)। इन्हीं महिंसासकों से सब्बत्थवादियों (सर्वास्तिवादियों) की शाखा निकली। द्वितीय धर्म-परिषद् के अवसर पर उपगुप्त के गुरु शानवासिक ने थेरवादियों का पक्ष लिया था और जब वे बहुत वृद्ध हो गए तब मथुरा में उपगुप्त को दीक्षा दी थी; अतः सर्वास्तिवाद का उदय-काल बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष बाद माना जाना चाहिए। इसका समर्थन सिंहली इतिहासों में दिए गए इन संप्रदायों के आनुक्रमिक विवरण से भी होता है। वसुमित्र के 'समयभेदोपरचन चक्र' (तिब्बती भाषा में) के अनुसार स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद शाखा की उत्पत्ति बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् तीसरी शताब्दी में हुई। इस अनुश्रुति का समर्थन भव्य, इत्सिग और विनीतदेव (ई० आठवीं शती) तथा 'वर्षाग्रपरिपृच्छासूत्र' के कर्ता द्वारा भी होता है। इत्सिग बौद्ध संघ के चार प्रधान संप्रदायों की चर्चा करता है, जिनमें एक सर्वास्तिवाद था और अन्य तीन थे स्थविर, सम्मितीय और महासंघिक। सर्वास्तिवाद का सिद्धांत, विशेषतः 'ज्ञान-प्रस्थान सूत्र' में कात्यायनीपुत्र की स्थापना, यह है कि पदार्थों का अस्तित्व अतीत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों कालों में रहता है। इस सिद्धांत का खंडन 'कथावत्थु'के कर्ता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने किया। इस ग्रंथ का रचना-काल अशोक के राज्य-काल में हुई तृतीय धर्म-परिषद् के समय माना जाता है। संभवतः सर्वास्तिवाद के सिद्धांत के इस खंडन के कारण ही अशोक ने स्थविरवादियों का पक्ष-पोषण किया, जिनके नेता मोग्गलिपुत्त तिस्स थे, और इसी कारण सर्वास्तिवादियों का कश्मीर की ओर पलायन हुआ।

ई० दूसरी और चौथी शताब्दी के बीच के कुछ ऐसे शिलालेख उपलब्ध हैं जिनसे पेशावर, कश्मीर, मथुरा, श्रावस्ती, बलोचिस्तान और बनारस (सारनाथ) में सर्वास्तिवादियों का रहना प्रमाणित होता है। इन स्थानों में से तीन उत्तर प्रदेश में है। इन स्थानों में पाए गए शिलालेखों में से जो सबसे प्राचीन (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी का) है वह मथुरा में पाया गया था। इस लेख से ज्ञात होता है कि—

(क) अन्य लोगों के साथ महाक्षत्रप राजुल की रानी, राजकुमार खरोष्ट की कन्या, नड दियाक की माता, द्वारा इस स्थान पर जो पवित्र सीमा (निःसीम) के ठीक

बाहर है, भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध की अस्थियाँ स्थापित की गई. सिंह-शिखर वाला एक शिलास्तंभ खड़ा किया गया और एक संघाराम बनवाया गया, चारों दिशाओं के (विशेषतः) सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के लिए।

(ख) महाक्षत्रप राजुल के पुत्र क्षत्रप शोडास के राज्यकाल में, आचार्य बुद्धदेव के शिष्य उदय के द्वारा, राजकुमार खलनस्स और मज के अनुमोदन से, एक गुहा-विहार दान किया गया, नगरक के बुद्धिल को, सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के स्वीकारार्थ।

(ग) क्षत्रप शोडास के राज्य-काल में, कुछ भूमि दान की गई नगरक के आचार्य बुद्धिल को, जिन्होंने महासंघिकों के तर्कों को खंडित कर दिया। बुद्ध, धर्म और संघ को तथा शक देश के शकों को नमस्कार।.....

उपर्युक्त शिलालेख स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि प्राचीन शक शासक बौद्ध धर्म के, विशेषतः सर्वास्तिवादियों के, समर्थक थे जिनका एक केंद्र उस समय मथुरा में था। बुद्धिल ने, जो एक सर्वास्तिवादी आचार्य थे, दार्शनिक शास्त्रार्थों में महासंघिकों को परास्त करनेवाले एक विशिष्ट तार्किक के रूप में बड़ा यश कमाया होगा और विशिष्ट व्यक्तियों से बहुत दान प्राप्त किया होगा। बुद्धदेव नाम के एक अन्य आचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है। सहेत-महेत में एक मिट्टी का ठप्पा पाया गया है जिसके अक्षर कुछ मिट गए हैं। उसपर उत्तरकालीन गुप्त लिपि में 'बुद्धदेव' नाम खुदा है (आ०स०रि० १९०७–८, पृ० १२८)। यशोमित्र ने अपनी कोश-व्याख्या (५,२६, ६,१२) में स्थविर बुद्धदेव को सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों के लिए प्रमाण मानकर उनका उल्लेख किया है और बतलाया है कि उनके एक पूर्ववर्ती आचार्य स्थविर नागसेन थे, जो राजा मेनांडर के समकालीन थे। बुद्धदेव ने सर्वास्तिवाद के सिद्धांत की व्याख्या यों की कि 'सापेक्ष सत्ता के रूप में (अन्यथान्यथात्व) सबका अस्तित्व है (सर्वास्तित्व)।'[१] शिलालेख में उल्लिखित बुद्धदेव को यशोमित्र द्वारा उल्लिखित आचार्य बुद्धदेव मानना भ्रम-शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं में एक-से नाम रखने की सामान्य प्रथा थी।

मथुरा में एक और शिलालेख (बौद्ध मूर्ति-लेख) हुविष्क के समय (१११ ई०) का है, जिसमें बोधिसत्व की मूर्ति के दो भिक्षुणियों द्वारा प्रतिष्ठापित किए जाने का उल्लेख है। ये दोनों भिक्षुणियाँ त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल की शिष्याएँ थीं और उनमें से एक भिक्षुणी, धनवती, त्रिपिटक के एक दूसरे आचार्य भिक्षु बुद्धमित्र की भानजी

१. कोश-व्याख्या (जापानी संस्करण), पृ० ४७०।

थी। इस लेख में स्पष्टतः सिद्धार्थ गोतम की बोधि-प्राप्ति के पहले की मूर्ति का उल्लेख है, न कि महायानी मूर्ति का; क्योंकि भिक्षुणी के गुरु को 'त्रिपिटक' कहा गया है जो केवल हीनयानियों की उपाधि है। बल सर्वास्तिवादी थे, यह श्रावस्ती में पाए गए दो अन्य शिलालेखों से भी सिद्ध होता है, जिनमें एक तो प्रस्तर का छत्र-दंड है, और दूसरा कनिष्क का मूर्तिलेख, जिसमें भी वही पाठ है। कनिष्क के राज्य-काल (७८-१०१ ई०) में पुष्यबुद्धि के शिष्य एवं त्रिपिटक के आचार्य भिक्षु बल के द्वारा एक बोधिसत्व की मूर्ति तथा एक छत्र एवं दंड का दान किया गया था और ये दोनों वस्तुएँ कौशांबी-कुटी की परिक्रमा (चंक्रम) में प्रतिष्ठित की गई थीं, जो कि जेतवनाराम का एक भाग था और जिसमें संभवतः बुद्ध उस समय रहते थे जब उन्होंने कौशांबी के झगड़ालू भिक्षुओं को चेतावनी दी थी। ऐसा ही एक दान सारनाथ में पुष्यबुद्धि के शिष्य भिक्षु बल द्वारा किया गया था (देखिए आगे अध्याय १६, पृ० २८८)। दान की वस्तुएँ चंक्रम में प्रतिष्ठित की गई थीं, जिसका उपयोग भगवान् बुद्ध (ध्यान के लिए) किया करते थे। ये वस्तुएँ भिक्षु बल द्वारा दान की गई थीं, जो अपने पुण्यों को अपने माता-पिता, शिष्यों, छात्रों, बुद्धमित्र नाम के एक अन्य त्रिपिटकाचार्य भिक्षु तथा क्षत्रप वनस्पर एवं खरपल्लान के साथ बँटाना चाहते थे। बुद्धमित्र और बल, दोनों सर्वास्तिवादी थे, अतः इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कनिष्क के राज्य-काल में सारनाथ में भी कुछ सर्वास्तिवादी रहते थे। जगतसिंह-स्तूप के दक्षिण ओर पत्थर के सोपान की सबसे ऊपरी सीढ़ी पर यह लेख खुदा हुआ पाया गया था—'आचार्यानां सर्वास्तिवादिनां परिग्रहे'। डा० फोगल इस लेख को ई० दूसरी शताब्दी का ठहराते हैं।[1] यह लेख 'मुख्य मंदिर की दक्षिण परिक्रमा में पुराने स्तूप के चारों ओर की वेष्टनी' पर दोहराया गया है। सारनाथ के अशोक-स्तंभ पर का दूसरा लेख, जिसमें राजा अश्वघोष का नाम आया है, संभवतः सर्वास्तिवादियों के निमित्त था जिनका नाम उसमें दुर्भाग्यवश मिट गया है। उसी स्तंभ पर के तीसरे लेख का पाठ इस प्रकार है— 'आ (चा) र्यानां स(म्मि) तियानां परिग्रहे वात्सीपुत्रिकानां।'[2] सर्वास्तिवाद और सम्मितीय, दोनों संप्रदायों के इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० दूसरी शताब्दी तक सारनाथ में सर्वास्तिवादियों का प्राधान्य था, उसके बाद वहाँ सम्मितीयों का प्रभाव बढ़ गया। दोनों

१. आ० स० रि०, १९०७–८, पृ० ७३।
२. साहनी, सारनाथ संग्रहालय की सूची, पृ० ३०–३१।

संप्रदायों के लोग कुछ समय तक वहाँ साथ-साथ रहे होंगे, परन्तु यह निश्चित है कि हुएन-सांग के समय तक सर्वास्तिवादी उस स्थान को छोड़ चुके थे और वहाँ केवल सम्मितीय संप्रदाय के भिक्षु रह गए थे।

शुद्ध पाली[1] में कुषाण-काल का लेख यहाँ पाए जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुत प्राचीन काल में, सभवतः सर्वास्तिवादियों का प्रभाव जमने के पहले, यहाँ स्थविरवादी भी रहते थे।

हर्षवर्धन के कुछ काल पश्चात् सम्मितीयों का भी महत्त्व नष्ट हो गया और उनके स्थान पर महायानी प्रतिष्ठित हो गए।

एक दूसरा लेख मानकुअर (जिला इलाहाबाद) में पाया गया है। यह लेख कुमारगुप्त प्रथम के समय (४४८ ई०) का है। इसके अनुसार बुद्ध की एक मूर्ति भिक्षु बुद्धमित्र के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। परमार्थ ने लिखा है कि वसुबंधु के गुरु बुद्धमित्र थे। तंजूर (जिल्द ९, पृ० ३२) मे बुद्धमित्र का नाम आता है जिन्होंने बुद्ध के परिनिर्वाण के आठ सौ वर्ष बाद स्थविर भूतिक के साथ मिलकर बुद्ध-वचनों का संग्रह किया था।[2] अपनी वसुबंधु की कालमीमांसा (सीरी ओरिएंटल, रोम, १९५१) में फ्राउवालनर की प्रवृत्ति मानकुअर लेखवाले बुद्धमित्र को वसुबंधु का गुरु बुद्धमित्र मानने के पक्ष में है।

कुछ ऐसे लेख भी है, जिनमें मथुरा और सारनाथ में सर्वास्तिवादियों के साथ-साथ सम्मितीयों और महासंघिकों के अनुयायियों के रहने का उल्लेख है।

उपर्युक्त शिलालेखों के साक्ष्यों के अतिरिक्त चीनी यात्रियों, विशेषतः हुएन-सांग और इत्सिंग के अभिलेख भी उपस्थित किए जा सकते हैं। फाहियान ने बौद्ध धर्म के सांप्रदायिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया परंतु हुएन-सांग ने तीन बड़े संप्रदायों—सम्मितीय, सर्वास्तिवादी और महासंघिक को विशेष रूप से लक्ष्य किया। इन तीनों में से सर्वास्तिवादियों के संबंध में वह लिखता है कि ५००

१. पाली लेख इस प्रकार है—
  (१) चत्तारिमानि भिक्खवे अरिय सच्चानि
  (२) कतमानि चत्तारि दुक्खं भिक्खवे अरियसच्चं।
  (३) दुक्ख समुदयो अरियसच्चं दुक्खनिरोहो अरियसच्चं।
  (४) दुक्खनिरोध गामिनि च पटिपदा अरियसच्चं।

२. शीफनेर, तारानाथ, पृ० २९९।

से अधिक विहारों में उनके १६,००० भिक्षु रहते थे जो संपूर्ण मध्यएशिया (काशगर, अक्षु, कुचा), उत्तर अफगानिस्तान, और मध्यदेश में गंगातट पर, उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व से लेकर भारत के धुर उत्तर-पश्चिम तक बिखरे हुए थे। उत्तर प्रदेश के भीतर उसने सर्वास्तिवादियों के केवल तीन विहारों का उल्लेख किया है—एक कन्नौज में, जिसमें ५०० भिक्षु रहते थे; दूसरा हयमुख (प्रयाग के निकट) में, जिसमें २०० भिक्षु थे; और तीसरा वाराणसी में, जिसमें २००० भिक्षु निवास करते थे। उसने पर्यात्र (मथुरा के निकट), थानेश्वर (स्थानेश्वर), गोविशन (संकाश्य के निकट), प्रयाग और कौशांबी के भिक्षुओं को केवल हीनयानी लिखा है, जिनमें सर्वास्तिवादी भी रहे होंगे। मथुरा, कन्नौज और अयोध्या के भिक्षुओं के संबंध में वह लिखता है कि उनमें हीनयानी और महायानी दोनों थे। इत्सिंग ने बौद्ध संप्रदायों के भौगोलिक विस्तार की चर्चा बहुत साधारण रीति से की है। वह लिखता है कि मगध के अधिकांश भिक्षु और उत्तर भारत के प्रायः सभी बौद्ध मूलसर्वास्तिवादी थे, जिनके अनुयायी जावा, सुमात्रा, चंपा और दक्षिण चीन में भी फैले हुए थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ई० दूसरी से सातवीं तक की पाँच शताब्दियों में सर्वास्तिवादी सुदूर उत्तर-पश्चिम कश्मीर, गंधार, उड्डीयान और कपिशा में तथा गंगा की घाटी में विद्यमान थे। बहुत संभव है कि छठीं शताब्दी के हूण आक्रमण ने सर्वास्तिवादियों को मध्यभारत की ओर ढकेला। तारानाथ ने लिखा है कि पालों के समय (९वीं-१०वीं शताब्दी) में अनेक बौद्ध संप्रदायों का लोप हो गया और केवल छः बच रहे, जिनमें एक मूलसर्वास्तिवादियों का था। उपर्युक्त सभी साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि सर्वास्तिवादी, जिनमें उनके उत्तरकालीन रूप मूलसर्वास्तिवादी भी गिन लिए गए हैं, ई० पू० तीसरी शताब्दी से ई० दसवीं शताब्दी तक उत्तर प्रदेश तथा अन्य स्थानों में बराबर बने रहे।

सर्वास्तिवाद त्रिपिटक

थेरवादियों के पाली त्रिपिटक के अनुरूप सर्वास्तिवादियों का अपना संपूर्ण त्रिपिटक, संस्कृत में लिखा हुआ था। सूत्र और विनय पिटकों के कुछ अंश तथा संपूर्ण प्रातिमोक्ष सूत्र मध्य एशिया में भोजपत्र पर प्राचीन गुप्त लिपि में लिखे हुए पाए गए हैं।[1] वी० ए०

१. हार्नले के 'मैनुस्क्रिप्ट्स रिमेन्स इन ईस्टर्न तुर्किस्तान' के अनुसार।

स्मिथ और डब्ल्यू० होय को संस्कृत में ईंटों पर लिखे हुए बौद्ध सूत्र ई० २५०-४०० के गोपालपुर के खँडहरों में प्राप्त हुए थे।[1] यशोमित्र की अभिधर्मकोश-व्याख्या में उदायि सूत्र (पृ० १६४)[2], महाचुंड सूत्र (पृ० ३५३), ब्रह्मजाल सूत्र (पृ० ४२०) और भिक्षुणी-विनय (पृ० ३७४) जैसे संस्कृत त्रिपिटक के कुछ उद्धरण दिए गए हैं। इसी प्रकार कुछ उद्धरण कमलशील की तत्त्वसंग्रह-व्याख्या में भी दिए गए हैं।

ये अंश तथा उद्धरण असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध करते हैं कि पाली सुत्त-पिटक के पाँच निकायों के समकक्ष सर्वास्तिवादियों के संस्कृत सूत्रपिटक के भी पाँचों भाग—दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तकागम, एकोत्तरागम और क्षुद्रकागम—थे। क्षुद्रकागम तथा पाली खुद्दकनिकाय में समाविष्ट मूल ग्रंथों के नाम भी परस्पर मिलते हैं; जैसे सुत्तनिपात (अत्थक और पारायण), उदानवर्ग, धर्मपद, स्थविरगाथा (गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स ३ में प्रकाशित), विमानवस्तु और बुद्धवंश। त्रिपिटक का चीनी अनुवाद पूर्णतया सर्वास्तिवादियों के इसी संस्कृत त्रिपिटक के आधार पर हुआ था। अकानुमा के 'कंपरेटिव कैटेलॉग ऑव चाइनीज़ आगमज़ ऐण्ड पाली निकायज़' (चीनी आगमों और पाली निकायों की तुलनात्मक सूची) में यह दिखलाया गया है कि संस्कृत आगमों और पाली निकायों में बहुत साम्य है, विशेषतः प्रथम और द्वितीय आगमों तथा निकायों में (तृतीय और चतुर्थ में कुछ अंतर है)। चीनी 'दीर्घागम' में तीस सूत्र हैं और पाली 'दीघ निकाय' में चौंतीस, परंतु दोनों में सूत्रों के क्रम में बहुत अंतर है। इसी प्रकार चीनी 'मध्यमागम' में २२२ सूत्र हैं, जिनमें से १३३ पाली 'मज्झिमनिकाय' से मिलते हैं परंतु शेष में से अधिकांश 'अंगुत्तर' से और कुछ अन्य तीन निकायों से लेकर जोड़े गए हैं।

चीनी 'संयुक्तकागम' और पाली 'संयुत्तनिकाय' मे पर्याप्त अंतर है। चीनी रूपांतर में पचास गुच्छक (संयुक्तक) हैं और पाली में छप्पन, जिनमें से दोनों के केवल छः संयुक्तकों में समानता है। इसमें अंगुत्तर निकाय के बहुत से सुत्त सम्मिलित कर लिए गये हैं। अंगुत्तर निकाय के बहुत से सूत्र मध्यमागम और संयुक्तकागम में सम्मिलित कर लिए जाने के कारण चीनी एकोत्तरागम बहुत छोटा हो गया है, फिर भी दोनों के विषयों में कुछ समानता पाई जाती है। प्रोफेसर सिलवाँ लेवी ने चीनी एकोत्तरागम (जापानी संस्करण, भाग १३, १०३ बी०—१०६ ए०) के कुछ अंशों की पाली अंगुत्तर-

१. ज० रॉ० ए० सो०, बंगाल १८९६, पृ० ९९१।

२. पृष्ठ संख्याएँ जापानी संस्करण की हैं।

न्निकाय से तुलना की है[1] और अनुलिखित सूत्र उन्हें दोनों में समान रूप से मिले है—कोकनद सूत्र, अनाथपिडिक सूत्र, दीर्घनख सूत्र, सरभ सूत्र (अंगुत्तर, भाग ५, पृ० १९६-८; १८५–९; भाग १, पृ० ४९७–५०१, १८५–८), परंतु परिव्राजकस्थविर सूत्र और ब्राह्मणसत्यानि सूत्र उन्हें पाली निकाय में नही मिल सके। इस तुलना से अंगुत्तर निकाय और एकोत्तरागम दोनों के संबंध का स्थूल अनुमान किया जा सकता है।

जहाँ तक विनयपिटक का संबंध है, प्रातिमोक्ष सूत्र तथा 'खंधको' के कुछ अंश मूल संस्कृत में पाए गए हैं; शेष की जानकारी के लिए हमारा आधार उसका चीनी रूपांतर 'दशाध्याय विनय' है। दोनों की तुलना करने से यह पाया गया है कि दोनों के मुख्य विषयों में बहुत अधिक समानता है। गिलगिट में मूलसर्वास्तिवादियों के 'प्रातिमोक्ष सूत्र' और 'कर्मवाक्य' के साथ विनयपिटक के बड़े भाग (महावग्ग) की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि से 'विनय' के मूल संस्कृत रूप पर बहुत प्रकाश पडा है। अब यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उसके संस्कृत और पाली दोनों रूपों में न केवल मुख्य विषयों में तात्त्विक समानता है, अपितु कही-कही एक रूप दूसरे पर आधृत जान पड़ता है।

दोनों में मुख्य अंतर यह है कि उनके अध्यायों और अनुच्छेदो के क्रम असमान हैं और संस्कृत 'विनय' में कथाएँ और उपकथाएँ समाविष्ट की गई हैं, जब कि पाली में वे नहीं रखी गई हैं। वस्तुतः 'अवदान', यहाँ तक कि 'स्थविरगाथाएँ' भी महावग्ग के संस्कृत रूपांतर के अविभाज्य अंग हैं। मूल पाली में केवल 'विनय' संबंधी अंश रखे गये हैं, केवल कहीं-कहीं कुछ कथाएँ भी दी गई हैं। 'सुत्तविभंग' में दी हुई कथाओं में मूल पाली तथा संस्कृत में बहुत अंतर है, यद्यपि उन कथाओं के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष वा नियम दोनों में समान है।

ऐसा जान पड़ता है कि थेरवादियों के पाली तथा सर्वास्तिवादियों के संस्कृत अभिधर्मपिटकों का विकास अलग-अलग स्वतंत्र रूप से हुआ। यद्यपि दोनों संप्रदायों के सात ग्रंथ हैं, तथापि उनके नाम और उनकी विवेचन-पद्धतियाँ एक दूसरी से नितांत भिन्न हैं। पाली ग्रंथों में धार्मिक पारिभाषिकों के लिए समानार्थी और अनेकार्थी शब्द देकर तथा उनका वर्गीकरण एवं उपवर्गीकरण करके, उनकी व्याख्या की विचित्र पद्धति अपनाई गई है, परंतु संस्कृत ग्रंथों में उन पारिभाषिक शब्दों की आलोचनात्मक व्याख्या

१. तौंग पाओ, भाग ५

के साथ-साथ उनका वर्गीकरण किया गया है। दोनों सम्प्रदायों के सातों ग्रंथो के नाम इस प्रकार है---

संस्कृत	पाली
(१) आर्य कात्यायनीपुत्र कृत ज्ञानप्रस्थान सूत्र, छः परिशिष्टों सहित	(१) धम्मसंगणी
(२) स्थविर वसुमित्र कृत प्रकरणपाद	(२) विभंग
(३) स्थविर देवशर्मा कृत विज्ञानकाय	(३) यमक
(४) आर्य सारिपुत्र कृत धर्मस्कन्ध	(४) पट्ठान
(५) आर्य मौद्गलायन कृत प्रज्ञप्तिसार	(५) पुग्गलपञ्ञत्ति
(६) पूर्ण कृत धातुकाय	(६) धातुकथा
(७) महाकौष्ठिल कृत संगीति-पर्याय	(७) कथावत्थु

मूल सस्कृत ग्रंथों के लुप्त हो जाने के कारण उनके संबंध में हमारी जानकारी का सर्वोत्तम साधन वसुबंधु का अभिधर्मकोश है जिसके विषय में ग्रंथकार का दावा है कि वह ज्ञानप्रस्थान सूत्र पर कश्मीर में लिखी गई 'विभाषा' नाम की बृहद् व्याख्या का सार है। संस्कृत अभिधर्म पिटक के विषयों का कुछ अनुमान अभिधर्मकोश के अध्यायों से किया जा सकता है जो इस प्रकार है---धातु (मानस तथा भौतिक तत्त्व), इंद्रिय (ज्ञानेंद्रियाँ तथा शरीर की मुख्य क्रिया-शक्तियाँ जो जीव में शुद्ध एवं अशुद्ध वासनाएँ उत्पन्न करती है), लोकधातु (जीवों के लोक एवं उनकी विविध श्रेणियाँ), कर्म (जीव के कर्म और उनके फल), अनुशय (मानसिक वृत्तियाँ जो विकार उत्पन्न करती हैं; तथा सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों की व्याख्या), आर्यमार्ग (अष्टांग मार्ग), ज्ञान (शुद्ध ज्ञान), ध्यान, पुद्गल (आत्मा के अस्तित्व का खंडन)।[1]

सर्वास्तिवाद-अभिधर्म पर व्याख्या तथा अन्य ग्रंथ लिखनेवाले वसुबंधु के अतिरिक्त अन्य भी कई विद्वान् थे; जैसे---गुणमति, स्थिरमति, वसुमित्र, घोषक और यशोमित्र।

वसुबंधु, जान पड़ता है, अयोध्या के गुप्त शासकों की राजधानी हो जाने के बाद अधिकतर वहीं रहते थे। सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म के इतिहास में वसुबंधु ऐसे प्रकांड और अद्भुत व्यक्ति हो गए हैं कि परमार्थ द्वारा लिखित (४९९–५६९ ई०)[2]

१. प्रत्येक ग्रंथ के विषयों के विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य 'अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग २, पृ० १३१–१३६।

२. तौंग पाओ म तकाकुसु द्वारा चीनी से अनुवादित (४, पृ० २६९–८६)।

उनका जीवनचरित हमारे विचार में अध्ययन के योग्य है। वसुबंधु का जीवनचरित इस प्रकार है—

बुद्ध के परिनिर्वाण के छः सौ वर्ष के पश्चात् सर्वास्तिवादी कात्यायनीपुत्र कश्मीर गए और वहाँ उन्होंने पाँच सौ अर्हतों और पाँच सौ बोधिसत्त्वों की सहायता से अभिधर्म-पिटक की सामग्री आठ ग्रंथों में संकलित की और बुद्ध के वचनों से उनका मिलान करने के पश्चात् ५०,००० श्लोकों का ज्ञानप्रस्थान सूत्र संगृहीत किया। फिर उन्होंने उसपर एक व्याख्या (विभाषा) लिखवाई। उन्होंने विद्या के निधान, संत एवं राजकवि अश्वघोष को साकेत से कश्मीर बुलाया और 'विभाषा' को साहित्यिक संस्कृत में प्रस्तुत करने का कार्य उन्हें सौंपा। विभाषा को प्रस्तुत करने में बारह वर्ष लगे। ज्ञानप्रस्थान सूत्र के छः परिशिष्टों में से एक, अर्थात् 'विज्ञानकाय', देवशर्मा द्वारा लिखा गया, जो कात्यायनीपुत्र के समसामयिक और साकेत (विशोक) के निवासी थे। सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों का प्रतिपादन करनेवाले दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति बुद्धदेव थे, जो संभवतः मथुरा के रहनेवाले थे, जहाँ के एक शिलालेख में उनका नाम आया है (दे० पूर्व पृष्ठ २१०)। कात्यायनीपुत्र ने कश्मीर के सभी भिक्षुओं के लिए विभाषा को देश के बाहर ले जाने का निषेध कर दिया, जिससे बाहर के लोग उसकी अशुद्ध व्याख्या न करने लग जायें। चार सौ वर्षों तक तो इस निषेध का पालन हुआ, परंतु उसके पश्चात् वसुबंधु, जो उस बृहत्काय ग्रंथ (महाविभाषा) के रहस्यों को जानने के लिए समुत्सुक थे तथा उसके अध्ययन के लिए कश्मीर गए थे, उसको अयोध्या ले आए। कश्मीर में उन्होंने अपने को एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति के रूप में प्रकट किया। वे सभाओं में जाते और विद्वानों से विभाषा के विषय में विचार-विमर्श करते थे। इस प्रकार क्रमशः उन्होंने संपूर्ण विभाषा कंठस्थ कर ली। उसके पश्चात् वे अयोध्या लौट आए और अपने शिष्यों के द्वारा उसे लिपिबद्ध करा दिया। प्रत्येक दिन के व्याख्यान के अंत में वे एक श्लोक रचते थे जिसमें वे उस दिन के व्याख्यान का सारांश निबद्ध कर देते थे। इस प्रकार ६०० श्लोकों का एक ग्रंथ तैयार हो गया। इस ग्रंथ की एक प्रति उन्होंने पचास पौंड सोने के साथ कश्मीर भेजी। कश्मीरी वैभाषिक इस अद्भुत स्मरण-शक्ति और विस्तृत ज्ञान को देखकर दंग रह गए। उन्होंने पचास पौंड और सोना मिलाकर सौ पौंड सोने के साथ उस पुस्तक को वसुबंधु के पास लौटा दिया और उनसे उसपर एक भाष्य रचने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। परंतु भाष्य लिखने के समय उनके विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया था, इसलिए उन्होंने कुछ वैभाषिक सिद्धांतों की सौत्रान्तिक दृष्टि से आलोचना की। इस आलोचना से कश्मीर के संघभद्र

अप्रसन्न हो गए और उन्होंने वसुबंधु के विचारों का खंडन करने के लिए उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की।

वसुबंधु के विस्तृत ज्ञान और अध्ययन तथा उनकी शास्त्रार्थ-निपुणता ने ई० पाँचवीं शती के गुप्त शासकों का ध्यान आकर्षित किया। उन्हें उन राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ और वे तत्कालीन युवराज बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के शिक्षक नियुक्त किए गए। उन्हें 'परमार्थसप्ततिका' की रचना के पुरस्कार-स्वरूप महाराज स्कंदगुप्त विक्रमादित्य से तीन लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई। इस ग्रंथ में उन्होंने अपने गुरु बुद्धमित्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, बड़ी योग्यता के साथ वर्षगण्य के शिष्य विंध्यावास के 'सत्तर श्लोकों' की आलोचना की, जिनसे बुद्धमित्र शास्त्रार्थ में परास्त हो चुके थे। स्कंदगुप्त से प्राप्त पुरस्कार के धन से वसुबंधु ने अयोध्या में तीन विहार बनवाए—एक भिक्षुणियों के लिए, दूसरा सर्वास्तिवादियों के लिए और तीसरा महायानियों के लिए। उन्होंने एक दूसरा ग्रंथ व्याकरणशास्त्र पर लिखा, जिसमें उन्होंने वसुरात्र से प्रतिशोध लेने के लिए उनके व्याकरण के बत्तीस अध्यायों की आलोचना की। वसुरात्र राजा बालादित्य का साला था और उसने वसुबंधु की रचनाओं में व्याकरण की त्रुटियाँ निकाली थीं। इस ग्रंथ के लिए उन्हें राजा बालादित्य और उनकी माता से बहुत धन पुरस्कार में प्राप्त हुआ। इस धन से भी उन्होंने तीन विहार बनवाए—एक पेशावर में, दूसरा कश्मीर में और तीसरा अयोध्या में।

वसुबंधु के राजा द्वारा पुरस्कृत होने से वसुरात्र क्रुद्ध हो गया और उसने कश्मीर के संघभद्र को तैयार किया कि वे अयोध्या आकर एक ग्रंथ की रचना करें जिसमें कोशभाष्य में प्रकट किए गए वसुबंधु के विचारों का खंडन हो। संघभद्र ने दो ग्रंथ 'समयप्रदीप' और 'न्यायानुसार' लिखे जिनमें वसुबंधु के विचारों पर आक्षेप किया। वसुबंधु उस समय बहुत वृद्ध हो गए थे और उन्होंने उन आक्षेपों का कोई उत्तर नहीं दिया, अपने और संघभद्र के विचारों की सत्यता एवं औचित्य के निर्णय का भार उन्होंने आनेवाली पीढ़ियों पर छोड़ दिया। यहाँ वसुबंधु का जीवनचरित समाप्त हो जाता है। फ्राउवालनर के मत से उनके विज्ञानवादी हो जाने की बात संदिग्ध है।

फ्राउवालनर के अनुसार, ऊपर जिन वसुबंधु का जीवनचरित दिया गया है वे पेशावरी असंग के भ्राता वसुबंधु से भिन्न हैं। फ्राउवालनर ने यह सिद्ध करने के लिए साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं कि असंग के भाई वसुबंधु का जन्म ३२० ई० में और मृत्यु ३८० ई० में हुई थी, परंतु परमार्थसप्ततिका, अभिधर्मकोश और भाष्य के रचयिता वसुबंधु का जन्म-काल ४०० ई० था। उन्हें गुप्त राजा स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (४५५–

६७ ई०) का संरक्षण प्राप्त था और वे नरसिंहगुप्त बालादित्य के शिक्षक रहे (४६७–७३ ई०)। इन गुप्त राजाओं ने पाटलिपुत्र को छोड़कर अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया और वसुबंधु ने अपने पुरस्कार के धन से अयोध्या मे चार विहार बनवाए–इन तथ्यों से फ्राउवाल्नर के इस मत का समर्थन होता है कि वसुबंधु दो थे और बादवाले वसुबंधु अभिधर्मकोश के रचयिता थे। वे अयोध्या के निवासी थे और आजीवन सौत्रान्तिक विचारवाले सर्वास्तिवादी बने रहे।

सर्वम्-अस्ति-वाद

कथावत्थु तथा वसुमित्र के संप्रदाय संबंधी ग्रंथ में सर्वास्तिवादियों के कई सिद्धांत बतलाए गए है,[1] अतः हम यहाँ केवल उनके मूल सिद्धांत का विवेचन करेंगे, जिसका तत्त्व यह है कि 'सभी पदार्थ सत्तावान् हैं' (सर्व अस्ति), जिसके कारण ही उसका नाम सर्वास्तिवाद हुआ।

थेरवादियों की भाँति सर्वास्तिवादियों ने भी सृष्टि के दो भेद किए—'संस्कृत' तथा 'असंस्कृत'। संस्कृत सृष्टि सदोष (सास्रव) और अनित्य है। इससे दृश्य संसार के बाह्य एवं आभ्यंतर सभी तत्त्व उसमें अंतर्भूत हैं। बाह्य तत्त्वों में है चार भौतिक तत्त्व (भूत), उनसे उत्पन्न (भौतिक) ज्ञानेंद्रियाँ और उनके तत्-तत् विषय[2] तथा अमानस (अविज्ञप्ति) तत्त्व, जैसे आत्म-संयम (संवर) और असंयम (असंवर)। आभ्यंतर तत्त्व हैं 'चित्त' एवं चित्त की स्थितियाँ (चैतसिक), जो छः वर्गों[3] तथा कुछ

१. द्रष्टव्य 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', भाग २।

२. सू० रूप (११)—

(क) विषय ५ हैं—रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श;

(ख) इंद्रियाँ ५ हैं—चक्षुरिंद्रिय, श्रोत्रेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, जिह्वेंद्रिय, कायेंद्रिय;

(ग) अविज्ञप्ति—१; (द्रष्ट० अभिधर्मकोश, ४।३९)।

३. चित्त १; चैतसिक ४६, जो इस प्रकार हैं—

(क) महाभूमिक—१०

(१) वेदना, (२) संज्ञा, (३) चेतना, (४) स्पर्श, (५) छंद, (६) मति वा प्रज्ञा, (७) स्मृति, (८) मनस्कार, (९) अधिमोक्ष, (१०) समाधि।

(ख) कुशल महाभूमिक—१०

(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) उपेक्षा, (४) ह्री, (५) अपत्रप्य,

मनोवृत्तियों में विभक्त हैं, किंतु वे मन से असंबद्ध (चित्तविप्रयुक्त) हैं। चित्तविप्रयुक्त चौदह प्रकार के है।[1]

असंस्कृत पदार्थ शुद्ध (अनास्रव) एव 'नित्य' हैं, जो इस प्रकार हैं--(१) आकाश, (२) प्रतिसंख्या निरोध (ज्ञान द्वारा मुक्ति वा निर्वाण), और (३) अप्रतिसंख्या निरोध (बिना ज्ञान मुक्ति वा निर्वाण)।

'सर्वम् अस्ति' से सर्वास्तिवादियों का तात्पर्य यह है कि पदार्थ त्रिकाल-सत् हैं, अर्थात् अतीत, वर्तमान, भविष्य--तीनों कालों में उनका अस्तित्व रहता है। वे यह नहीं मानते कि दृश्य पदार्थ अथवा उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व नित्य-सत्तावान् हैं, क्योंकि वे तो निश्चित रूप से अनित्य हैं, यद्यपि मृगमरीचिका वा आकाशकुसुम की भाँति अस्तित्वहीन नहीं हैं। सांसारिक पदार्थों की अनित्यता के ज्ञान तथा उनसे अपने मन को पूर्ण रूप से निःसंग कर लेने से ही साधक अपने निरंतर बननेवाले संस्कारों के प्रवाह

(६) अलोभ, (७) अद्वेष, (८) अहिंसा, (९) प्रश्रब्धि, (१०) अप्रमाद।

(ग) क्लेश महाभूमिक---६

(१) मोह, (२) प्रमाद, (३) कौसीद्य, (४) अश्रद्धा, (५) स्त्यान, (६) औद्धत्य।

(घ) अकुशल महाभूमिक---२

(१) अह्रीकता, (२) अनपत्रप्य।

(ङ) उपक्लेश महाभूमिक---१०

(१) क्रोध, (२) म्रक्ष, (३) मात्सर्य, (४) ईर्ष्या, (५) प्रमाद, (६) विहिंसा, (७) उपनह, (८) माया, (९) सथ्य, (१०) मद।

(च) अनियत भूमिक---८

(१) कौकृत्य, (२) मिद्ध, (३) बितर्क, (४) विचार, (५) राग, (६) प्रतिघ, (७) मान, (८) विचिकित्सा।

१. चित्त विप्रयुक्त १४ हैं--

(१) प्राप्ति, (२) अप्राप्ति, (३) सभागत, (४) असंज्ञिक, (५) असंज्ञि समापत्ति, (६) निरोध समापत्ति, (७) जीविति, (८) जाति, (९) स्थिति, (१०) जरा, (११) अनित्यता, (१२) नामकाय, (१३) पदकाय, (१४) व्यंजन काय।

को रोककर पूर्ण मोक्ष (निरोध—निर्वाण) प्राप्त कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि 'सर्वम् अस्ति' का अर्थ सर्वास्तिवादियों की दृष्टि से यह नहीं है कि 'सब पदार्थ नित्य हैं।' सर्वास्तिवादी शाश्वतवादी नहीं हैं, जिनका सिद्धांत बुद्ध द्वारा सर्वथा अस्वीकृत था।

'सर्वम् अस्ति' वाक्य के द्वारा सर्वास्तिवादी केवल यह विचार व्यक्त करना चाहते हैं कि समस्त पदार्थ अतीत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों कालों में वर्तमान रहते हैं। वे यह नहीं मानते कि जो पदार्थ विगत (वा नष्ट) हो जाता है उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है; क्योंकि उनके कथनानुसार यद्यपि उस पदार्थ पर ज्ञानेंद्रियों की क्रिया नहीं होती तथापि मन को उसका ज्ञान बना रहता है, क्योंकि केवल विगत पदार्थ ही मन के विषय होते हैं। जिस क्षण आँखें कोई वस्तु देखती हैं उसी क्षण उनका कार्य समाप्त हो जाता है। वे उस वस्तु का संस्कार मन पर डाल देती हैं और मन में उसकी धारणा और स्मृति बनी रहती है। अतीत वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा मन की क्रिया ही नहीं हो सकती (षण्णां अनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः- कोश, १।१७)। यह सिद्ध बात है कि मन बिना किसी आधार वा विषय के नहीं रह सकता, उसे कोई आधार अवश्य चाहिए (चित्तं सालम्बनम्)। यदि यह सत्य है तो इसका यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ तक मन का संबंध है, अतीत पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है, अन्यथा मन का ही अस्तित्व नहीं माना जायगा। इसके अतिरिक्त बुद्ध का भी भौतिक तत्त्वों (रूप) के विषय में कथन है कि उनमें अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के भी तत्त्वों का अंतर्भाव है (यत्किंचिद्रूपं अतीतानागत-प्रत्युत्पन्नं इति)।[1] अतः इस कथन के आधार पर भी सर्वास्तिवादी यह दावा करते हैं कि पदार्थों का अस्तित्व अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनों कालों में रहता है। फिर, बुद्ध ने अपने शिष्यों को अतीत एवं भविष्य की वस्तुओं से अपने मन को निःसंग करने का उपदेश दिया था। इससे भी विदित है कि अतीत और भविष्य में पदार्थों का अस्तित्व रहता है, अन्यथा बुद्ध ऐसा उपदेश क्यों देते ? यदि अतीत और भविष्य की वस्तुओं का मृग-मरीचिका वा आकाश-कुसुम की भाँति कोई अस्तित्व ही न होता तो उनसे अपने मन को निस्संग करने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता न होती, क्योंकि मृगमरीचिका वा आकाश-कुसुम से निस्संग होने की बात कोई नहीं सोचता। इन तर्कों के द्वारा सर्वास्ति-

१. रूपं अनित्यं अतीतानागतं कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य। एवंदर्शी श्रुतवानार्य-श्रावकोऽतीते रूपेनपेक्षो भवति, अनागतं रूपं नाभिनन्दति प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्वेदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नो भवति (संयुक्तकागम ३।१४; कोश, ५।२५)।

अर्थात् जरा और मरण जो अभी अनागत वा आनेवाले हैं, उसके भविष्य हैं। जब बालक वृद्ध हो जाता है, अथवा दूध जमकर दही बन जाता है, अथवा स्वर्ण का आभूषण घिस जाता है, तो उसकी जरा वर्तमान हो जाती है, उसका जन्म अतीत हो जाता है और उसका मरण वा विनाश भविष्य हो जाता है। इस तर्क के द्वारा घोषक ने लक्षणों की परिवर्तनशीलता (लक्षणान्यथात्व) सिद्ध की है। धर्मत्रात ने पदार्थ और उसकी अवस्थाओं—रूप और गुण (द्रव्य और भाव)—पर अलग-अलग विचार किया है, परंतु घोषक दोनों को अविच्छेद्य मानते हैं।

घोषक यह युक्ति देते हैं कि यदि तीनों लक्षण साथ-साथ न रहें, पूर्ण रूप से पृथक् कर दिए जायँ (वियुक्तं स्यात्), तो वर्तमान कभी अतीत, अथवा भविष्य कभी वर्तमान नहीं हो सकता। अतः उनका यह निष्कर्ष है कि तीनों काल-लक्षण साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। वे यह दृष्टांत देते हैं कि जब कोई पुरुष किसी स्त्री में अनुरक्त होता है तो वह अन्य स्त्रियों से पूर्णतया विरक्त नहीं होता। उसका अनुराग उनके मतानुसार वास्तविक विनियोग (समुदाचार) है और अन्य स्त्रियों में उसके अनुरक्त होने की संभावना 'प्राप्ति' है।

वसुबंधु ने उपर्युक्त मत को काल का सम्मिश्रण वा संकर (अध्वसंकर) कहकर उसकी आलोचना की है। उनका कथन है कि अतीत पदार्थ वा लक्षण को वर्तमान और भविष्य के लक्षणों से युक्त समझना भ्रम है। घोषक प्रकारांतर से तीन काल-लक्षणों को एक ही पदार्थ में मानते हैं जो सर्वथा तर्क-विरुद्ध है, क्योंकि एक पदार्थ में केवल एक ही काल-लक्षण हो सकता है।

फिर, 'प्राप्ति' का प्रश्न जीवधारियों (सत्त्वाख्य) के प्रसंग में उठ भी सकता है, परंतु निर्जीव पदार्थों (असत्त्वाख्य) पर वह लागू नहीं हो सकता, क्योंकि घट अपनी कठोरता को 'प्राप्त' नहीं करता।

(३) 'परिपृच्छा', 'पंचवस्तुक' तथा अन्य ग्रंथों के रचयिता[1] वसुमित्र (ई० पहली शताब्दी) का कथन है कि पदार्थों का अस्तित्व भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनों कालों में रहता है, और उनके तत्त्व अथवा रूप और गुण में, अथवा उनके लक्षणों में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसा कि धर्मत्रात और घोषक का मत है। वसुमित्र के मत के अनुसार पदार्थों के अतीतत्व, वर्तमानत्व एवं भविष्यत्व का निर्धारण (अवस्थान्यथात्व) कार्य वा क्रियाशीलता (कारित्र) के द्वारा होता है। जब क्रिया होती रहती है,

१. अभिधर्मकोश (जापानी सं०), पृ० १६७।

जैसे जब आँखें किसी वस्तु को उसके तात्कालिक तत्त्व, रूप, गुण वा लक्षणों के साथ देखने का काम करती रहती हैं, तो उसे 'वर्तमान' कहते हैं; इसी प्रकार जब आँखों का वह कार्य बंद हो जाता है अर्थात् जब आँखों का उस पदार्थ को देखने का कार्य समाप्त हो जाता है तब वह पदार्थ 'अतीत' हो जाता है। इसी प्रकार, जब किसी पदार्थ के विषय में क्रिया होनेवाली होती है तो उसे भविष्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में, सभी पदार्थों में तीनों काल-तत्त्व साथ-साथ रहते हैं और क्रिया अथवा कर्म के द्वारा ही उन पदार्थों के काल वा स्वभाव का निश्चय होता है (अध्वानः कारित्रेन व्यवस्थिताः)। यदि तीनों काल-तत्त्व सहवर्ती न होते तो अतीत और भविष्य का शश-शृंग के समान कहीं पता न होता। वसुमित्र के मत से अतीत और भविष्य न भ्रम हैं और न मिथ्या (अस्तित्वहीन)। अतः सभी गोचर पदार्थों का अस्तित्व तीनों कालों में रहता ही है। उन्होंने इसके लिए शून्य तथा गणित की संख्याओं में उसके स्थानीय मान का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार १ के पहले रखने से शून्य का कोई मूल्य नहीं होता, परंतु जब उसे १ के बाद रखा जाता है तो उस अंक का मूल्य १० हो जाता है, उसी प्रकार से किसी पदार्थ के अतीत, वर्तमान वा भविष्य होने का निर्णय उसकी क्रिया द्वारा होता है।

उपर्युक्त तीन व्याख्याओं में से वसुबंधु ने वसुमित्र के मत को श्रेष्ठ माना है, परंतु उसे सदोष भी बतलाया है। वसुबंधु का तर्क यह है कि सर्वास्तिवाद के सिद्धांत के अनुसार 'कारित्र' का अस्तित्व भी पदार्थ के साथ-साथ तीनों कालों में होना चाहिए, उसे पदार्थ से पृथक् नहीं किया जा सकता। अवियोज्य धर्म होने के कारण कारित्र में अतीत, वर्तमान और भविष्य का भेद नहीं किया जा सकता। कारित्र इस कारण भी पदार्थ (धर्म) से भिन्न नहीं माना जा सकता कि सर्वास्तिवादियों के मत के अनुसार धर्मों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जब कारित्र पदार्थ से अभिन्न है तो अतीतत्व, वर्तमानत्व और भविष्यत्व का निर्धारक नहीं हो सकता।

वसुबंधु सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों के पूर्ण समर्थक नहीं हैं। यहाँ उन्होंने वसुमित्र की आलोचना सौत्रांतिक दृष्टि से की है।

(४) एक चतुर्थ मत बुद्धदेव ने उपस्थित किया है, जिनका उल्लेख शिलालेखों में हुआ है (दे० पूर्व० पृ० २०५)। बुद्धदेव का कथन है कि गोचर पदार्थों का अस्तित्व सब काल में रहता है; उनके 'अतीत', 'वर्तमान' और 'भविष्य' विशेषण सापेक्ष हैं (अन्यथान्यथिकत्व)। वसुमित्र की भाँति इनका भी धर्मत्रात और घोषक के इस मत से ऐक्य नहीं है कि पदार्थों के रूप और गुण में अथवा काल-लक्षणों में परिवर्तन होता है। इनका कथन है कि पदार्थ सब कालों में वही रहते हैं, परंतु वे भविष्य कहे जाते हैं अपने

अतीत एवं वर्तमान अस्तित्व की अपेक्षा से, और वर्तमान कहे जाते हैं अपने अतीत एवं भावी अस्तित्व की अपेक्षा से। इसी प्रकार वे अतीत कहे जाते हैं अपने वर्तमान एवं भविष्य अस्तित्व की अपेक्षा से। किसी पदार्थ के लिए अतीत, वर्तमान और भविष्य विशेषण का प्रयोग उस पदार्थ की सापेक्ष सत्ता पर निर्भर है। बुद्धदेव ने इसके समर्थन में एक स्त्री का दृष्टांत दिया है जो अपने पिता के संबंध से कन्या भी है और पुत्र के संबंध से माता भी। अंत में बुद्धदेव का यही निष्कर्ष है कि प्रत्येक पदार्थ में तीनों काल-लक्षण एक साथ विद्यमान रहते हैं, केवल एक काल-लक्षण की अपेक्षा वा संबंध से ही दूसरे काल-लक्षण का पृथक् निर्देश किया जाता है। यह कुछ इसी प्रकार का कथन है कि एक ही पदार्थ वर्तमान में दही, अतीत में दूध और भविष्य में मक्खन होता है। जिस पदार्थ का पूर्वकालिक अस्तित्व ज्ञात है किंतु उत्तरकालिक अस्तित्व अज्ञात है, उसे 'भविष्य' कहते हैं; पुनः, ऐसे पदार्थ को जिसका पूर्व-कालिक एवं उत्तरकालिक अस्तित्व ज्ञात है, 'वर्तमान' कहते हैं। पुनरेव, जिस पदार्थ का उत्तरकालिक अस्तित्व ज्ञात है किंतु पूर्वकालिक अस्तित्व अविदित है, उसे अतीत कहते हैं। इस प्रकार बुद्धदेव तीनों कालों की सत्ता (त्रिकालसत्) स्थापित करते हैं।

वसुबंधु इस मत का खंडन यह कहकर करते हैं कि बुद्धदेव के मत के अनुसार तीन काल-लक्षण एक हो जाते हैं (एकस्मिन्नेवाध्वनि त्रयोऽध्वानः प्राप्नुवन्तीति), जो अमान्य है।

(२) सम्मितीय (वात्सीपुत्रीय)

जैसा पहले कहा जा चुका है, द्वितीय परिषद् के कुछ काल पश्चात् थेरवादियों की दो शाखाएँ हो गईं—महीसासक और वज्जिपुत्तक। उसके कुछ ही दशकों के बाद महीसासकों की दो उपशाखाएँ हुईं—धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी, तथा वज्जिपुत्तक भी चार उपशाखाओं में विभक्त हो गए, जिनमें एक सम्मितीयों की थी। अन्य अनु-श्रुतियाँ भी इनकी उत्पत्ति का यही क्रम मानती हैं, जिससे सम्मितीयों और सर्वास्ति-वादियों का समय लगभग एक ही पड़ जाता है। अतः इन दोनों का आरंभ-काल बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग डेढ़-दो सौ वर्ष पश्चात् मानना चाहिए। विनीतदेव के कथना-नुसार सम्मितीयों की तीन शाखाएँ हुईं—कुरुकुल्लक, आवन्तक, वात्सीपुत्रीय। सम्मितीयों के सिद्धांत वज्जिपुत्तकों से इतने मिलते-जुलते थे कि 'कथावत्थु' के व्याख्या-कार ने लिखा है कि सम्मितीयों और वज्जिपुत्तकों तथा कई अन्य बौद्धेतर मतों के आत्म-

सिद्धांत (पुग्गलवाद) एक ही हैं। संस्कृत[1] अनुश्रुतियों में भी आत्मा, उसके मध्य-कालीन जीवन (अन्तरा-भव) और उसके पुनर्जन्म पर विचार करते समय वात्सी-पुत्रियों और सम्मितीयों[2] को एक ही मान लिया गया है। सारनाथ शिलालेख में भी सम्मितीय वात्सीपुत्रियों के साथ मिला दिए गए हैं। संभवतः पीछे वे इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गए थे।

संस्कृत तथा पाली अनुश्रुतियों के अनुसार सम्मितीयों का आरंभ-काल ई० पू० तीसरी शती के लगभग है। केवल दो शिलालेख ई० दूसरी और चौथी शती के हैं जिनसे मथुरा और सारनाथ में उनका रहना प्रमाणित होता है। इन दोनों में अधिक प्राचीन मथुरा का पाँचवाँ शिलापट्ट-लेख है[3] जिसमें धर्मक के शिष्य एक भिक्षु द्वारा बोधिसत्त्व की एक मूर्ति के प्रतिष्ठापन; तथा सिरि विहार के सम्मितीय भिक्षुओं को उसके समर्पण का उल्लेख किया गया है। शिलापट्ट-लेखों में मथुरा के सिरि-विहार के अति-रिक्त प्रावारिक विहार, सुवर्णकार विहार और चुतक विहार नाम के तीन अन्य विहारों का भी उल्लेख है जो महासंघिकों को समर्पित किए गए थे। ये लेख कुषाण-काल के हैं, और बहुत संभव है महाराजा हुविष्क के राज्यकाल के हों। ये ब्राह्मी लिपि तथा पाली-संस्कृत-मिश्र भाषा में लिखे हुए हैं। मथुरा शिलापट्ट लेख के बाद का लेख जिसमें सम्मितीयों का नाम आया है, सारनाथ के अशोक-स्तंभ पर अशोक के लेख तथा एक अन्य लेख के नीचे खुदा हुआ पाया गया था (दे० पूर्व पृ० २०६)। इसमें सम्मितीय आचार्यो को, जिन्हें वात्सीपुत्रीय भी कहते थे, दिए गए एक दान का उल्लेख है, (आचार्यानां सम्मितीयानां परिग्रहे वात्सीपुत्रिकानां)[4]। बहुत संभव है कि यह लेख ई० तीसरी या चौथी शती का हो, जब सम्मितीयों ने अपने मत का प्रचार करके बहुत से भिक्षुओं और भिक्षुणियों को अपने मत में मिलाकर सर्वास्तिवादियों से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

सम्मितीय लोगों को प्रधानता मिली हर्षवर्धन के समय (६०६–६४७ ई०) में, जिसकी बहिन राज्यश्री के विषय में कहा जाता है कि वह इसी मत की भिक्षुणी हो गई थी। हुएन-सांग को इस संप्रदाय के अनेक विहार एवं अनुयायी अहिच्छत्र, संकाश्य,

१. कथावत्थु, पृ० ८—के पन पुग्गलवादिनो ति। सासने वज्जिपुत्तका चेव सम्मितीया च बहिद्धा च बहू अञ्ञातित्थिया।

२. अभिधर्मकोश व्याख्या (जा० सं०), पृ० ६९९—वात्सीपुत्रीय-आर्यसम्मितीयः।

३. एपिग्राफिया इंडिका १९, पृ० ६५ तथा आगे।

४. साहनी, सारनाथ संग्रहालय की सूची, पृ० ३०–३१।

हयमुख, विशोक, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, हिरण्य पर्वत, कर्ण सुवर्ण, मालव, वलभी, आनंदपुर, सिंध तथा अवंती में मिले थे। हुएन-सांग की गणना के अनुसार उस समय १,००० विहारों में लगभग ६५,००० भिक्षु थे, जिनमें सबसे अधिक मालव, वलभी, तथा सिंध एवं गंगा के निचले भागों के आस-पास के प्रदेशों में थे। इत्सिंग लिखता है कि वात्सीपुत्रीयों की सम्मितीय शाखा अन्य सब शाखाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण थी और उसकी ख्याति कई अन्य मतों की अपेक्षा भी अधिक बढ़ गई थी। सम्मितीयों का प्रधान केंद्र मथुरा में था और दूसरा केंद्र गंगा नदी के मुहाने के आस-पास के क्षेत्र में था। तारानाथ ने पालों के समय में (नवीं-दसवीं शताब्दी) छः संप्रदायों के होने का समर्थन किया है, जिनमें एक वात्सीपुत्रीयों का था।

सम्मितीयों का मत कई सिद्धांतों के संबंध में अन्य संप्रदायवालों से भिन्न था, परंतु मतभेद का मूल विषय उनका आत्म-सिद्धांत पुद्गलवाद (पुग्गल) था, जिसके कारण उन्हें प्रायः पुद्गलवादी कहा जाता था।

तिब्बती इतिहासकार बुस्तन ने लिखा है कि सम्मितीय लोग अपने संप्रदाय का संस्थापक बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य, अवंती के महाकच्चायन को बतलाते थे। उनके वस्त्र थेरवादियों के सदृश होते थे, जो अधिकतर अवंती में रहते थे। अतः यह असंभव नहीं है कि सम्मितीय, जिन्हें आवंतक भी कहते थे, थेरवादियों के साथ अवंती में रहते रहे हों। हुएन-सांग और इत्सिग के विवरणों से भी सम्मितीयों के अवन्ती में रहने की पुष्टि होती है।

सम्मितीय साहित्य

सम्मितीयों के त्रिपिटक के संबंध में बहुत कम जानकारी प्राप्त हुई है। हुएन-सांग लिखता है कि वह अपने साथ इस मत के सोलह ग्रंथ ले गया था। इसमें संदेह नहीं कि उनका एक अपना विनयपिटक था, जिसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है। नंजियो की सूची में सम्मितीय-निकाय-शास्त्र नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख है, जिसका विश्वभारती विश्वविद्यालय के श्री आर० वेंकटरमन ने हाल ही में महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया है।

पुद्गलवाद

सर्वास्तिवादियों की भाँति सम्मितीयों का भी थेरवादियों तथा अन्य मतवालों से कई सिद्धांतों पर मतभेद था। कथावत्थु में इन मतभेदों का विवेचन किया गया है

और भव्य, वसुमित्र एवं विनीतदेव द्वारा लिखित संप्रदाय-ग्रंथों में भी उनका उल्लेख है।[1] सम्मितीयों के पुद्गलवाद से अन्य संप्रदायों के आचार्यों को बहुत बड़ा धक्का लगा, क्योंकि वे इसे बुद्ध के अनात्म-सिद्धांत के विरुद्ध होने के कारण अ-बौद्धवत् (सौगतं मन्ये) मानते थे। कथावत्थु के रचयिता वसुबंधु तथा शांतरक्षित-जैसे विद्वानों ने इस मत की कठोर आलोचना की। आत्मा और उसके पुनर्जन्म के संबंध में सम्मितीय-वात्सीपुत्रीयों के ठीक-ठीक विचार क्या थे, इसका पता हमें उक्त आलोचनाओं की गवषेणा से ही लग सकता है, परंतु सम्मितीयों के विचारों के संबंध में आलोचकों मे बहुत-कुछ मतैक्य होने के कारण उनके आत्मा संबंधी विचारों का अनुमान करना संभव है, और श्री वेंकटरमण के सम्मितीय-निकाय-शास्त्र के प्रकाशन से हमारा कार्य सरल हो गया है। यहाँ हम केवल उनके मूल सिद्धांत पुद्गलवाद पर ही विचार करेंगे।

सम्मितीय वात्सीपुत्रीयों का कहना है कि बुद्ध पुद्गल का अस्तित्व मानते थे, जो बौद्धेतर मतों के आत्मा की भाँति नित्य एवं अपरिवर्तनशील तो नहीं है, परंतु जिसका अस्तित्व जीव के स्कंधों के साथ तब तक बना रहता है जब तक वह निर्वाण नहीं प्राप्त कर लेता, जिसमें कि उसका सर्वदा के लिए विलोप हो जाता है। वे जानबूझ-कर 'आत्मा' के बदले 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग करते थे, जिससे बुद्ध के तीन मूल सिद्धांतों (अनात्म, अनित्य, दुक्ख) में उक्त अनात्म के कारण उससे कोई भ्रम न उत्पन्न हो। सबसे पहले इस मत की आलोचना 'कथावत्थु' के संकलयिता मोग्गलिपुत्र तिस्स ने की, उसके बाद अभिधर्मकोश के रचयिता वसुबंधु तथा उसके व्याख्याकार यशोमित्र ने। शांतरक्षित ने भी अपने 'तत्त्वसंग्रह' में पुद्गलवाद की तीव्र आलोचना की, और उनके बाद व्याख्याकार कमलशील ने उनका अनुसरण किया। परंतु सम्मितीय-निकाय-शास्त्र ने अल्पज्ञ भिक्षुओं की कुछ भ्रांत धारणाओं के साथ-साथ बौद्धेतर मतों का भी खंडन करके पुग्दलवादियों के मत को ठीक बतलाया है।

यहाँ हम उपर्युक्त आलोचकों द्वारा की गई पुद्गलवाद की तीव्र आलोचनाओं को न देकर केवल उस सिद्धांत को ही, उन्हीं के द्वारा व्यक्त रूप में, प्रस्तुत करेंगे।

कथावत्थु तथा अन्य ग्रंथों में सम्मितीयों का मत इस प्रकार दिया गया है—

पुद्गलवादियों के मत का आधार बुद्ध के ये वचन हैं —(१) "एक वह 'पुद्गल' है जो अपने ही स्वार्थ के लिए परिश्रम करता है" (अत्थि पुग्गलो अत्थिताय पटिपन्नो);

१. 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', २।

और "एक वह 'पुदगल' है जो पुनःजन्म लेता है बहुजन के हित और सुख के लिए, संसार के जीवों पर करुणा करने के लिए" (एक पुग्गलो लोके उपज्जयानो उपज्जति बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय, इत्यादि)। बुद्ध के इस प्रकार के वचनों का आश्रय लेकर, सम्मितीय लोग कहते है कि उपर्युक्त वाक्यों में कहा गया 'पुग्गल' (पुद्गल) कोई भावात्मक वस्तु है; वह न मृगमरीचिका है और न कपोलकल्पना। नव 'निब्बान' की भाँति कोई 'अ-संस्कृत' वस्तु है और न भौतिक तत्त्वों (रूप, वेदना इत्यादि) की भाँति 'संस्कृत'। 'पुग्गल' कोई नित्य एवं सर्वव्यापक सत्ता भी नहीं है; सारांश यह कि वह 'परमार्थतः' सत्य नहीं है। एक ओर तो वह जीव के स्कंधों से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, और इस कारण 'पुग्गल' और स्कंधों के बीच आधार-आधेय जैसा किसी प्रकार का संबंध स्थापित करना संभव नहीं है। दूसरी ओर, यद्यपि पुग्गल में स्कंधों के सभी गुण और लक्षण वर्तमान रहते हैं तथापि वह न तो उनकी भाँति कारण और प्रत्यय से उत्पन्न (सहेतु, सपच्चय) होता और न 'निब्बान' की भाँति कारण और प्रत्यय से अनुत्पन्न (अहेतु, अपच्चय)। वह न 'संस्कृत' है और न 'अ-संस्कृत'। यद्यपि वह स्कंधों से अभिन्न नहीं है तथापि उसमें स्कंधयुक्त (संस्कृत) जीवों की कुछ दशाएँ (जैसे सुख, दुःख) पाई जाती है। उसमें अ-संस्कृत पदार्थ के भी धर्म पाए जाते है, क्योंकि वह जन्म, जरा और मरण के अधीन नहीं है। उसका तभी अंत होता है जब जीव को पूर्ण मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त हो जाती है।

अभिधर्म-कोश और उसकी व्याख्या में 'पुग्गल' और स्कंधों के संबंध की व्याख्या अग्नि और ईधन का दृष्टांत देकर की गई है। अग्नि तभी तक रहती है जब तक ईधन रहता है, उसी प्रकार 'पुग्गल' तभी तक रहता है जब तक स्कंध रहते हैं। परंतु अग्नि और ईंधन में अंतर यह है कि अग्नि में वस्तुओं को जलाने और प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति है, किंतु अकेले ईधन में यह शक्ति नहीं है। अग्नि और ईधन दोनों सहवर्ती हैं और पहला दूसरे का आधार है। दोनों एक दूसरे से नितांत भिन्न नहीं हैं, क्योंकि ईधन अग्नि-तत्त्व (तेजस्) से सर्वथा शून्य नहीं है। यही संबंध जीव के पुग्गल का उसके स्कंधों के साथ है। सम्मितीय 'भारहार सूत्र' का उद्धरण देकर कहते हैं कि इसमें 'भार' से तात्पर्य स्कंधों से है और उनका वाहक ('हार') 'पुग्गल' है। इस भार का मोचन इच्छाओं, रागों और सांसारिक सुखों के त्याग से होता है। इस 'पुग्गल' का नाम होता है, गोत्र होता है, और वह सुख-दुःख का भोक्ता भी है[१]।

१. संयुत्त ३, पृ० २५--कतमो भिक्खवे भारो ?

'भारहारसूत्र' पर विचार करते हुए शांतरक्षित और कमलशील ने कहा है कि बुद्ध ने 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग केवल एक 'प्रज्ञप्ति' के रूप में किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि वह असत् वा अस्तित्वहीन है, क्योंकि किसी ने उसके स्व-रूप वा स्व-भाव के विषय में प्रश्न नहीं किया। उनके ध्यान में पाँच स्कंधों की समष्टि थी और समष्टि रूप में पाँचों स्कंधों को ही उन्होंने 'पुग्गल' कहा था। वह जन्म-मरणहीन है, अतः उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य भी नहीं है। वह न नित्य है और न अनित्य। वह वस्तुतः अनिर्वचनीय एवं अनवधारणीय है। वह स्कंधों में अंतर्भूत नहीं है, परंतु वह तभी प्रकट होता है जब सब स्कंध वर्तमान हों।

कथावत्थु में कहा गया है कि सम्मितीयों के मतानुसार उनका 'पुग्गल' रूपधारी (रूपी) मनुष्यों और देवों के लोक में भौतिक रूप में रहता है और भौतिक शरीर से हीन (अरूपी) उच्च कोटि के देवों के लोक में वह अभौतिक रूप में (अरूपी) रहता है। उनका कथन है कि पुद्गल (पुग्गल) प्राणियों के शरीर में 'सत्त्व' वा 'जीव' का स्थानी है, परंतु साथ ही वह शरीर (काय) से न अभिन्न है और न भिन्न, क्योंकि बुद्ध शरीर और जीव में अभेद और भेद दोनों नहीं मानते थे (तं जीवं तं शरीरं अञ्ञं जीवं अञ्ञं शरीरं)। सम्मितीय लोग बुद्ध के एक अन्य वचन को भी अपना आधार मानते हैं, जिसे वे अपने प्रवचनों में प्रायः कहा करते थे। वह यह है कि 'स्मृत्युपस्थान का अभ्यास

पंचुपादानक्खन्धा तिस्स वचनीयम्।
कतमे पंच? सेय्यथीदं रूपुपादानावखंधो,
वेदनुपादानाक्खंधो सञ्ञुपादानावखंधो, संखारुपादानावखंधो,
विञ्ञानुपादानाक्खंधो। अयं बुच्चति भिक्खवेभारो
कतमो च भिक्खवे भारहारो?
पुग्गलो तिस्स वचनीयम्। योऽयं
आयस्मा एवंनामो एवं गोत्तो। अयं बुच्चति भिक्खवे भारहारो।

तत्त्वसंग्रह में कमलशील ने निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

भारहारः कतमः पुद्गलः?
योऽसवायुष्मन्नेवंनामा
एवंजातिः एवंगोत्रो एवमाहारः
एवं सुखदुःखं प्रतिसंवेदी
एवं दीर्घायुरित्यादि।

करते समय भिक्षु को सदा यह ज्ञान रहता है कि उसके शरीर के भीतर क्या हो रहा है (सो काये कायानुपस्सी विहरति)।

उपर्युक्त वचन में बुद्ध ने 'सो' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'वह' अर्थात् 'पुद्गल', जो अपने शरीर की धातुओं और उसके अंतर्गत होनेवाली क्रियाओं को देखता रहता है। यह 'सो' केवल प्रज्ञप्तिमात्र नहीं, प्रत्युत उससे यहाँ तात्पर्य वस्तुतः 'पुग्गल' से है।

इसके पश्चात् सम्मितीय पुनर्जन्म की समस्या पर विचार करते है। वे यह मानते हैं कि 'पुग्गल' एक योनि से दूसरी योनि में प्रवेश करता है, परंतु उन दोनों योनियों के 'पुग्गल' न एक है, न एक दूसरे से भिन्न। इसका कारण वे यह देते हैं कि जो मनुष्य सोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह इस मर्त्य लोक में अथवा स्वर्ग में होनेवाले सभी भविष्य जन्मों में सोतापन्न बना रहता है। सोतापन्न मनुष्य सोतापन्न देव के रूप में पुनः जन्म ले सकता है, अर्थात् 'सोतापन्नत्व' में परिवर्तन नहीं होता, यद्यपि उसके शरीर के स्कंध मनुष्य के स्कंधों से देव के स्कंधों के रूप में परिवर्तित हो जाते है। 'सोतापन्नत्व' का एक योनि से दूसरी योनि में चले जाना संभव ही नहीं है, जब तक कि 'पुग्गल' का अस्तित्व एवं स्थायित्व स्वीकार न कर लिया जाय।

उपर्युक्त कथन के समर्थन में सम्मितीय बुद्ध के निम्नलिखित वचनों का आश्रय लेते हैं—

(१) (संत) पुरुषों के चार जोड़े अथवा आठ (प्रकार के) पुग्गल होते हैं (सन्ति-चत्तारो पुरिसयुगा अट्ठ पुरिस पुग्गल)। यह वचन बुद्ध के संघ के संबंध में कहा गया है जिसमें ऐसे शिष्य वा भिक्षु होते हैं जो साधना की प्रारंभिक अवस्था (मग्ग) और फलों को प्राप्त करते हैं। ऐसे 'मग्ग' या फल के चार जोड़े होते हैं, अर्थात् ऐसे मग्ग या फल कुल आठ हैं। इसमें 'पुग्गल' शब्द को सम्मितीय लोग बहुत महत्त्व देते हैं।

(२) 'सोतापन्न' को अपने दुःखों का अंत करने के लिए (निर्वाण प्राप्त करने के लिए) अधिक से अधिक सात बार पुनः जन्म लेना पड़ता है, यह बुद्ध ने अपने इस वचन में स्पष्ट किया है—"सो सत्तक्खत्तुपरमो संधावितवान पुग्गलो दुक्खस्सन्तकरो होति।" इस कथन में सम्मितीय लोग "संधावितवान पुग्गलो" (दूसरी योनियों में जन्म लेनेवाला पुग्गल) पर जोर देते हैं।

(३) जीव का संसरण-चक्र (संसार) अनादि है। तृष्णापाश में बंधे हुए जीवों का आरंभ अज्ञात है। (अनमतग्गो अयं संसारो पुब्बा कोटी न पञ्ञायति··सत्तानं

ड़्-संयोजनानं)। सम्मितीय इसमें 'संसारो' और 'सत्त्व' शब्दों को लेकर उनसे तात्पर्य निकालते हैं कि बुद्ध जीव का पुनर्जन्म मानते थे।

(४) बुद्ध प्रायः उच्च शक्तियों अथवा ज्ञान (अभिज्ञा) की प्राप्ति के संबंध में ी किया करते थे। उनमें से एक पूर्व जन्म की बातें स्मरण रखने की शक्ति (पुब्बे ासञाण) भी थी। वे स्वयं भी अपने पूर्व जन्म की बातें बताया करते थे और इस ार की बातें कहा करते थे कि 'जब मैं सुनेत्र था', इत्यादि। इससे भी सम्मितीयों के विचार की पुष्टि होती है कि एक ऐसा तत्त्व (पुग्गल) अवश्य है जो कई जन्मों तक ा रहता है और जो पूर्व जन्मों की बातें स्मरण रख सकता है। स्कंधों के लिए पूर्व म की बातें स्मरण रखना संभव नहीं है, क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता ता है और मृत्यु के पश्चात्, एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करते समय तो में अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है। सम्मितीयों का कथन है कि 'स्मृति' को स्वीकार ने का अर्थ है 'पुग्गल' के अस्तित्व को भी स्वीकार करना।

सम्मितीयों के कथनानुसार 'पुग्गल' चेतन है, परंतु वह चित्त वा 'विज्ञान' जो जीव के पंचस्कंधों में से एक है, भिन्न है। चित्त वा विज्ञान की भाँति वह गक भी नहीं है, परंतु प्रत्येक क्षणिक विचार वा ज्ञान में उसके अस्तित्व का अनुभव या जा सकता है। नेत्र अपना कार्य कर रहे हों या नहीं, परंतु पुग्गल 'द्रष्टा' रूप में अपना कार्य करता रहता है, क्योंकि बुद्ध ने कहा था कि "मैं अपने दिव्य ों से जीवों का आविर्भाव और तिरोभाव देखता हूँ।" इसमें 'मै' का प्रयोग जिसके ए हुआ है वही सम्मितीयों का 'पुग्गल' है।

इसके पश्चात् 'पुग्गल' के सार्थक कर्म करने के सामर्थ्य (अर्थक्रियाकारित्व) के ाय में विचार किया गया है। बुद्ध कहते थे कि यह संसार किसी ईश्वर का रचा हुआ श्वरनिर्माण) नहीं है। उनके इस कथन के अनुरूप ही सम्मितीय लोग 'पुग्गल' स्रष्टा वा कर्ता नहीं मानना चाहते, परंतु वे कहते हैं कि माता, पिता वा गुरु का गल' एक प्रकार से मनुष्य का स्रष्टा वा कर्ता (कत्ता, कारेता) होता है। 'पुग्गल' कोई स्वतंत्र कार्य वा मानसिक धर्म (मनन, चिंतन, अनुभव आदि) नहीं होता। कर्म-फल का स्वतंत्र भोक्ता भी नहीं है। यद्यपि यह कहा जाता है कि पुग्गल को : वा दुःख का अनुभव होता है, परंतु 'पुग्गल' और 'फल' दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं, ोंकि उन विभिन्न तत्त्वों के समुदाय को, जिनसे यह शरीर बना है, सुख-दुःख का भव नहीं हो सकता। यदि इस शरीर के भीतर कोई कर्ता वा भोक्ता (कारक, क) हो तो वह कर्म और वेदना से भिन्न नहीं हो सकता। कर्ता कर्म से

न भिन्न है, न अभिन्न। सम्मितीयों का यह कथन विरोधियों के इस तर्क के प्रतिवाद के रूप में था कि शाश्वत आत्मा की भाँति अर्ध-शाश्वत 'पुग्गल' में कोई कर्तृत्व वा कारित्व नहीं हो सकता। कर्तृत्व (अर्थक्रियाकारित्व) तो केवल अनित्य और क्षणिक आत्मा (या उसे जो भी नाम दिया जाय) में ही हो सकता है।

शांतरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह (३३६–३४९) में लिखा है वात्सीपुत्रीयों का 'पुग्गल' स्कंधों से न भिन्न है, न अभिन्न। कमलशील ने अपनी व्याख्या में कहा है कि वात्सीपुत्रीयों का 'पुद्गल' कर्मों का कर्ता तथा फलों का भोक्ता है। पुनर्जन्म में वह स्कंधों के एक समूह को छोड़कर दूसरे समूह को ग्रहण करता है। वह स्कंधों से पृथक् नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से उसे नित्य मानना पड़ेगा। वह स्कंधों से अभिन्न भी नहीं है (स्वयं स्कंध भी नहीं है), क्योंकि उस अवस्था में उसे एक नहीं, स्कंधों की भाँति अनेक मानना पड़ेगा। अतएव वह अनिर्वचनीय है। कमलशील की इस व्याख्या का प्रज्ञाकरमति ने अपनी बोधिचर्यावतार की व्याख्या में समर्थन किया है।

इस प्रसंग में कमलशील ने न्यायवार्तिक (३,१,१) में की गई उद्योतकर की इस आलोचना पर भी विचार किया है कि यदि आत्मा स्कंधों से अभिन्न नहीं है तो उसकी पृथक् सत्ता माननी ही पड़ेगी। परंतु चंद्रकीर्ति ने सम्मितीयों के पुद्गलवाद को पूर्णतया निराधार एवं त्याज्य नहीं माना है,[१] प्रत्युत उन्होंने यह कहा है कि बुद्ध ने जिस प्रकार पीछे आदर्शवादी सिद्धांतों (विज्ञानवाद) का उपदेश किया उसी प्रकार उन्होंने पुद्गलवाद को आवश्यक समझकर उसका उपदेश किया।

'सम्मितीय निकाय शास्त्र' (वेंकटरमण का अनुवाद) में आत्मा के संबंध में सभी संभव मतों का उल्लेख कर उनपर विचार किया गया है। उन मतों का संकलन इस प्रकार है (पृ० २१)—

(१) आत्मा सत् नहीं है।
(२) आत्मा अव्याकृत है।
(३) पंचस्कंध और आत्मा एक ही है।
(४) पंचस्कंध और आत्मा भिन्न-भिन्न है।
(५) आत्मा शाश्वत है।
(६) आत्मा अशाश्वत है।
(७) आत्मा सत् है, यद्यपि नित्य नहीं है।

१. माध्यमिक वृत्ति, पृ० २७६; पृ० १४८ तथा १९२ भी द्रष्टव्य हैं।

इनमें से अंतिम मत सम्मितीयों का है। इस ग्रंथ में अ-सम्मितीय मतों का संक्षेप में बिना किसी टीका-टिप्पणी के उल्लेख कर दिया गया है; परंतु सम्मितीय मत का पूर्ण रूप से विवेचन और प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) पुग्गल पंचस्कंधों से उत्पन्न (निर्मित वा संगठित) है और वह न नित्य है, न अनित्य।

(२) बुद्ध ने आत्मा का अस्वीकार वा अनात्म (अनत्त) सिद्धांत का प्रतिपादन इन भ्रांत मतों के निराकरण के लिए किया था कि आत्मा का आधार मानसिक 'संस्कार' है, अथवा आत्मा शरीर वा पंचस्कंधों से अभिन्न है (शरीर वा पंचस्कंध ही आत्मा हैं)।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को 'मैं' और 'मेरा' (यह 'मैं' हूँ, यह 'मेरा' है) की भावना का त्याग करने का उपदेश दिया, क्योंकि उनके मतानुसार यह भावना एक मिथ्या आत्मा (अहं) की धारणा पर आश्रित है, जिसके प्रति सांसारिक मनुष्यों का दृढ़ राग होता है, परंतु उन्होंने उस आत्मा (पुग्गल) का निर्देश नहीं किया जो वस्तुतः राग का विषय हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त, बुद्ध ने अपने वचनों में 'असत्' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया था। जैसे, उनका कथन था कि कुछ पदार्थ पूर्णतः (निरपेक्ष रूप से) असत् हैं, जैसे आकाश-कुसुम और शश-शृंग; किंतु कुछ पदार्थ परमार्थतः असत् किंतु व्यवहारतः (सापेक्ष रूप से) सत् हैं, जैसे दीर्घ-लघु, बीज-वृक्ष। अतएव उनके, आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने का यह अर्थ नहीं कि उन्होंने 'पुग्गल' के अस्तित्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया। पुग्गल को जो कभी-कभी अनिर्वचनीय कहा गया है उसका कारण यह है कि केवल जिन पंचस्कंधों का ही ज्ञान साधारण कोटि के लोगों को हो पाता है उनसे पुग्गल को न भिन्न कहा जा सकता और न अभिन्न। इसके अतिरिक्त यदि पुद्गल को नित्य वा अनित्य, अयवा 'संस्कृत' वा 'असंस्कृत' माना जाय तो वह सत्-वाद और असत्-वाद के दो अति कोटि के मतों में से किसी एक का स्वीकार करना होगा, जिन्हें बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया था। अतएव सापेक्ष रूप से पुग्गल की सत्ता बुद्ध को स्वीकार थी।

सम्मितीयों का तर्क है कि यदि पुग्गल को पूर्ण रूप से असत् माना जाय तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि जीव-हिंसा असत् है, हिंसा करनेवाला असत् है, साधना और सिद्धि असत् है और साधक वा भिक्षु भी असत् है; फिर तो बुद्ध भी असत्, उनके उपदेश भी असत्।

इस ग्रंथ में 'भारहार सूत्र' (दे० पूर्व पृ० २२४) का भी उल्लेख और विवेचन किया गया है और उसमें आए हुए 'पुग्गल' शब्द पर जोर दिया गया है। इस सूत्र के आधार पर सम्मितीयों का कथन है कि बुद्ध ने 'भार' और उसके वाहक (हार) अर्थात् उस भार को वहन करनेवाले व्यक्ति (पुग्गल) में भेद किया है। इस सूत्र से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'हार' अर्थात् पुग्गल, 'भार' अर्थात् स्कंधों से अभिन्न नहीं है, प्रत्युत पुग्गल और स्कंध दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। साथ ही, 'भार' और 'हार' दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते; दोनों अन्योन्याश्रित हैं, इस कारण 'पुग्गल' को स्कंधों से भिन्न वा पृथक् नहीं किया जा सकता।

आगे इस ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि ऐसी बात नहीं है कि राग, तृष्णा आदि दोषों को ग्रहण करना वा उनसे अपने को मुक्त करना अकेले 'पुग्गल' का ही काम है, स्कंधों का नहीं। परंतु इसके साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'पुग्गल' और 'स्कंध' एक दूसरे से न भिन्न हैं और न अभिन्न, क्योंकि बुद्ध जीव और शरीर में न भेद मानते थे और न अभेद (दे० पूर्व पृ० २२५)।

इसके पश्चात् 'पुद्‌गल' पर तीन पक्षों से विचार किया गया है ––

(१) पुद्‌गल अपने आश्रय के नाम से अभिहित होता है (आश्रयप्रज्ञप्त पुद्‌गल), अर्थात् कभी-कभी पुद्‌गल को उसके आश्रय वा आलंबन के आधार पर नाम वा विशेषण दिया जाता है, जैसे अग्नि को उसके ईंधन का नाम वा विशेषण देकर पुकारा जाता है––वन की अग्नि (दावाग्नि), कोयले की अग्नि, इत्यादि। जीवधारियों में उनके 'संस्कार' ईंधन हैं और उनका 'पुद्‌गल' अग्नि। उस पुद्‌गल का नाम और गुण उसके संस्कारों के अनुरूप होता है। जीव जिस शरीर को धारण करता है उसी के अनुसार उसका नाम मनुष्य, नाग वा देव होता है। पुद्‌गल भौतिक शरीर (रूप) को धारण करता है, परंतु पुद्‌गल और रूप अन्योन्याश्रित एवं अविच्छेद्य होने के कारण एक ही समय में, एक साथ ही आते और जाते हैं। पता नहीं क्यों, चंद्रकीर्ति ने 'माध्यमिक वृत्ति' में लिखा है (पृ० १९२) कि सम्मितीयों का मत है कि स्कंधों को धारण करनेवाला (पुद्‌गल) स्कंधों को धारण करने के लिए उनसे पहले ही प्रकट होता है।

(२) संक्रमण-कालीन पुद्‌गल (संक्रमणप्रज्ञप्त पुद्‌गल), अर्थात् जब पुद्‌गल एक योनि से दूसरी योनि में प्रवेश करता है। जिस मनुष्य का चित्त वा विज्ञान अपने शील एवं समाधि के प्रभाव को अपने साथ ले जाता है, उसका पुनर्जन्म उच्चतर लोक में होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पंचस्कंध विघटित होकर पुद्‌गल के साथ उत्तम लोक को जाते हैं। उसके पुण्यकर्म तथा उसकी आध्यात्मिक सिद्धियाँ उसकी

निधि हैं जो दूसरे जन्म में उसके साथ जाती हैं, अतः उसका पुद्गल अकेला नहीं जाता। यदि पुद्गल स्कंधों से भिन्न हो तो अगले जन्मों में उसके टिकने के लिए कोई आधार नहीं मिलेगा। इसी प्रकार, यदि पुद्गल सत्य और शाश्वत अथवा मिथ्या और क्षणभंगुर हो तो वह एक योनि से दूसरी योनि में संक्रमण के समय अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सकता।

पुद्गल के संक्रमण की बात बुद्ध के अनेक वचनों में कही गई है। जैसे, उन्होंने कहा है कि 'मनुष्य उत्तम कर्म करता है तो उसके फलस्वरूप परलोक में सुख भोगता है', 'जो अपनी इंद्रियों पर संयम रखता है वह दूसरे जन्म में सुख पाता है', 'मरने-वाला फिर जन्म लेता है', इत्यादि।

बुद्ध प्रायः स्वयं अपने पूर्व जन्मों की चर्चा किया करते थे, जिनमें उन्होंने कई पारमिताओं में सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने पहले ही अजित से कह दिया था कि मैं भविष्य में मैत्रेय बुद्ध होऊँगा। कुछ अवसरों पर उन्होंने कृपण धनपतियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि कृपण व्यक्ति अपार धन संचित कर लेता है परंतु जब मृत्यु निकट आती है तब उसे सब कुछ यहीं छोड़कर अकेले, रिक्तहस्त जाना पड़ता है। बुद्ध के इन वचनों से स्पष्ट है कि अगले जन्मों की चर्चा करते समय उनके मन में पुद्गल ही था, जो अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के परिणामस्वरूप संचित संस्कारों के साथ एक योनि से दूसरी योनियों में संक्रमण करता है।

(३) निर्वाण की अवस्था में पुद्गल (निरोधप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् जब पुद्गल का संसरण निरुद्ध हो जाता है और फिर उसका जन्म नहीं होता। ऐसा तब होता है जब वह पूर्ण, अर्हत् हो जाता है और अपने को संपूर्ण दोषों से मुक्त (क्षीणास्रव) करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है, जिसके बाद पुनर्जन्म होता ही नहीं (नत्थि दानि पुनब्भवो)

इसी ग्रंथ में बुद्ध के एक दूसरे कथन पर विचार किया गया है, जिसमें उन्होंने कहा है कि यह भवचक्र या संसारचक्र अनादि है (अनमतग्गोऽयं संसारो; दे० पूर्व पृ० २२६), और उस कथन से यह तात्पर्य निकाला गया है कि आदि तो उसका अवश्य है, किंतु अज्ञानियों के लिए वह अगम्य है। इसी प्रकार आत्मा के अनस्तित्व के विषय में भी बुद्ध के कथन का तात्पर्य यह है कि अपूर्ण वा अनर्हत् पुरुषों को पुद्गल के अस्तित्व या स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। ग्रंथकर्ता ने यह तर्क उपस्थित किया है कि यदि कोई पदार्थ साधारण बुद्धिवाले मनुष्यों की ज्ञान-सीमा के बाहर है तो इसी कारण से उस पदार्थ के सत् वा असत् होने के संबंध में संदेह नहीं करना चाहिए। उससे केवल अपूर्ण वा अल्पज्ञ मनुष्य का ज्ञानाभाव ही सूचित होता है, सत् वा असत् पदार्थ का अस्तित्व

वा अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यह सत्य है कि रूप-लोक के जीवों के लिए अरूप-लोक अज्ञेय है, किंतु उस अज्ञेयता के कारण यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं कहा जा सकता कि अरूप-लोक का अस्तित्व ही नही है। इसी प्रकार पुद्गल भी अज्ञानियों के लिए अज्ञेय है, किंतु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि पुद्गल है ही नही। धूल का एक सूक्ष्म कण, बाल का सिरा, धरती के भीतर की खान, समुद्र के उस पार का तट, पानी में घोला हुआ मुट्ठी भर नमक, भीत के पीछे छिपा हुआ रत्न, प्रेतादि का शरीर, यहाँ तक कि आँख की पलकें भी जो आँखों के इतने निकट हैं, इन साधारण चर्म-चक्षुओं से देखी नहीं जा सकतीं, किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। इन वस्तुओं को वे ही देख सकते है जिनके दिव्य चक्षु हों। इसी प्रकार इस भव-चक्र के आदि का ज्ञान अज्ञानियों के लिए संभव नहीं है, कितु सम्यक् संबुद्ध, सर्वज्ञ, बुद्ध के लिए वह ज्ञेय है। बुद्ध ने जो यह कहा कि यह संसार अनादि है, वह मुख्यतः इस उद्देश्य से कि उनके शिष्य शाश्वतवाद और नास्तिवाद में विश्वास न करने लगें तथा उनके मन में 'मै था, मैं हूँ, मैं होऊँगा'—इस प्रकार की भावना न घर कर ले। यदि संसार का आदि आकाश-कुसुम वा शश-शृंग की भाँति अस्तित्वहीन होता तो बुद्ध यह न कहते कि संसार अनादि है, क्योंकि कोई यह नहीं कहता कि आकाश-कुसुम वा शश-शृंग नही हैं। गोलाकार पदार्थ का कहीं आदि नहीं होता, किंतु कोई यह नहीं कहता कि ऐसा पदार्थ है ही नहीं। यही बात संसार के विषय में भी समझनी चाहिए। यदि इस संसार का कोई आदि या अंत न माना जाय तो इसमें और निर्वाण में कोई भेद नहीं रह जायगा, क्योंकि निर्वाण भी अनादि और अनंत है। इन तर्को के द्वारा सम्मितीय-निकाय-शास्त्र के प्रणेता ने यह सिद्ध किया है कि बुद्ध ने कई विषयों के संबंध में अपने गहन विचारों की पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं की थी; उन्हीं विषयों में से एक पुद्गल का अस्तित्व भी है। अतः इसके विषय में उनके मौन का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वे पुद्गल को नही मानते थे।

अध्याय १४

बौद्ध धर्म और चीनी परिव्राजक

भारत में ई० ४०० से ७०० तक के बौद्ध धर्म के इतिहास के लिए फाहियान, हुएन-सांग और इत्सिंग द्वारा लिखे गए यात्रा-विवरणों से अधिक अच्छे विवरण प्राप्त नहीं होते। ये तीनों चीनी यात्री ईसा की पाँचवी और सातवी शती में भारत आए थे। फाहियान ने ई० ३९९ से ४१४ तक भारत और लंका में यात्रा की थी। हुएन-सांग ६२९ में चीन से चला और संपूर्ण भारत का भ्रमण कर, देश के विभिन्न भागों में बौद्ध धर्म की स्थिति के संबंध में विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त करके ६४५ ई० में अपने देश लौट गया। ऐसा जान पड़ता है कि हुएन-सांग ने फाहियान का यात्रा-विवरण देखा था, क्योंकि कई बातों में उसके वर्णन प्रायः ज्यों के त्यों फाहियान के ही वर्णनों से मिलते है। इत्सिंग भारत में ६७१ से ६९५ ई० तक रहा, परंतु उसका ध्यान मुख्यतः बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पालन किए जाने वाले विनय के नियमों तक ही सीमित रहा। कुछ सामान्य बातें उसने बौद्ध धर्म के भौगोलिक विभाजन के संबंध में लिखी हैं। मध्यकालीन धार्मिक बुद्धि वाले पुरुष होने के कारण ये यात्री उन दिनों बौद्ध लोगों में प्रचलित जनकथाओं और विश्वासों को बहुत महत्त्व देते थे, उन्हें मनगढ़ंत वा अविश्वसनीय समझकर उनकी उपेक्षा नही करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी के संबंध में उनके अनुमान सदा ठीक नहीं पाए जाते, परंतु जो कुछ भी उन्होंने लिखा है उससे वे जिन स्थानों में गए थे उनकी स्थिति का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

फाहियान की दृष्टि हुएन-सांग के जैसी आलोचनात्मक न थी, फिर भी उसने ई० पाँचवीं शती के प्रारंभ में भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति का जो विवरण दिया है वह सामान्य होने पर भी रोचक है। उत्तर प्रदेश के जिन स्थानों में फाहियान गया उनके संबंध में ज्ञात होता है कि पंजाब से वह यमुना के किनारे-किनारे दक्षिण-पूर्व की ओर चलता हुआ मथुरा पहुँचा। भारत के मध्यदेश नामक भाग के लोगों के संबंध में पहले वह अपनी सामान्य धारणा प्रस्तुत करता है। जैसे, यहाँ का जलवायु समशीतोष्ण है, बस्ती घनी है, लोग सुखी हैं और अन्न का उत्पादन करनेवाले कृषकों को छोड़कर अन्य लोगों को राजा को कोई कर नहीं देना पड़ता। राज्य के अधिकारियों

को पर्याप्त वेतन मिलता है। अपराधों के कठोर दंड नहीं दिए जाते। लोग जीव-हिंसा नहीं करते, न लहसुन-प्याज वा मदिरा का सेवन करते हैं। केवल चांडाल लोग मछली और मांस बेचते हैं।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजाओं और सेट्ठियों ने भिक्षुओं के लिए बहुत से विहार बनवा दिए थे और धातु के पत्रों पर दानपत्र खुदवाकर उनके नाम भूमिदान भी किया था। भिक्षु लोग उन विहारों में रहकर सूत्रों का पाठ, ध्यान और धर्म के कार्य करते हैं। आगंतुक भिक्षुओं के प्रति वे विनय के नियमों के अनुसार उचित शिष्टता का व्यवहार करते और उन्हें विहार में ठहरने के लिए सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

राजा लोग भिक्षुओं का उचित सम्मान करते हैं। जब वे किसी भिक्षु के यहाँ जाते हैं तो अपना मुकुट उतार देते हैं और ऊँचे आसन पर न बैठकर धरती पर बिछे हुए कालीन पर बैठते हैं। वे स्वयं अपने हाथों से भिक्षुओं को भोजन देते हैं।

लोग सारिपुत्त, मौद्गलायन और आनंद की स्मृति में तथा अभिधर्म, विनय एवं सूत्रों का पाठ करनेवालों के सम्मानार्थ स्तूपों का निर्माण कराते हैं। वर्षावास के अनंतर गृहस्थ लोग भिक्षुओं को भोजन कराने और दान देने के लिए एक दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। सेट्ठि और ब्राह्मण लोग वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं का दान करते हैं। भिक्षु-गण धर्म का उपदेश देते और स्तूपों की पूजा करते हैं। भिक्षुणियाँ आनंद के स्तूप की पूजा करती हैं और नए साधकगण राहुल के स्तूप की पूजा करते हैं। अभिधर्म और विनय के शिक्षार्थी अपनी भेंटें अभिधर्म और विनय के शिक्षकों को देते हैं और महायान के शिक्षार्थी प्रज्ञापारमिता, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर को।

विनय के नियमों और धार्मिक विधियों का पालन बुद्ध के समय से प्रत्येक पीढ़ी में बराबर एक ही प्रकार से होता आ रहा है।

उस समय बौद्ध धर्म उन्नति पर था। यमुना के दोनों किनारों पर बीस विहार थे जिनमें तीन सहस्र भिक्षु रहते थे।

फाहियान के लगभग दो सौ वर्ष बाद हुएन-सांग मथुरा में आया। उसने यहाँ की जलवायु को उष्ण तथा देश को आर्थिक दृष्टि से संपन्न पाया। उसने लिखा है कि लोग कर्मो के फल में विश्वास करते थे और नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से बहुत उन्नत थे। विहारों की संख्या उसने फाहियान के बराबर ही, अर्थात् बीस, दी है परंतु भिक्षुओं की संख्या उसके अनुमान से दो सहस्र ही थी। उसने कितने ही देव-मंदिरों तथा बौद्धेतर धर्मानुयायियों को देखा। उसने अशोक द्वारा बनवाए हुए तीन स्तूपों तथा सारिपुत्त, मुद्गलपुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, उपालि, आनंद और राहुल के अवशेषों पर निर्मित

स्तूपों को भी देखा। पर्व-दिनों तथा वर्षावास के समय में भिक्षु लोग कई वर्गों में बँट जाते थे और अपने-अपने वर्ग के पूज्य संतों की पूजा करने में वे एक-दूसरे से होड़ करते थे। अभिधर्मिक लोग सारिपुत्त की, समाधिवादी मुद्गलपुत्र की, विनयवादी उपालि की, भिक्षुणियाँ आनंद की, श्रमण लोग राहुल की तथा महायानी विभिन्न बोधिसत्त्वों की पूजा करते थे। दोनों चीनी यात्रियों के वर्णनों में इस विषय में तात्त्विक समानता है, और जिन कारणों से बौद्ध धर्म के अंतर्गत अनेक मतों का विकास हुआ उनमें से एक कारण उक्त प्रकार से किसी संत-विशेष की पूजा में कुछ बौद्ध भिक्षुओं की विशेष अभिरुचि होना भी विदित होता है। यह ध्यान देने की बात है कि सारिपुत्त परंपरा से अभिधर्म पिटक के प्रतिपादक माने जाते हैं, अतः यह सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि अभिधर्मिक लोग सारिपुत्त की पूजा करें। इसी प्रकार मौद्गलायन ने ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त की थी, अतः वे समाधि-साधकों के पूज्य संत थे। उपालि विनयपिटक का पंडित था, अतः विनयवादियों का उसकी पूजा करना उचित ही था। भिक्षुणी-संघ आनंद के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थापित हुआ था, अतएव वह भिक्षुणियों का पूज्य हुआ। राहुल आदर्श श्रमण था, इसलिए वह श्रमणों द्वारा पूजित हुआ, और महायानी लोग मंजुश्री तथा अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वों की पूजा करते थे।

चीनी यात्रियों के इस साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० पाँचवीं से सातवीं शती तक मथुरा महायानियों तथा अन्य सभी बौद्ध मतों के भिक्षुओं का प्रिय आश्रय-स्थान हो गया था,और इसी से हुएन-सांग ने लिखा है कि वहाँ दो सहस्र भिक्षु परिश्रमपूर्वक हीनयान और महायान दोनों मतों का अध्ययन करते थे। हुएन-सांग ने नटभट विहार का उल्लेख किया है, जहाँ उपगुप्त रहते थे, और उस गुफा का भी उल्लेख किया है जिसमें उनके शिष्यों ने लकड़ियाँ एकत्र की थीं (दे० ऊपर, पृ० २०१)।

फाहियान मथुरा से सीधे सांकाश्य गया था, परंतु हुएन-सांग ने लंबा और चक्करदार मार्ग पकड़ा और मथुरा से उत्तर की ओर स्थानेश्वर, स्रुघ्न, मतिपुर, गोविसाण, अहिच्छत्रा, पिलो-शन्-न होते हुए वह सांकाश्य पहुँचा, जो मथुरा से कुछ ही मील दूर है।

उत्तर प्रदेश के बाहर अंबाला जिले के स्थानेश्वर नगर में हुएन-सांग ने देखा कि वहाँ के लोग सुखी और संपन्न हैं और ब्राह्मण धर्म-कर्मों में उनकी रुचि है। वहाँ तीन विहारों में कुछ हीनयानी बौद्ध भी रहते थे। वहाँ के लोग गीता के सिद्धांतों का बड़ा आदर करते थे।

स्थानेश्वर से उत्तर-पूर्व की ओर चलकर हुएन-सांग गंगा के पश्चिम स्रुघ्न में

पहुँचा जिसके उत्तर में ऊँचे-ऊँचे पर्वत थे। यहाँ के लोगों की आर्थिक और धार्मिक स्थिति स्थानेश्वर के लोगों-जैसी ही थी। यहाँ पाँच विहार थे जिनमें एक सहस्र हीनयानी भिक्षु रहते थे। उनमें कुछ भिक्षु तो बड़े विद्वान् एवं हीनयान सिद्धांतों की व्याख्या में कुशल थे और दूसरे स्थानों के भिक्षु उनके पास अपनी शंकाओं के समाधान के लिए आया करते थे। हुएन-सांग ने दिव्यावदान (पृ० ७४) मे विस्तार से वर्णित उस अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार बुद्ध उस स्थान को गए थे और वहाँ उन्होंने एक ब्राह्मण का अभिमान दूर किया था। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् यह देश ब्राह्मण-धर्मावलंबी हो गया। फिर कुछ समय के बाद ही कुछ प्रवीण बौद्ध आचार्य यहाँ बौद्ध धर्म की पुन. स्थापना करने में समर्थ हुए।

स्रुघ्न से हुएन-सांग पूर्व की ओर चला और उस स्थान पर पहुँचा जिसे गंगा का उद्गम (गंगाद्वार) कहते थे। संभवतः यह स्थान हरद्वार था। यहाँ के लोगों का दृढ विश्वास था कि गंगा में मज्जन करने से दिव्य लोकों में जन्म होता है। महान् संत और आचार्य आर्यदेव एक बार वहाँ गए और कुछ लोगों को यह विश्वास करा दिया कि गंगाजल के द्वारा पापी का उद्धार असंभव है। हुएन-सांग जयगुप्त नामक एक सौत्रांतिक आचार्य से शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए यहाँ कुछ समय तक रहा।

यहाँ से गंगा पार कर वह उसके पूर्व की ओर मतिपुर नामक स्थान में पहुँचा जिसकी पहचान कनिंघम ने पश्चिमी रुहेलखंड में स्थित मंडावर से की है। यहाँ उसने उस विहार को देखा जिसमें महान् वैभाषिक आचार्य गुणप्रभ रहते थे। इस स्थान से अनति-दूर वह विहार था जिसमें एक अन्य गंभीर वैभाषिक विद्वान् संघभद्र रहते थे, जो काश्मीरी थे और जो निश्चय ही वहाँ वसुबंधु के साथ विचार-विमर्श करने के लिए आए रहे होंगे (दे० पृ० २१३)।

हुएन-सांग ने यहाँ दो स्तूप देखे—एक संघभद्र के अवशेषों पर निर्मित था, दूसरा उनके शिष्य विमलमित्र के। विमलमित्र भी काश्मीरी था और वह वैभाषिक सिद्धांतों का विशिष्ट प्रतिपादक तथा वसुबंधु की सौत्रांतिक सिद्धांतों की ओर प्रवृत्ति का कठोर आलोचक था। हुएन-सांग गुणप्रभ के ग्रंथ 'तत्त्वसंदेश शास्त्र' एवं अन्य अभिधर्म-व्याख्या-ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए कई महीने यहाँ रहा। वह गुणप्रभ के एक शिष्य मित्रसेन से मिला, जो अत्यंत वृद्ध होने पर भी बड़ा गंभीर विद्वान् था।

मतिपुर से वह उत्तर की ओर चलकर गोविषाण पहुँचा, जिसकी पहचान कनिंघम ने काशीपुर, रामपुर और पीलीभीत से की है। यहाँ के लोग सत्यशील, धर्मात्मा

तथा ब्राह्मण-धर्म को माननेवाले थे। यहाँ केवल दो विहार थे, जिनमें एक सौ भिक्षु रहते थे।

गोविषाण से हुएन-सांग अहिच्छत्रा (रुहेलखंड का पूर्वी भाग) गया। यहाँ के लोग भी सत्यशील थे और ब्राह्मण-धर्म और दर्शन का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते थे। कुछ लोग पाशुपत मत को माननेवाले तथा शिव के पूजक थे। यहाँ दस विहारों में सम्मितीय मत के बहुत से बौद्ध भिक्षु रहते थे।

अहिच्छत्रा से वह दक्षिण की ओर गया और पि-लो-शन्-न पहुँचा। यहाँ के लोग ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। यहाँ दो विहार थे जिनमें आठ सौ महायानी भिक्षु रहते थे।

पि-लो-शन्-न से हुएन-सांग दक्षिण-पूर्व की ओर चला और कपित्थ या सांकाश्य पहुँचा, जिसका अनुवाद चीनी भाषा में क्वांगमिंग (=प्रकाश, विमलता) किया गया है। फाहियान बुद्ध के त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अवतरण की अनुश्रुति का विस्तार से उल्लेख करता है और कहता है कि अशोक ने सीढ़ियों के पास एक विहार तथा एक प्रस्तर-स्तंभ बनवा दिया, जिसके शीर्ष पर एक सिंह तथा चारों ओर बुद्ध की प्रतिमाएँ बनी हुई थीं। यहाँ एक सहस्र भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहतीं और हीनयान तथा महायान मतों का अध्ययन करती थीं।

हुएन-सांग भी बुद्ध के त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरने की अनुश्रुति का उल्लेख करता है। वह कहता है कि पुरानी निसेनियाँ नष्ट हो गई थीं और उनके स्थान पर नई बनवा दी गई थीं। ये निसेनियाँ सत्तर फीट ऊँची थीं और एक विहार में पहुँचती थी, जिसमें बुद्ध की एक प्रस्तर-प्रतिमा तथा उसके दोनों ओर ब्रह्मा और इंद्र की प्रतिमाएँ उतरती हुई मुद्रा में बनाई गई थीं। हुएन-सांग ने वहाँ अशोक का स्तंभ भी देखा। वह यह भी लिखता है कि उस स्थान के निवासी अधिकतर शैव थे। वहाँ चार विहार थे जिनमें सम्मितीय मत के एक सहस्र भिक्षु रहते थे। उनमें से एक विहार बड़ा था और उसकी बनावट अत्यंत सुंदर और सुडौल थी। उसमें सम्मितीय भिक्षु रहते थे।

साकाश्य से दक्षिण-पूर्व की ओर सात योजन चलकर हुएन-सांग गंगातट के नगर कान्यकुब्ज या कनौज में पहुँचा। यहाँ उसने केवल दो विहार देखे जिनमें हीनयानी भिक्षु रहते थे। ऐसा जान पड़ता है कि फाहियान के समय तक कनौज वह महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका था जो उसे आगे चलकर राजा हर्षवर्धन द्वारा राजधानी बनाए जाने पर प्राप्त हुआ।

हुएन-सांग कन्नौज का दीर्घ विवरण प्रस्तुत करता है और कुब्जा राजकुमारी की कथा का भी उल्लेख करता है जिसके नाम पर उस नगर का नाम कान्यकुब्ज पड़ा। हर्षवर्धन ने किन परिस्थितियों में सिंहासन प्राप्त किया, उसका सैन्य-बल कितना था, कैसे उसने एक विशाल राज्य विजय किया तथा बौद्ध धर्म के घोर शत्रु शशांक को पराजित किया—इन सब बातों का वह बड़े विस्तार से वर्णन करता है। हर्षवर्धन का पिता ब्राह्मण धर्म का अनुयायी एवं सूर्य का उपासक था। हर्षवर्धन यद्यपि बौद्ध धर्म का संरक्षक था, परंतु ब्राह्मणों को बराबर सहायता देता रहा। वह प्रतिदिन एक सहस्र भिक्षुओं और पाँच सौ ब्राह्मणों को भोजन कराता था। उसकी बहिन राज्यश्री सम्मितीय मत की भिक्षुणी बन गई थी। उसके उत्तम शासन के कारण तीस वर्ष तक उसकी प्रजा सुख-शांति से रही। उसने अनेक विहार बनवाए। वह नियमित रूप से प्रति पाँचवें वर्ष बौद्ध भिक्षुओं की सभा किया करता था। विद्वान्, विशेषतः शास्त्रार्थ में निपुण, भिक्षुओं को वह पुरस्कार देता था। उसने असम के राजा भास्करवर्मा को, जिसके निमंत्रण पर हुएन-सांग उसकी राजधानी में गया था, उस चीनी यात्री सहित अपने पास आने के लिए विवश किया। परंतु हुएन-सांग से उसने इसके लिए क्षमा माँगी और उससे उसकी यात्रा तथा उसके राजा और देश की विशद कीर्ति के संबंध में प्रश्न किए।

हर्षवर्धन के बौद्ध धर्म को संरक्षण देने के कारण भिक्षुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई, क्योंकि हुएन-सांग ने कान्यकुब्ज में एक सौ विहार देखे, जिनमें दोनों यानों के दस सहस्र भिक्षु रहते थे। वहाँ दो सौ देवमंदिर भी थे, जिनमें कई सहस्र पुजारी रहते थे।

हुएन-सांग ने कनौज में तीन मास तक भद्रविहार में रहकर आचार्य वीर्यसेन से असंग के शिष्य एवं वसुबंधु के समसामयिक बुद्धदास द्वारा रचित विभाषाओं का अध्ययन किया।[1]

फाहियान कनौज से तीन योजन दक्षिण-पूर्व चलकर शा-चे (साकेत) आया। उसने यहाँ बुद्ध की दंतकूचिका (दतुअन) से एक वृक्ष की अलौकिक उत्पत्ति की कथा का वर्णन किया है।

हुएन-सांग ने दूसरा मार्ग पकड़ा। वह कनौज से चलकर नवदेवकुल संभवतः नवल, जि० उन्नाव गया और वहाँ से दक्षिण-पूर्व की ओर एक लंबी यात्रा के बाद गंगा पार

१. शीफनर, तारानाथ, अध्याय २३।

करके अयोध्या पहुँचा। अयोध्या से हयमुख, प्रयाग, कौशांबी आदि होता हुआ वह साकेत आया।

हुएन-सांग लिखता है कि अयोध्या नगरी शस्यों और फलों एवं पुष्पों से परिपूर्ण थी। वहाँ के निवासियों की सत्कर्मो में रुचि थी और वे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने मे दत्तचित्त रहते थे। वह इस नगरी में बुद्ध के आने की अनुश्रुति का तथा उनके अभ्यागम के स्मारक-स्वरूप बनवाए गए अशोक-स्तूप का भी उल्लेख करता है। वसुबंधु के विषय में उसका कथन है कि वह एक प्रसिद्ध संत और विद्वान् था और उसने कई वर्ष अयोध्या मे रहकर सर्वास्तिवाद पर दार्शनिक ग्रंथों की रचना की थी। वह राजकुमारों तथा विशिष्ट भिक्षुओं एवं ब्राह्मणों का गुरु था। स्पष्टतः हुएन-सांग का संकेत युवराज बालादित्य के शिक्षक के रूप में वसुबंधु की नियुक्ति की ओर है (दे० पृ० २१३)।

हुएन-सांग ने अपनी भारत-यात्रा के दो सौ वर्ष पूर्व के वसुबंधु और असंग के विषय मे जो कुछ लिखा है वह केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर। इस कारण, जैसा कि फ्राउवालनर ने निर्देश किया है, उसने दो वसुबंधुओं का वृत्त एक में मिला दिया है (दे० पूर्व पृष्ठ २१४)।

उसने लिखा है कि असंग और वसुबंधु पेशावर के थे और दोनों ही बड़े विद्वान् थे। असंग पहले महीशासक मत के अनुवर्ती हुए और वसुबंधु महीशासकों की सर्वास्ति-वादी शाखा के। असंग कुछ समय तक अयोध्या में रहे। वे योगाचार दर्शन के एक महान् आचार्य हुए और मैत्रेय की प्रेरणा से उन्होंने 'योगाचार-भूमि-शास्त्र' (यह प्रकाशित हो रहा है), 'सूत्रालंकार' और 'मध्यान्त-विभाग-शास्त्र' (दोनों प्रकाशित) नामक प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की।

असंग ने अपने भाई वसुबंधु के मन में योगाचार दर्शन के विज्ञानवाद के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी और उन्हें अपने दार्शनिक विचारों का अनुयायी बना लिया। दशभूमिक सूत्र (प्रकाशित) का अध्ययन करने के बाद वसुबंधु पक्के महायानी हो गए।

यहाँ विचारणीय केवल यह है कि क्या, जैसा हुएन-सांग ने कहा है, असंग और महायानी वसुबंधु अयोध्या में रहते थे, अथवा हुएन-सांग ने हीनयानी वसुबंधु के विषय में प्रचलित अनुश्रुतियाँ सुनीं और असंग के विषय में जो जानकारी प्राप्त हुई उसे उसने उनके साथ जोड़ दिया। हुएन-सांग ने लिखा है कि प्रसिद्ध सौत्रांतिक आचार्य श्रीलाभ भी, जो हीनयानी वसुबंधु के समसामयिक थे और जिनके मतों का यशोमित्र ने अपने ग्रंथ अभिधर्मकोश व्याख्या में प्रायः उल्लेख किया है, कुछ काल तक अयोध्या में रहे थे और उन्होंने सौत्रांतिक-विभाषा-शास्त्र की रचना की थी।

अयोध्या में हुएन-सांग ने एक सौ विहार देखे, जिनमें हीनयान और महायान दोनों शाखाओं के तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। संभवतः उसके समय तक अयोध्या नगरी उक्त दोनों शाखाओं के बौद्ध दर्शनों के प्रमुख आचार्यों का महत्त्वपूर्ण केंद्र हो गई थी।

अयोध्या से हुएन-सांग हयमुख गया, जहाँ के लोगों को उसने आचार-विचार एवं आर्थिक स्थिति में अयोध्यावासियों के समान ही पाया। यहाँ उसने पाँच विहार देखे जिनमें सम्मितीय मत के एक सहस्र भिक्षु रहते थे। एक विहार में सर्वास्तिवाद मत का प्रसिद्ध भाष्यकार बुद्धदास रहता था।

हयमुख से वह प्रयाग (इलाहाबाद) गया और वहाँ का जलवायु अनुकूल पाया। यह देश ब्राह्मण-धर्मानुयायी था और यहाँ ऐसे लोग थे जो अपने जीवन का अंत करने के लिए कठोर तप करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस पवित्र स्थान में देह-त्याग करने से स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा। हर्षवर्धन प्रति पाँचवें वर्ष सभी धर्मों और मतों के सुपात्र विद्वानों एवं संतों को पुरस्कार वितरण करने के लिए यहाँ आया करता और अपनी असीम उदारता के कारण अपना सर्वस्व दान करके यहाँ से प्रायः रिक्तहस्त होकर लौटता था। यहाँ दो विहारों में कुछ हीनयानी भिक्षु रहते थे। माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का विख्यात शिष्य आर्यदेव यहाँ रहता था और यहीं उसने 'शत-शास्त्रवैपुल्य' (क्वांग-पाइ-लुन) ग्रंथ की रचना की थी।

प्रयाग से हुएन-सांग कौशांबी गया। कोसम के उत्खनन से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि प्राचीन कौशांबी इलाहाबाद जिले में वर्तमान स्थान पर थी। हुएन-सांग लिखता है कि यहाँ के लोग साहसी और धार्मिक प्रवृत्ति के थे और कलाओं में उनकी अभिरुचि थी। यह वत्स राज्य के अधिपति राजा उदयन की राजधानी थी। यहाँ उसने सेट्ठि घोषित द्वारा बनवाए गए घोषिताराम नामक प्रसिद्ध विहार के खँडहर देखे। उसके कथनानुसार महायानी वसुबंधु ने यहाँ कुछ समय तक रहकर 'विज्ञप्तिमातृका सिद्धि' नामक ग्रंथ (अब प्रकाशित) लिखा, जिसमें उसने 'मन और मात्रा' के अस्तित्व का खंडन किया और "पदार्थों के फलतः परिवर्तन से अप्रभावित एवं भ्रम से निर्लिप्त नित्य मन की सत्ता से पृथक् इंद्रियानुभव के, मिथ्यात्व" की स्थापना की। हुएन-सांग ने ठीक ही बतलाया है कि उक्त ग्रंथ का सार 'विज्ञप्तिमात्रता' की नित्यता है। असंग ने भी यहाँ एक ग्रंथ रचा था। उसने महा-माया सूत्र में की गई एक भविष्यवाणी का उल्लेख किया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के १,५०० वर्षों के बाद बौद्ध धर्म का अंत हो जायगा। हुएन-सांग के समय में कौशांबी के लोग ब्राह्मण धर्म को मानते थे और यहाँ उस समय केवल दस विहार थे

जिनमें ३०० हीनयानी भिक्षु रहते थे। यहाँ पाए गए एक प्राचीन शिलालेख से विदित होता है कि यहाँ कस्सपिय मत के भिक्षु रहते थे।[1]

हुएन-सांग कौशांबी से कासपुर गया, जिसके निकट उसने एक विहार के खँडहर देखे। इस विहार में धर्मपाल रहता था, जिसने अ-बौद्ध आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। धर्मपाल दक्षिण भारत का निवासी था और वह अपने देश की राजकुमारी से विवाह करने से अपना पिंड छुड़ाने के लिए भिक्षु हो गया था। वह नालंदा का बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गया और उसने शीलभद्र को अपना शिष्य बनाया। वह गुणमति और स्थिरमति नामक वैभाषिक आचार्यों का तथा महान् माध्यमिक आचार्य भावविवेक का समकालीन था।

कासपुर से वह विशोक गया, जिसकी पहचान फाहियान के सा-चे अथवा साकेत से की गई है और जो संभवतः विशाखा का स्वदेश होने के कारण प्यार से उसी के नाम से प्रसिद्ध हो गया था (चीनी अनुवाद में 'विशाखा' का 'विशोक' हो गया है)। यह देश शस्यों से संपन्न था और लोग अध्ययनशील एवं सत्कर्मनिष्ठ थे। यहाँ एक विहार था, जिसमें देवशर्मा रहता था, जिसने यहीं रहकर सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक के 'ग्रंथ विज्ञानकायपाद' की रचना की थी (दे० पूर्व पृ० २११)। यहाँ गोप नाम का एक अन्य भिक्षु था, जिसने मन और अ-मन (मन के विषय) के अभाव के संबंध में देवशर्मा के मतों का खंडन किया। ऐसा जान पड़ता है कि गोप सम्मितीय संप्रदाय का था जो 'पुद्गल' नाम के एक अनित्य वा क्षणिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। धर्मपाल बोधिसत्त्व भी, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, बाद में यहीं आकर रहने लगा था। उसने यहाँ सात दिनों तक चलने वाले शास्त्रार्थ में कई हीनयानी आचार्यों को परास्त किया।

आगे हुएन-सांग उस अलौकिक वृक्ष का उल्लेख करता है जो फाहियान के उपर्युक्त उल्लेखानुसार बुद्ध की दंतकूर्चिका (दतुअन) से पल्लवित हुआ था।

साकेत में ब्राह्मण धर्म के बहुत से अनुयायी थे। यहाँ केवल बीस विहार थे जिनमें सम्मितीय संप्रदाय के ३,००० भिक्षु रहते थे।

फाहियान साकेत से श्रावस्ती गया, जिसकी पहचान सहेत-महेत से की गई है। उस समय यहाँ बस्ती बहुत कम थी। वह श्रावस्ती का इस प्रकार वर्णन करता है—

नगर के बाहर कोई १,२०० डग पर जेतवन विहार था। यह एक विशाल

१. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशांबी, पृ० ५९।

सतमंजिला भवन था और यहाँ राजा और सामंतगण तथा देश के अन्य लोग उपासना के लिए आते थे। संयोगवश आग लग जाने से यह नष्ट हो गया। यात्री ने यहाँ दो प्रस्तर-स्तंभ देखे, जिनमें से एक के ऊपर धर्मचक्र बना था और दूसरे के ऊपर एक वृषभ। इस विहार से कुछ दूर पर अंधवन था, जहाँ भिक्षुगण ध्यान लगाते और ज्ञानचक्षु प्राप्त करते थे। फाहियान और हुएन-सांग दोनों ने इसे 'प्राप्त चक्षुओं का वन' कहा है और इसके विषय में एक दंतकथा का वर्णन किया है जिसके अनुसार यहाँ कुछ दस्युओं ने बुद्ध के प्रभाव से पुन: दृष्टि प्राप्त की थी।

फाहियान ने यहाँ विशाखा द्वारा बनवाए मिगारमातुपासाद नामक विहार का स्थान देखा और साथ ही वह स्थान भी देखा जहाँ राजा प्रसेनजित् के पुत्र विरुद्धक से बुद्ध की भेंट हुई थी।

उसने उन असद्धर्मियों की भी चर्चा की है जिन्होंने सुदरी और चिंचा की सहायता से बुद्ध को कलंकित करने का षड्यंत्र रचा था और जिनका मठ जेतवन के पास ही था। अंत में उसने देवदत्त का भी उल्लेख किया है जिसके अनुयायी उस समय विद्यमान थे।

जेतवन में फाहियान के ध्यान में पुरानी बातें गूंज रही थीं। वह बुद्ध के जीवन के विषय में तथा पचीस वर्ष तक उनके श्रावस्ती में निवास के विषय में सोचने लगा। फिर उसे अपने उन साथियों का स्मरण हो आया जो मार्ग में ही मर गए थे या स्वदेश लौट गए थे। जेतवन-निवासी भिक्षुओं ने उसका बड़े आदर से स्वागत किया। एक विदेशी को बुद्ध तथा बौद्ध धर्म में अनुरक्त देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

हुएन-सांग फाहियान के ही मार्ग से चलकर साकेत से श्रावस्ती के प्रसिद्ध नगर में पहुँचा। उसने देश को शस्यों से संपन्न तथा वहाँ के निवासियों को धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए पाया। उसने वहाँ (१) राजा प्रसेनजित् के बनवाए एक विहार, (२) जेतवन विहार, तथा (३) महाप्रजापति गौतमी के नाम अर्पित एक भिक्षुणी-विहार के खँडहर देखे। जेतवन के पूर्व द्वार पर उसने दो अशोक-स्तंभ देखे। उनमें से एक के शिखर पर धर्मचक्र बना था और दूसरे के शिखर पर एक वृषभ, जैसा कि फाहियान ने भी वर्णन किया है। उसे अनाथपिंडिक, अंगुलिमाल (दे० पूर्व पृष्ठ ८६), सारिपुत्त और बुद्ध की स्मृति में बनवाए गए स्तूप भी मिले।

कहा जाता है कि मूल जेतवन विहार और उसके स्थान पर बनाया गया दूसरा विहार, दोनों ही आग में जलकर नष्ट हो गए। चीनी ग्रंथों के अनुसार यह विहार लगभग १३० एकड़ क्षेत्र में बना हुआ था और इसमें भोजन, प्रवचन तथा ध्यान के लिए अलग-अलग शालाएँ बनी हुई थीं। उसमें स्नानगृह, चिकित्सालय, पुस्तकालय और

जलाशय भी बने हुए थे और संपूर्ण विहार एक दीर्घ प्राकार से घिरा हुआ था। यहाँ के पुस्तकालयों में बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त वैदिक तथा अन्य बौद्धेतर ग्रंथ एवं भारतीय कलाओं और शास्त्रों के भी अनेक ग्रंथ थे। यह विहार नगर की भीड़भाड़ से बाहर था, साथ ही उससे बहुत दूर भी नहीं था। यह स्थान अत्यंत शांत, शीतल और रमणीक तथा पूजा-उपासना के लिए अत्युत्तम था।

हुएन-सांग ने सारिपुत्त और मौद्गलायन के बीच बल-परीक्षा की कथा का, जिसका मूलसर्वास्तिवाद विनय (भैषज्य-वस्तु, पृ० १६५) में विस्तृत वर्णन है, और बुद्ध के चरित्र को लांछित करने के लिए असद्धर्मियों द्वारा नियुक्त चिंचा माणविका का, तथा संघ का प्रधान बनने के लिए देवदत्त की महत्त्वाकांक्षा का भी उल्लेख किया है।

यद्यपि **हुएन-सांग** ने श्रावस्ती के खँडहरों का ब्योरा अधिक दिया है, परंतु तत्त्वतः उसने फाहियान द्वारा वर्णन की गई बातों को ही दोहराया है।

हुएन-सांग के समय में यह स्थान बौद्धों द्वारा त्यक्त हो चुका था, विहार खँडहर हो गए थे और केवल सम्मितीय शाखा के थोड़े से भिक्षु रह गए थे। उस समय ब्राह्मण-मंदिरों की बहुलता थी और लोग ब्राह्मण धर्म के ही अनुयायी थे।

श्रावस्ती छोड़ने के बाद फाहियान ने गौतम बुद्ध के पहले के तीन बुद्धों—काश्यप, क्रकुच्छंद और कनकमुनि—की स्मृति में बनवाए गए स्तूपों को देखा।

फिर वह कपिलवस्तु गया जिसे उसने सुनसान खँडहरों के रूप में पाया। उसने यहाँ राजकुमार सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उपालि सहित शाक्यों के बौद्ध बनने तक की बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं से संबद्ध स्थानों को ध्यान से देखा। उसने महाप्रजापति द्वारा दिए गए एक वस्त्र (संघाटी) के दान का तथा विरुद्धक द्वारा शाक्यों के वध का भी उल्लेख किया है। देश उस समय उजड़ा हुआ था, केवल थोड़े से भिक्षु और कुछ गृहस्थ वहाँ रहते थे।

कपिलवस्तु के लुंबिनीवन से थोड़ी ही दूर पर रामग्राम था, जहाँ भगवान् बुद्ध की अस्थियों पर एक स्तूप बना हुआ था। अशोक इस स्तूप से अस्थियों का संग्रह नहीं कर सका था। इसके चारों ओर झाड़-झंखाड़ उगे हुए थे और वन्य पशुओं के अतिरिक्त उसकी रखवाली करनेवाला कोई न था। अंत में एक श्रमण ने उसे ढूँढ़ निकाला, चारों ओर की झाड़ियाँ काटकर साफ कर दीं और उसे पूजन के योग्य बना दिया। उसने वहाँ के एक सामंत से कह-सुनकर अपने लिए एक विहार बनवा लिया। फाहियान ने वहाँ कुछ भिक्षुओं को देखा था।

हुएन-सांग ने भी कपिलवस्तु को एकदम उजाड़ पाया, केवल राजप्रासाद के प्राकार की ईटों की नींव दिखाई पड़ती थी। उसने बुद्ध के जीवन की घटनाओं से संबद्ध स्थानों के वर्णन में फाहियान का ही अनुसरण किया। उसने ककुच्छंद और कनकमुनि के स्तूप भी देखे। कनकमुनि के स्तूप के पास उसने एक बीस फुट ऊँचा प्रस्तर-स्तंभ देखा जिसके शिखर पर एक सिंह बना था, जिसके पार्श्व में एक लेख खुदा हुआ था। इस लेख के विषय के संबंध में उसका ज्ञान सुनी हुई बातों पर ही निर्भर था। प्रकटतः उसने वह अशोक-स्तंभ देखा था जिसपर ब्राह्मी यह लेख खुदा हुआ था—"देवानंपियेन पियदसिना लजिना चोदसवसाभिसितेन बुधस कोमक मुनस थुबे दुतियं वढिते विसतिवसाभिसितेन च अतन आगाच महीयिते सिलाथुभे च उसपापिते।" (देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के द्वारा, जब उसके अभिषेक को चौदह वर्ष हो गए, कनकमुनि बुद्ध का यह स्तूप दूसरी बार विस्तृत किया गया, फिर जब उसके अभिषेक को बीस वर्ष हो गए, तब उसने स्वयं जाकर उस स्तूप की आराधना की और वहाँ एक प्रस्तर-स्तंभ स्थापित कराया)। हुएन-सांग ने बुद्ध के जीवन की घटनाओं का ब्यौरा अधिक दिया है, अन्यथा, उसने फाहियान द्वारा लिखे गए विवरण के अतिरिक्त नई बातें बहुत कम दी हैं।

यहाँ हुएन-सांग ने कई विहारों के खँडहर देखे, केवल एक विहार में सम्मितीय मत के तीस भिक्षु रहते थे।

कपिलवस्तु से वह रामग्राम गया और वहाँ उसने फाहियान द्वारा लिखी हुई बातों की ही पुनरुक्ति की, केवल राजकुमार सिद्धार्थ की प्रव्रज्या की घटनाओं से संबद्ध स्थानों के विषय में कुछ और बातें जोड़ीं।

रामग्राम से हुएन-सांग कुशीनगर गया, जो बुद्ध के महापरिनिर्वाण का पवित्र स्थान था। इस नगर में निवासियों की संख्या बहुत कम थी और भिक्षु भी बहुत थोड़े थे। उसने बुद्ध के परिनिर्वाण से संबंधित अनुश्रुतियों और तथ्यों का वर्णन किया है; यथा—सुभद्र का दीक्षा ग्रहण करना, देवों द्वारा अर्थी में रखे हुए बुद्ध के शरीर की पूजा तथा आठ सामंतों को उनकी अस्थियों का वितरण।

हुएन-सांग ने यहाँ का वर्णन अधिक विस्तार से किया है और कुछ नई बातें भी बतलाई हैं। वह लिखता है कि कुशीनगर जानेवाला मार्ग दस्युओं एवं वन्य पशुओं द्वारा आक्रांत रहता था। उसने यहीं नगर की ईंट की बनी पुरानी नींव तथा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप देखा, जो उसी स्थान पर बना हुआ था जहाँ चुंड का घर था। इस चुंड ने ही बुद्ध को सूकरमद्दव का अंतिम भोजन कराया था, जिसे चीनी ग्रंथों में

एक प्रकार का भोज्य पदार्थ (छत्राक वा भूफोड़) बताया गया है, जिसका उल्लेख प्रायः 'भिक्षुओं का आमिष' कहकर किया गया है।

उसने अजिरवती (हिरण्यवती) नदी के उस पार का शाल-वन तथा एक मंदिर भी देखा, जिसमें बुद्ध की एक लेटी हुई प्रतिमा थी, जिसका सिर उत्तर की ओर था। इस प्रतिमा का पता कार्लाइल को सन् १८७०-७५ में लगा था। यह 'मरणोन्मुख बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है, जो एक ईंट के बने मंदिर में लिटाई हुई है, जिसका मुख उत्तर की ओर है। इस मंदिर के चारों ओर अनेक स्तूप हैं।' यहाँ एक बड़ा सा स्तूप था और उसके पास ही एक दो सौ फुट उँचा अशोकस्तंभ था, जिसपर एक लेख खुदा हुआ था। प्राचीन घटनाओं के स्मारक अन्य स्तूपों में से उसने निम्नलिखित स्तूपों का उल्लेख किया है—

(१) सुभद्र का स्तूप, जो वह अंतिम व्यक्ति था जिसे बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के ठीक पहले दीक्षा दी थी; (२) उस स्थान पर बना हुआ स्तूप जहाँ वज्रपाणि मूर्छित हुआ था; (३) उस स्थान पर बना हुआ स्तूप जहाँ महामाया ने स्वर्ग से अवतरण के बाद रुदन किया था; (४) उस स्थान पर निर्मित स्तूप जहाँ बुद्ध की अस्थियाँ आठ दावेदारों को बाँटी गई थीं।

कुशीनगर छोड़ने के पश्चात् फाहियान वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह और गया होता हुआ वाराणसी पहुँचा। वह ऋषिपत्तन का वर्णन बुद्ध के आविर्भाव पर प्रत्येक बुद्धों के देहत्याग से प्रारंभ करता है, तत्पश्चात् वह उन परिस्थितियों का वर्णन करता है जिनमें पाँचों ब्राह्मण तपस्वियों ने बुद्ध का साथ छोड़ दिया। फिर जिस प्रकार वे उनके सर्वप्रथम शिष्य हुए उसका विवरण प्रस्तुत करता है। उसने भविष्य में बुद्ध के रूप में मैत्रेय के आविर्भाव के विषय में बुद्ध की भविष्यवाणी का भी उल्लेख किया है। कुशीनगर में हुएन-सांग ने केवल दो विहार देखे, जिनमें कुछ भिक्षु रहते थे।

कुशीनगर से वह वनों में से होकर सीधे वाराणसी आया। यहाँ के लोगों को उसने बहुत धनसंपन्न और उनके घरों को बहुमूल्य सामग्रियों से भरा पाया। वे लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे और विद्या का आदर करते थे। वाराणसी में प्रचुर अन्न, फल और अन्य वनस्पतियाँ उत्पन्न होती थीं। राजधानी के उत्तर-पूर्व तथा वरुणा नदी के पश्चिम ओर उसने एक अशोक-स्तूप तथा पालिश किए हुए हरे पत्थर का एक ओपयुक्त स्तंभ देखा।

वाराणसी से कुछ ही दूरी पर मृगदाव विहार था, जिसके आठ खंड थे और सब एक प्राकार से घिरे हुए थे। उसके प्राकार के भीतर एक विशाल मंदिर था जिसमें

उपदेश देते हुए बुद्ध की एक धातु-प्रतिमा थी। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम में एक अशोक-स्तूप और स्तंभ था।

विहार के प्राकार के बाहर तीन जलाशय थे---दो पश्चिम की ओर और तीसरा दूसरे जलाशय के दक्षिण में। पुरातत्त्व विभाग के उत्खनन में तीन जलाशयों का पता लग गया है।

इसके बाद हुएनसांग उन स्तूपों का उल्लेख करता है जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं के स्मारक थे। वे अधिकतर बुद्ध के पूर्व जन्मों की जातक-कथाओं से संबंधित थे। दो स्तूपों का संबंध उन दो भविष्यवाणियों से था जिनमें से एक काश्यप बुद्ध ने शाक्य-मुनि के आविर्भाव के संबंध में की थी और दूसरी गौतम बुद्ध ने मैत्रेय के भावी जन्म के संबंध में। उपर्युक्त स्तूप की पहचान ओर्टेल ने वर्तमान धमेख स्तूप से की है। यहाँ दो और स्तूप थे---एक उस स्थान पर जहाँ प्रत्येकबुद्धों ने अपना शरीर त्याग किया था और दूसरा उस स्थान पर जहाँ पाँचों ब्राह्मण तपस्या करते थे।

जहाँ तक धार्मिक विश्वासों का संबंध है, हुएनसांग लिखता है कि वाराणसी में सैकड़ों देवालय थे, जिनमें बहुत से पुजारी थे। अधिकांश पुजारी शिव के पूजक थे। शिव के भक्त सिर मुँड़ाए रहते थे और शिखा रखते थे। उनमें कुछ तो प्रायः नग्न रहते थे और कुछ शरीर में भभूत मले रहते थे। बहुत से भक्त मुक्ति के हेतु तपस्या करते थे।

वाराणसी में तीस विहार थे जिनमें सम्मितीय संप्रदाय के तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। सारनाथ के विहार मे पंद्रह सौ भिक्षु थे।

सारनाथ में कई महायानी मूर्तियाँ पाई गई हैं। इससे विदित होता है कि हुएन-सांग के वाराणसी में आगमन के कुछ काल के पश्चात् वहाँ महायान मत का प्रचार हुआ।[१]

१. देखिए आगे पृ० २८९-९०।

अध्याय १५

उत्तर प्रदेश के मुख्य बौद्ध केंद्र तथा स्मारक

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक प्रसार का गौरव उस भूभाग को प्राप्त है जो वर्तमान उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग है। प्राचीन कोसल राज्य और उसके आसपास के जनपदों का इतिहास इस दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। बुद्ध के पूर्व इस क्षेत्र में एक लंबे समय तक वैदिक धर्म का जोर रहा। कोसल-नरेश प्रसेनजित् (पसेनदि) स्वयं वैदिक कर्मकांड के पोषक थे। ब्राह्मणों की शक्ति प्रबल थी और उनके पांडित्य की धाक उत्तर भारत में अनेक स्थानों में जमी हुई थी।

बोध गया में सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के अनंतर बुद्ध ने अपने कार्यक्षेत्र के लिए उत्तर प्रदेश के जिन स्थानों को चुना वे उनसे विशेष रूप से संबंधित होने के कारण कालांतर में प्रधान बौद्ध तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनमें बौद्ध धर्म, दर्शन और कला का एक लंबे समय तक विकास होता रहा। यहाँ बुद्ध के जन्म-स्थान लुंबिनी तथा अन्य प्रमुख बौद्ध केंद्रों का परिचय दिया जाता है—

१ लुंबिनी

लुंबिनी यद्यपि उत्तर प्रदेश की वर्तमान सीमा के बाहर है, पर वह प्राचीन कोसल राज्य के अंतर्गत थी। कपिलवस्तु[1] के जिस शाक्यकुल में बुद्ध उत्पन्न हुए थे उसका छो-ा प्रदेश कोसल राज्य में ही सम्मिलित था। लुंबिनी[2] को 'रुम्मिनदेई' और 'रूपदेई' भी कहते हैं। अशोक के स्तंभ-लेख में इसका नाम 'लुंमिनि' तथा चीनी ग्रंथों में 'लुन-मिन्', 'लुन-मिंग', 'ल-फ-नि' आदि नाम पाए जाते हैं।

बौद्ध ग्रंथों में लुंबिनी को वन, प्रमोदवन या राजोद्यान कहा गया है। तिब्बतीय साहित्य में इस संबंध में जो अनुश्रुति मिलती है उसके अनुसार देवदह के राजा सुप्रबुद्ध

१. इस स्थान की पहचान उत्तर-पूर्वी रेलवे के नौतनवा स्टेशन से १२ मील उत्तर-पश्चिम तिलौराकोट नामक स्थान से की गई है।

२. यह उत्तर प्रदेश की उत्तर-पूर्वी सीमा के निकट ही नेपाल-तराई में स्थित है। यहाँ पहुँचने का मार्ग नौतनवा स्टेशन से है। नौगढ़ नामक दूसरे स्टेशन से भी लुंबिनी पहुँचा जाता है। हाल में ये दोनों रास्ते यात्रा-सुलभ बना दिए गए है।

ने इस प्रमोदोद्यान को अपनी लुंबिनी नामक रानी के लिए बनवाया था। इसी से इसका नाम लुबिनी-उद्यान हुआ। परंतु अन्य कथाओं में यह मिलता है कि लुबिनी राजा सुप्रबुद्ध के प्रधान मंत्री की पत्नी का नाम था। इस स्थान की स्थिति कपिलवस्तु तथा देवदह के बीच में थी और दोनों नगरों के लोग यहाँ उद्यान-चर्या के लिए आया करते थे।

लुबिनी को जो विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह गौतम बुद्ध का जन्म-स्थान होने के कारण ही। जब मायादेवी का प्रसव-काल निकट आया तब उनके इच्छानुसार उन्हें उनके पितृनगर देवदह की ओर ले जाया गया। लुंबिनी उद्यान की प्राकृतिक मनोहरता को देखकर उन्होंने वहाँ कुछ क्षण विश्राम करने का निश्चय किया। उद्यान के एक वृक्ष[1] को उन्होंने अपने दाएँ हाथ से पकड़ा। उसी समय बालक सिद्धार्थ का जन्म हो गया। जन्म-स्थान होने के कारण लुबिनी उद्यान का गौरव बहुत बढ़ गया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद एक बार बुद्ध अपने जन्मस्थान में पधारे। देवदह जाते हुए उन्होंने लुंबिनी में विश्राम किया और यहाँ 'देवदह सुत्त' का उपदेश दिया।

मौर्य सम्राट् अशोक का ध्यान इस पवित्र जन्मस्थान की ओर आकृष्ट हुआ। अपनी धर्मयात्रा में सम्राट् स्वयं यहाँ आए। यहाँ आचार्य उपगुप्त के द्वारा यह बताए जाने पर कि यहीं भगवान् का जन्म हुआ था[2], अशोक बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने वहाँ दान-पुण्य किया और एक चैत्य-निर्माण का आदेश दिया। यात्रा को चिरस्मरणीय बनाने के लिए एक बड़ा पाषाण-स्तंभ भी वहाँ स्थापित किया गया।

ई० पाँचवीं शती में फाहियान लुंबिनी गया, परंतु उसने अशोक के उक्त स्मारकों का कुछ जिक्र नहीं किया। उसने उस सरोवर की चर्चा की है जिसमें अनुश्रुति के अनुसार मायादेवी ने प्रसव के पहले स्नान किया था। उसने लुंबिनी के उस कूप का भी उल्लेख किया है जिसके जल से नागराजों द्वारा भगवान् को स्नान कराया गया था।

सातवीं शती में हुएन-सांग का लुंबिनी में आगमन हुआ। उसने इस स्थान का कुछ विस्तार से वर्णन किया है। सरोवर आदि के साथ उसने अशोक के स्तंभ का भी उल्लेख किया है तथा उन स्मारक-स्तूपों का भी जो निम्नोक्त स्थानों पर बनवाए गए थे—

(१) नागराज का प्राकट्य-स्थान, (२) वह जगह जहाँ उन्होंने गरम तथा ठंढे जल की दो धाराएँ उत्पन्न की थी, (३) भगवान् बुद्ध को स्नान कराने का स्थान तथा

१. बौद्ध ग्रंथों में इसे शाल या प्लक्ष का पेड़ कहा गया है।
२. "अस्मिन् महाराज, प्रदेशे भगवान् जातः।"

(४) वह स्थान जहाँ जन्मोपरांत बालक को इंद्र तथा अन्य देवों ने अपने हाथों पर उठा लिया था।

वु-कुंग नामक एक अन्य चीनी यात्री ७६४ ई० में लुंबिनी गया। उसके बाद लुंबिनी के संबंध में जानकारी नहीं मिलती। मध्यकाल में जन्म-स्थान घने जंगलों से आच्छादित हो गया होगा।

१८९६ ई० में डा० फुहरर ने लुंबिनी के अशोक-स्तंभ का पता लगाया। इस स्थान की पहचान जन्म-स्थान से की गई। नेपाल सरकार द्वारा घने जंगल को साफ कराया गया और जन्म-स्थान के पास की भूमि में उत्खनन-कार्य भी हुआ। यह कार्य हाल में भी कराया गया है, जिससे लुंबिनी एक आकर्षक स्थान बन गया है। सड़कों के ठीक हो जाने से अब लुंबिनी पहुँचने में पहले-जैसी कठिनाई नहीं होती। लुंबिनी में यात्रियों के ठहरने की भी समुचित व्यवस्था कर दी गई है।

वर्तमान समय में लुंबिनी की दर्शनीय वस्तुओं में प्रमुख अशोक का अभिलिखित स्तंभ है। ई० सातवीं शती के पूर्व ही बिजली गिरने के कारण यह स्तंभ खंडित हो चुका था। जो भाग इस समय बचा है उसकी परिधि ७¼ फुट तथा ऊँचाई १३½ फुट है। इस खंभे का लगभग १० फुट भाग जमीन के अंदर गड़ा है। हुएन-सांग ने इसके शिखर पर अश्व की मूर्ति देखी थी, जो अब अप्राप्य है। इस स्तंभ पर अशोक का एक लेख खुदा है। लेख की पंक्तियाँ बिलकुल सीधी हैं और अक्षरों की लिखावट अत्यंत सुंदर है। इसे देखने से लगता है मानो यह लेख अभी लिखकर तैयार किया गया हो।

इस लेख के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने राज्यारोहण के बीसवें वर्ष जन्म-स्थान की यात्रा की और यहाँ एक शिलास्तंभ तथा संभवतः एक मूर्ति की स्थापना की। लुंबिनी के ग्रामवासियों को कर-भार से भी मुक्त किया गया।

अशोक-स्तंभ के निकट एक छोटा मंदिर है। इसमें एक प्राचीन पाषाण-प्रतिमा स्थापित है। मूर्ति का विषय बुद्ध-जन्म है। माता मायादेवी वृक्ष के नीचे दक्षिणोन्मुख खड़ी हैं। एक हाथ से वे वृक्ष को शाखा थामे हैं और दूसरे से अपने वस्त्र ठीक कर रही हैं। उनकी बगल में नवजात शिशु है। समीप में अन्य लोग दिखाए गए हैं, जिनमें प्रजापति गौतमी तथा इंद्र भी हैं।

वर्तमान मंदिर संभवतः प्राचीन जन्म-मंदिर के ही आधार पर बना है। उत्खनन में एक बड़े विहार या चैत्य का अंश भी निकला है। उसके समीप एक शुष्क तालाब है। जनश्रुति के अनुसार जन्मोपरांत बुद्ध को इसी के जल से स्नान कराया गया था। नेपाल सरकार द्वारा यहाँ प्राचीन सामग्री के आधार पर दो स्तूप बनवा दिए गए हैं।

२. सारनाथ

बौद्ध धर्म के इतिहास में सारनाथ का अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। यहीं भगवान् बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश किया। इसी केंद्रबिंदु से धर्म का चक्र चतुर्दिक् प्रवर्तित हुआ। यही बौद्धसंघ की स्थापना हुई। बुद्ध के समय से लेकर लगभग १८ वीं शती तक सारनाथ में बौद्ध धर्म, दर्शन, कला और साहित्य पल्लवित-पुष्पित होते रहे।

सारनाथ के अभिज्ञान के लिए विद्वानों को वैसा परिश्रम नही करना पड़ा जैसा कि अन्य कतिपय स्थानों के संबंध में। चीनी यात्रियों ने इस स्थान की दूरी काशी नगरी से १० ली (लगभग २ मील) बताई है। परंतु वर्तमान काशी से सारनाथ लगभग ५ मील उत्तर पड़ता है। प्राचीन काल में जो सड़क काशी से मृगदाव (सारनाथ का प्राचीन नाम) को मिलाती थी उसके चिह्न आज भी दिखाई पड़ते हैं।

'सारनाथ' नाम अधिक प्राचीन नहीं है। जनरल कनिंघम का मत है कि यह पहले स्थानीय शिव-मंदिर का नाम था। वे इस नाम की व्युत्पत्ति 'सारङ्गनाथ' से करते हैं, जो शिव तथा बुद्ध दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। बौद्ध ग्रंथों में इस स्थान के नाम 'इसिपत्तन' (ऋषिपत्तन) तथा 'मिगदाव' या 'मिगदाय' (मृगदाव, मृगदाय) मिलते हैं[१] द्वितीय नाम का आधार 'निग्रोध मृग जातक' की कथा है। इसके अनुसार एक बार बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने इसी स्थान पर मृग-योनि में जन्म लिया था। बोधिसत्त्व मृगराज से प्रसन्न होकर काशी के राजा ने उन्हें अभयदान दिया और इस वन-खंड को उनके हेतु सुरक्षित कर दिया। इसीलिए यह स्थान 'मृगदाव' वा 'मृगदाय' कहलाया।[२] सारनाथ से प्राप्त अभिलेखों में इस स्थान का नाम 'धर्मचक्र या सद्धर्म-चक्रप्रवर्तन विहार' भी मिलता है। यह नाम वस्तुतः यहाँ के एक विहार का था, जो बाद में समस्त सारनाथ का सूचक हो गया।

१. ऋषिपत्तन का अर्थ 'ऋषियों का निवास-स्थान' है। परंतु कुछ बौद्ध ग्रंथों में इसका अर्थ 'ऋषि का पतन' किया गया है। इन ग्रंथों के अनुसार प्रत्येकबुद्ध ने यहाँ निर्वाण प्राप्त किया था। 'दिव्यावदान' में 'ऋषिवदन' पाठ भी मिलता है और यह पाठ चीनी ग्रंथों में भी मिलता है।

२. जिनप्रभसूरि के 'विविध तीर्थकल्प' से पता चलता है कि काशी से तीन कोस दूर सारनाथ 'धर्मेक्षा' नाम से प्रसिद्ध था, जहाँ बोधिसत्त्व का गगनचुंबी आयतन था—'अस्याः कोशत्रितये धर्मेक्षा नाम संनिवेशो यत्र बोधिसत्वस्योच्चैस्तरशिखर-चुंबितगगनमायतनम्।' 'धमेख' नाम का स्तूप आज भी यहाँ विद्यमान है। (विविधतीर्थकल्प, सिंघी जैन ग्रंथमाला, सं० १९९१, पृ० ७४।)

सारनाथ का महत्त्व बुद्ध के समय में ही हो गया। सम्यक् संबुद्ध तथागत ने इसी स्थान को अपने प्रथम उपदेश के लिए चुना। उन्होंने अज्ञात कौंडिन्य तथा उसके चार साथियों को यहाँ 'धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र' का उपदेश दिया। यह बुद्ध जी के जीवन की एक महान् घटना हुई, जिसका विस्तृत विवरण बौद्ध साहित्य में मिलता है और जिसका आलेखन कितने ही शिल्पियों ने करके अपनी कला को सार्थक माना। सारनाथ से प्राप्त एक शिलापट्ट पर यह दृश्य अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से उत्कीर्ण है। भगवान् मध्य में 'धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा'[1] में आसीन हैं। उनके अगल-बगल पंचभद्रवर्गीय भिक्षु हैं। आसन के सामने प्रथम उपदेश का चिह्न धर्मचक्र बना है, जिसके दोनों ओर हरिण हैं।

सारनाथ में निवास कर बुद्ध सद्धर्म का उपदेश देते रहे। उनके अनुयायियों की संख्या में अनुदिन वृद्धि होने लगी। तीन मास के अनंतर जब उन्होंने संघ की स्थापना की उस समय ६० अनुयायी थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध के जीवनकाल में ही इस पवित्र स्थल पर दो विहारों का निर्माण किया गया। इनमें से एक के निर्माण का श्रेय बनारस के धनी व्यापारी नंदिय को दिया जाता है।[2]

मौर्य सम्राट् अशोक के समय से सारनाथ की प्रसिद्धि बढ़ी। अशोक अपने धर्मगुरु उपगुप्त के साथ तीर्थ-यात्रा में यहाँ भी आए। उन्हें बताया गया कि यही वह स्थान है जहाँ बुद्ध द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्तन किया गया—"अस्मिन् प्रदेशे महाराज भगवता... धर्मचक्रं प्रवर्तितम्।"

अशोक के आज्ञानुसार उपदेश-स्थान पर एक विशाल स्तंभ[3] स्थापित किया गया, जिसके शीर्ष को चार सिंह-मूर्तियाँ अलंकृत कर रही थीं। एक धातु चैत्य का भी सम्राट् ने निर्माण कराया।

शुंग-काल (ई० पूर्व द्वितीय-प्रथम शती) में सारनाथ में एक वेदिका का निर्माण कराया गया, जिसके कुछ अवशेष सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसी काल में एक अर्द्धचंद्राकार मंदिर का निर्माण यहाँ किया गया, जिसकी अब केवल नींव बची है। अनेक खंडित मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनपर चिकनी पालिश (ओप) है।

१. द्रष्टव्य 'बौद्ध मूर्तिकला', अध्याय १६, पृ० २८१।

२. परंतु उस काल की इमारतों का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं। संभवतः बुद्ध के समय में भिक्षु पर्णशालाओं में रहते थे। इन पर्णशालाओं के स्वरूप का पता साँची, सारनाथ, मथुरा, अमरावती आदि की कला में मिलता है।

३. इस स्तंभ पर के अभिलेख में संघ-भेद पैदा करनेवालों के विरुद्ध राजाज्ञा है।

कुषाण-काल (१–१८० ई०) में सारनाथ में बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की अनेक प्रतिमाएँ बनाई गई। प्रारंभिक मूर्तियाँ मथुरा-शैली पर आधारित हैं, जिसका एक उत्कृष्ट नमूना सारनाथ में प्राप्त भिक्षु बल की अभिलिखित मूर्ति है।

गुप्त-हर्ष-काल (३२०–६५० ई०) सारनाथ के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण युग है। इस काल में यहाँ आए हुए प्रथम चीनी परिव्राजक फाहियान ने सारनाथ में चार विशाल स्तूपों तथा दो संघारामों को देखा। दूसरे यात्री हुएन-सांग ने यहाँ ३० संघाराम पाए, जिनमें १,५०० भिक्षु रहते थे। वे सब सम्मितीय संप्रदाय के अनुयायी थे। मृगदाव की इमारतें उस समय आठ भागों में विभक्त थीं और वे एक ही प्राकार के भीतर थीं। हुएन-सांग ने कलापूर्ण चैत्यों, स्तूपों और मंदिरों का वर्णन किया है। एक विशाल बौद्ध मंदिर २०० फुट ऊँचा था। उसका निचला भाग पत्थर का और उपरला ईंटों का बना था। अशोककालीन स्तंभ की ऊँचाई हुएन-सांग ने ७० फुट लिखी है और भग्नावशिष्ट स्तूप की १०० फुट। उसने अनेक स्मारक-स्तूपों की भी चर्चा की है।[1]

सारनाथ को गुप्त नरेशों तथा सम्राट् हर्ष का साहाय्य प्राप्त था। कुछ बौद्ध प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना संभवतः गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त के द्वारा की गई। इस काल की अनेक कलाकृतियाँ शारीरिक गठन तथा भाव-सौंदर्य की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं।[2]

हर्षवर्धन के पश्चात् सारनाथ कनौज के गुर्जर-प्रतीहार शासन के अंतर्गत रहा। उस समय का कोई लेख यहाँ नहीं मिला। प्रतीहारों के बाद यहाँ पाल शासकों का आधिपत्य रहा। एक अभिलेख १०२६ ई० का और दूसरा १०५८ ई० का मिला है। प्रथम लेख में स्थिरपाल तथा वसंतपाल नामक दो बंधुओं के द्वारा सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप तथा धर्मचक्र के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। इस लेख से यह भी पता चलता है कि उस समय सारनाथ पाल साम्राज्य के अंतर्गत था। दूसरे लेख के समय (१०५८ ई०) में सारनाथ पर चेदि राजा कर्ण का राज्य था।

ई० बारहवीं शती में सारनाथ को गाहड़वाल नरेशों का संरक्षण प्राप्त हुआ। सम्राट् गोविंदचंद्र की बौद्ध रानी कुमारदेवी ने यहाँ की कई प्राचीन इमारतों का जीर्णोद्धार कराया तथा एक बड़े विहार का निर्माण भी कराया। ११९४ ई० में गाहड़वाल शासक जयचंद्र मुहम्मद गोरी के द्वारा मारा गया और काशी नगरी की बड़ी बर्बादी हुई।

१. वाटर्स, आन युवान च्वांग, जिल्द २, पृ० ४८ तथा आगे।
२. इनके संबंध में द्रष्टव्य 'बौद्ध मूर्तिकला', अध्याय १६, पृ० २८६।

सारनाथ भी न बच सका। यहाँ की अनेक विशाल इमारतें नष्ट की गई। सारनाथ के बौद्ध भिक्षु या तो मारे गए या अन्यत्र चले गए। धीरे-धीरे यह स्थान पूर्णतया निर्जन बन गया। यहाँ तक कि कालांतर में लोग इसके अस्तित्व तक को भूल गए। मुगल काल में यहाँ के टीलों पर एक इमारत बनी, जिसे 'चौखंडी' कहते हैं।

१७९४ ई० में काशी के जगतसिंह द्वारा जब धर्मराजिका स्तूप की ईंटें निकलवाई जा रही थीं तब हरे पाषाण की मंजूषा में कुछ अस्थि-खंड प्राप्त हुए। अस्थियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। परंतु लोगों का ध्यान इस प्राचीन स्थान की ओर आकृष्ट हो गया और यत्र-तत्र खुदाई की गई। इससे बड़ी हानि हुई। अनेक प्राचीन मूर्तियों को वरुणा नदी के पुल के निर्माण में लगा दिया गया।

१८३५ ई० में कनिंघम के द्वारा सारनाथ की पहचान की गई[1] और उसने इस स्थान के संरक्षण की ओर ध्यान दिया। वैज्ञानिक ढंग से इस स्थान की खुदाई १९०४ ई० में प्रारंभ हुई और कई वर्ष तक जारी रही। इसके परिणामस्वरूप अनेक प्राचीन भग्नावशिष्ट इमारतें प्रकाश में आई तथा पुरातत्त्वीय महत्त्व की अन्य बहुत सी सामग्री मिली।[2] अब भी यहाँ की भूमि के अंतराल में न जाने कितनी वस्तुएँ छिपी पड़ी है।

सारनाथ के गौरव के रक्षार्थ स्व० अनागरिक धर्मपाल तथा भारत की महाबोधि सभा के प्रयत्न विशेष रूप से सराहनीय हैं। उनके प्रयत्नों से १९३१ ई० में नवीन मूलगंधकुटी विहार बनकर तैयार हुआ, जो एक बड़ी भव्य इमारत है। इसकी दीवारें प्रसिद्ध जापानी कलाकार कोसेत्सु-नोसु के चित्रों से सुशोभित हैं। बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाएँ इन चित्रों के विषय हैं। ब्रह्मा, चीन तथा तिब्बत के बौद्धों द्वारा भी यहाँ पृथक्-पृथक् मंदिरों का निर्माण किया गया है। भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा सारनाथ में प्रायः सभी आधुनिक सुविधाओं का प्रबंध किया गया है।

१. कनिंघम, आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द १ (१८७१), पृ० १०५ तथा आगे।

२. ऐनुअल रिपोर्ट, आर्के० सर्वे ऑव इंडिया, १९०४-०५, पृ० ५९ तथा आगे; १९०६-०७, पृ० ६८ तथा आगे; १९०७-०८, पृ० ४३ तथा आगे; १९१४-१५, पृ० ९७ तथा आगे; १९१९-२०, पृ० २६—; १९२१-२२, पृ० ४२—; १९२७-२८, पृ० ९५—। खुदाई में प्राप्त अधिकांश वस्तुएँ स्थानीय संग्रहालय में हैं। सारनाथ के अवशेषों के संबंध में द्रष्टव्य 'मूर्तिकला' तथा 'वास्तुकला' संबंधी अध्याय।

३. सांकाश्य या संकस्स (संकिस)

प्राचीन सांकाश्य की पहचान संकिसा नामक गाँव से की गई है। यह गाँव फर्रुखाबाद, एटा तथा मैनपुरी जिलों की सीमा पर २७.२०° उ० अक्षांश तथा ७९.२०° पू० देशांतर पर स्थित है। इसके समीप काली नदी बहती है, जिसका प्राचीन नाम 'इक्षुमती' था। आजकल संकिसा पहुँचने के लिए एक मार्ग शिकोहाबाद-फर्रुखाबाद रेलवे लाइन के मोटा नामक स्टेशन से है, जहाँ से संकिसा लगभग चार मील है। अधिक सुकर मार्ग पखना स्टेशन से है, जहाँ से संकिसा दक्षिण-पश्चिम ७ मील दूर है।

प्राचीन साहित्य में सांकाश्य या संकस्स नगर के अनेक उल्लेख मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण[१] में सीता के पिता मिथिला-नरेश सीरध्वज जनक के भाई कुशध्वज जनक का वृत्तांत मिलता है। जिस समय मिथिला में सीरध्वज जनक का शासन था उस समय सांकाश्य के राजा सुधन्वा थे। कुछ कारणों से इन दोनों राजाओं के बीच युद्ध छिड़ गया, जिसमें सुधन्वा की पराजय हुई। सीरध्वज ने अपने छोटे भाई कुशध्वज को सांकाश्य का अधिकारी बनाया। फर्रुखाबाद जिले में जनखद (जनक क्षेत्र) नामक एक अन्य प्राचीन स्थान है। इसका संबंध भी जनक के साथ बताया लड़कियों सहित सांकाश्य से मिथिला गए।

पाणिनि ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी[२] में सांकाश्य का उल्लेख किया है। महात्मा बुद्ध के समय से इस नगर का महत्त्व बढ़ा। जो स्थान बुद्ध के जीवन से विशेष रूप से संबंधित हैं उनमें एक सांकाश्य भी है। प्रसिद्ध है कि यहीं पर बुद्ध भगवान् त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से सीढ़ी द्वारा उतरे थे। उनके एक ओर इंद्र तथा दूसरी ओर ब्रह्मा उतरे थे। अवतरण का यह स्थान संकिसा गाँव के पास बिसहरी देवी के मंदिर के समीप माना जाता है। इसकी बौद्ध लोग बड़ी श्रद्धा के साथ प्रदक्षिणा करते हैं। बौद्ध साहित्य में संकस्स-अवतरण की चर्चा बहुत मिलती है। भारतीय एवं यूनानी कलाकारों ने सांकाश्य में बुद्ध के अवतरण का चित्रण उनके जीवन की अन्य प्रमुख घटनाओं के साथ बहुसंख्यक कलाकृतियों में किया है।

प्राचीन काल में सांकाश्य नगर, कनौज तथा अतरजी नगरों के बीच में पड़ता था। मथुरा से भी यहाँ को एक मार्ग जाता था। ई० चौथी शती के अंत में फाहियान

१. आदिकांड, अ० ७०।
२. अष्टाध्यायी ४,२,८०।

स्थान है। यहाँ खुदाई करते समय पुरानी ईंटें बड़ी संख्या में मिली थीं। चौखंडी के दाईं ओर की भूमि 'पंथवाली' कही जाती है। इसके आगे दक्षिण की तरफ 'नीबी का कोट' है। चौखंडी से लगभग दो फर्लांग उत्तर-पूर्व की ओर 'कुम्हर गढ़े' के खेत और टीले हैं। बरसात मे यहाँ मिट्टी की मूर्तियाँ और मुद्राएँ प्रायः मिलती हैं। कुछ दूर पर 'टेढ़ा महादेव' का प्रसिद्ध मंदिर है। १६ फुट से अधिक लंबी पत्थर की एक लाट को 'टेढ़ा महादेव' कहते है। इस लाट का व्यास ३८ इंच है। इसके समीप ही मथुरा के लाल बलुए पत्थर का बना एक वेदिका-स्तंभ (ऊँचाई २' ९") है। यह अठपहलू ढंग का बना है और इसका निर्माण-काल लगभग ई० पूर्व १०० है। संकिसा के टीलों से पाषाण और मिट्टी की मूर्तियों, मुहरों, सिक्कों आदि के रूप में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। अभी यहाँ के टीलों में उत्खनन की बड़ी आवश्यकता है। जो सामग्री यहाँ बिना खुदाई के प्राप्त होती रहती है उसका भी समुचित संरक्षण अपेक्षित है। बौद्धों का तीर्थस्थल होने के साथ संकिसा हिंदुओं के लिए भी एक पवित्र स्थान है।

सकिसा मे यात्रियों के पहुँचने तथा उनके ठहरने की बड़ी असुविधा थी। हाल में पखना स्टेशन से लेकर संकिसा तक का मार्ग पक्का कर दिया गया है। ठहरने के लिए एक आवास-गृह का भी निर्माण किया गया है। यहाँ से प्राप्त कुछ कलाकृतियों को भी प्रदर्शित करने की व्यवस्था की जा रही है, जिससे लोग प्राचीन नगर के वैभव की झाँकी प्राप्त कर सकें।

४. कुशीनगर (कसिया)

जिस स्थान को भगवान् बुद्ध का पुनीत निर्वाण-स्थल होने का गौरव प्राप्त है वह देवरिया जिले का कसिया[१] नामक स्थान है। प्राचीन कुशीनगर से इसका अभिज्ञान विल्सन तथा कनिंघम ने किया था, जिसकी पुष्टि यहाँ प्राप्त हुए प्राचीन अवशेषों से हुई।

बुद्ध के पूर्व यह नगरी 'कुशावती' तथा 'कुशीनारा' (कुसीनारा) नामों से प्रसिद्ध थी। यह प्राचीन मल्ल राष्ट्र[२] (मल्लरट्ठ) की राजधानी थी। मल्ल राष्ट्र दो भागों में विभाजित था—एक की राजधानी पावा और दूसरी की कुशावती थी। इन दोनों

१. कसिया देवरिया से २१ मील उत्तर और गोरखपुर से ३३ मील पूर्व है। दोनों स्थानों से यहाँ तक अच्छी पक्की सड़कें हैं। कसिया वर्तमान देवरिया जिले की एक तहसील है।

२. महाभारत, ६, ९, ३४।

भागों की सीमा ककुत्था नदी (वर्तमान कुकु) थी। बौद्ध साहित्य में कुशीनगर के अन्य नाम 'कुशीनगरी' तथा 'कुशीग्राम' भी मिलते हैं। महापरिनिब्बान सुत्तंत के अनुसार मल्लों का शालवन तथा कुसीनारा का उपवत्तन (उपनगर) हिरण्यवती नदी के समीप थे।[१] विंसेंट स्मिथ ने इस नदी की पहचान गंडक से की थी। उनका अनुमान था कि कुसीनारा छोटी राप्ती और गंडक के संगम पर नेपाल में बसा हुआ था।[२] परंतु जब कसिया के निर्वाण-मंदिर के पीछे बड़े स्तूप से अभिलिखित ताम्रपत्र[३] निकला तब स्मिथ को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर (कुसीनारा) है।[४]

अपनी चरम समृद्धि की दशा में कुशीनगर बारह योजन लंबा तथा सात योजन चौड़ा था। सातवीं शती में हुएन-सांग के समय में उसका विस्तार केवल १० ली (लगभग २ मील) रह गया।

बुद्ध के समय में कुशीनगर मुख्य स्थल-मार्ग पर स्थित था। नगर के समीप विस्तृत शालवन का एक भाग प्रमोद उद्यान था, जिसके नाम उपवत्तन, देववन तथा वलिहरण वन थे। उस समय मल्ल लोग बहुत शक्तिशाली थे।[५] उनके राज्य की गणना तत्कालीन सोलह बड़े जनपदों में की जाती थी।

पहले कुशीनगर में नृपतंत्र था और वहाँ महासम्मत वंश का शासन था। इस वंश के प्रमुख शासकों के नाम इक्ष्वाकु, कुश तथा महासुदर्शन मिलते हैं। दीपवंश के अनुसार तक्षशिला के शासक 'तलिस्सर' के वंशजों ने बारह पीढ़ी तक कुशीनगर पर शासन किया। यह बताना कठिन है कि यहाँ मल्लों का अधिकार कब से हुआ तथा किस समय से यहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई।[६]

१. दीर्घ निकाय, २, १३७; जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९०६, पृ० ६५९।

२. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, (तृतीय संस्करण), पृ० १५९, नोट। हिरण्यवती वास्तव में छोटी गंडक है।

३. इस ताम्रपत्र पर 'परिनिर्वाण चैत्ये ताम्रपट्ट' यह लेख लिखा है। द्र० आर्केलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९११-१२, पृ० १७ तथा आगे।

४. चीनी यात्री हुएन-सांग ने 'कौ-शिह-नकलो' नाम दिया है, जो 'कुशीनगर' का चीनी रूप है।

५. कौटिल्य ने मल्लों की गणना 'राजशब्दोपजीवी' संघों के अंतर्गत की है। (अर्थशास्त्र, ११, १, ६)।

६. मज्झिम निकाय (१, २३१) तथा अन्य कई बौद्ध ग्रंथों में कुशीनगर के गणतंत्र का उल्लेख मिलता है।

मल्ल लोग वशिष्ठ वंश के क्षत्रिय थे। युद्ध-प्रिय होने के साथ-साथ वे विद्यानुरागी थे। उनके युवक उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए सुदूर तक्षशिला तक जाया करते थे। मल्लों में धार्मिक संकीर्णता न थी। बुद्ध, महावीर तथा अन्य धर्माचार्यों के प्रति वे सम्मान का भाव रखते थे। कल्पसूत्र से पता चलता है कि जैन तीर्थंकर महावीर के निर्वाण-दिवस को मल्लों तथा उनके सहयोगियों ने समुचित रूप से मनाया।[1] उसी प्रकार बुद्ध का अंतिम संस्कार उन्होंने बड़े उत्साह एवं श्रद्धापूर्वक निष्पन्न किया।[2]

परिनिर्वाण के पूर्व बुद्ध कई बार कुशीनगर गए। वहाँ उनके प्रमुख अनुयायी दब्ब तथा बंधुल थे। बंधुल की पत्नी मल्लिका भी बौद्ध थी। बुद्ध के कुशीनगर आगमन पर एक बार मल्लों ने यह निश्चय किया कि जो व्यक्ति उनके स्वागत-सत्कार में भाग न लेगा उसपर ५०० मुद्राओं का दंड किया जायगा—

'यो भगवतो पच्चुग्गमनं न करिस्सति पञ्चसतं दण्डोऽति।'

कुशीनगर में बुद्ध शालवन उपवत्तन या वलिहरण वन में ठहरा करते थे। वहीं पर उन्होंने 'कुशिनारा सुत्त', 'किंतिसुत्त', 'महासुदस्सन सुत्तंत' आदि सूत्रों का उपदेश किया।[3] महासुदस्सन जातक की कथा भी उन्होंने यही सुनाई थी। परंतु उस समय कुशीनगर की गणना देश के प्रमुख नगरों में न थी। बुद्ध जी ने इस 'क्षुद्र जंगली शाखा-नगर' को ही अपने महापरिनिर्वाण के लिए उपयुक्त पाया, इस बात से उनके प्रमुख शिष्य आनंद को खेद तथा विस्मय भी हुआ। उसने प्रतिवाद किया—"भन्ते! देश में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी आदि महानगर हैं; भगवान् को उन्हीं में परिनिर्वाण प्राप्त करना चाहिए।"[4] तथागत ने आनंद को ऐसे वचन कहने से रोका और कुशीनगर के भूतपूर्व गौरव का वर्णन किया। दिग्विजयी चक्रवर्ती राजा महासुदर्शन के शासन-काल में यह ८४,००० नगरों में प्रमुख था। उस समय कुशावती नगरी बड़ी रमणीक, जनाकीर्ण एवं धन-धान्य-संपन्न

१. सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, २२, पृ० २६६।

२. महापरिनिब्बान सुत्तंत ५-६।

३. अंगुत्तर निकाय १,२७४; ५,७९; मज्झिम निकाय २,२३८ तथा आगे।

४. मा भन्ते भगवा इमिस्म कुड्डनगरके उज्जङ्गलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति हि भन्ते अञ्ञानि महानगरानि·····एत्थ भगवा परिनिब्बायतु···। (दीघ० २,१४६, १६९)।

थी, और रात-दिन 'दस शब्दों' से गुजायमान रहती थी।[1] इसके चार द्वार तथा सात प्राकार थे। महासुदस्सन सुत्तंत में यहाँ के राजभवन, सरोवर तथा शाल-कुंजों के अतिरिक्त राजकीय वैभव का भी अतिरंजित वर्णन किया गया है।

बुद्धघोष की 'सुमंगलविलासिनी' के अनुसार तथागत ने निम्नोक्त तीन कारणों से कुशीनगर को परिनिर्वाणार्थ चुना था—(१) महासुदस्सन सुत्तंत के उपदेश के लिए यही उपयुक्त स्थान था, (२) सुभद्र की प्रव्रज्या यहीं संभव थी तथा (३) अस्थि-विभाजन की समस्या को हल करनेवाला द्रोण नामक ब्राह्मण वहीं उपस्थित था। इनके अतिरिक्त पूर्व जन्मों में इसी स्थान पर भगवान् का सात बार शरीरांत हो चुका था।[2]

तथागत ने अपना अंतिम वर्षाकाल वैशाली में व्यतीत किया। वहाँ पर वे अस्वस्थ हो गए। उन्हें यह भी आभास मिल गया कि जीवन-काल के केवल तीन मास शेष रह गए हैं।[3] वैशाली से चलकर भंडग्राम, हस्तिग्राम, अंबग्राम, जंबुग्राम तथा भोगनगर होते हुए वे पावा पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने चुंड लोहकार का आतिथ्य स्वीकार किया। यह बुद्ध जी का अंतिम भोजन था। इसके पश्चात् ही उन्हें रक्तातिसार हो गया। परंतु उन्होंने यात्रा भंग न होने दी और कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। शालवन पहुँचकर उन्होंने आनंद से दो शालवृक्षों के मध्य (यमक सालानं अंतरे) स्थित मंच पर अपने वस्त्र बिछा देने के लिए कहा। फिर उसी पर दाहिनी करवट, उत्तर दिशा की ओर सिर रखकर, लेट रहे। बुद्ध जी जानते थे कि उसी दिन उनका शरीरांत होगा, अतः उन्होंने आनंद द्वारा मल्लों से कहला भेजा—"वाशिष्ठो! आज रात्रि के अंतिम प्रहर में तथागत का परिनिर्वाण होगा···तुमको पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े कि तुम लोगों के ग्राम में ही तथागत का परिनिर्वाण हुआ, फिर भी तुम उनका अंतिम दर्शन न कर सके।" यह संदेश पाते ही मल्लगण शोकाकुल हो उठे। आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष सब के सब रोते-कलपते शालवन पहुँचे। आनन्द ने उन सबको

१. ये नगर की समृद्धि एवं वैभव सूचक हस्ति, अश्व, रथ, भेरि, मृदङ्ग, वीणा, गीत, शंख, ताल तथा 'खाओ पिओ' (अस्नाथपिवथखादथाति) के शब्द थे। द्रष्टव्य दीघ० २, १४६-४७, १६९ तथा आगे; सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, ११, पृ० १००-०१; २४८-८८।

२. दीघ० २, पृ० १९८।

३. वही, २, पृ० १०६।

भगवान् के दर्शन कराए। बुद्ध का अंतिम कार्य था सुभद्द को प्रव्रज्या तथा उपसंपदा देना। यह परिव्राजक १२० वर्ष की अवस्था में भगवान् का शिष्य बना और उसने उनके सामने ही समाधिस्थ होकर अपनी इहलीला समाप्त कर दी। तत्पश्चात् उपस्थित भिक्षुओं को संबोधित कर भगवान् ने कहा—"वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादेथाति" (संस्कार नाशवान् हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) पूर्ण करो)।[1] ये उनके अंतिम शब्द थे। इस प्रकार कुशीनगर में वैशाख पूर्णिमा की रात्रि के अंतिम प्रहर में इस महापुरुष ने ८० वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया।

कुशीनगर के निवासियों ने उनके अंतिम संस्कार का समुचित प्रबंध किया। छः दिन तक तो वे लोग भगवान् के निष्प्राण शरीर का नृत्य, गीत, वाद्य तथा गंध-पुष्पादि से सत्कार करते रहे। सातवें दिन वे समारोहपूर्वक उसे मकुट बंधन चैत्य ले गए, और वहीं पर चक्रवर्ती-राजोचित विधान के अनुसार उसका दाहसंस्कार किया। तत्पश्चात् मल्लों ने भगवान् की पवित्र अस्थियों का संचय किया और उनको अपने संस्थागार में स्थापित किया। साँची के एक चित्र में यह दृश्य भी अंकित है। अस्थियों की रक्षा के लिए विशेष आयोजन किया गया और सप्ताह पर्यंत उनका पूजा-सत्कार होता रहा। तब तक भगवान् के देहावसान का समाचार चारों ओर फैल गया। शीघ्र ही अन्यान्य राज्यों के दूत कुशीनगर में आ उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् की अस्थियों के विभाजन की माँग की। इस प्रसंग में वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलि, रामग्राम के कोलिय, पावा के मल्ल, मगधराज अजातशत्रु तथा बेठदीप (विष्णुद्वीप) के ब्राह्मण के नाम उल्लिखित हैं। कुशीनगर के मल्ल अस्थि-विभाजन के लिए तैयार न थे। अतः युद्ध अवश्यंभावी हो गया। प्रतिद्वंद्वी राज्यों के सैनिकों ने कुशीनगर को घेर लिया। परंतु उसी समय द्रोण नामक ब्राह्मण वहाँ उपस्थित हुआ। उसने सबको समझाया कि बुद्ध-जैसे शांतिप्रिय, क्षमाशील व्यक्ति की अस्थियों के लिए युद्ध करना उचित नहीं है। सभी अभियोक्ता उसकी बात मान गए। द्रोण ने भगवान् की अस्थियों को आठ सम भागों में विभाजित कर दिया। पिप्पलीवन के मौर्य पीछे आए और उन्हें चिताभस्म पाकर ही संतोष करना पड़ा। जो पात्र विभाजन में प्रयुक्त हुआ था उसे स्वयं द्रोण ने ही रख लिया। सब लोग अवशेषों को अपने-अपने नगर ले गए और वहाँ उनपर चैत्य बनवाए।[2]

१. दीघ० २, पृ० १५६; सै० बु० ई०, ११, पृ० ११४।
२. साँची की कला में अस्थि-विभाजन संबंधी दृश्य दर्शनीय हैं।

कुशीनगर अब तीर्थ रूप में परिणत हो गया। समय-समय पर यहाँ स्तूप, विहार तथा चैत्य बनते रहे। परंतु प्राचीन साधनों के अभाव में बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् कुशीनगर का ठीक इतिहास ज्ञात नही। मल्लराष्ट्र मगध की साम्राज्यवादी नीति का शिकार हुआ और उसकी राजधानी का वैभव भी क्षीण हुआ। तथापि शालवन ओर मकुट बंधन के चैत्यों की प्रसिद्धि बहुत समय तक बनी रही। वे दूर-दूर से देश-विदेश के यात्रियों को आकृष्ट करते रहे।

दिव्यावदान से विदित होता है कि ई० पू० तृतीय शताब्दी में आचार्य उपगुप्त के साथ महाराज अशोक यहाँ आए। जैसे ही उन्होंने सुना कि इसी स्थान पर भगवान् का परिनिर्वाण हुआ था, वे मूर्छित हो गए।[1] तदनंतर वहाँ चैत्य-निर्माणार्थ उन्होंने एक लक्ष मुद्राएँ प्रदान की। सम्राट् के आज्ञानुसार, अन्य धातु-चैत्यों की भाँति, कुशीनगर का स्तूप भी तोड़ा गया। उन्होने भगवान् की अवशिष्ट अस्थियों को ८४,००० भागों में विभाजित किया और उनके लिए साम्राज्य भर में उतने ही स्तूपों की रचना की गई। कुशीनगर में भी नवीन स्तूप का निर्माण हुआ। हुएन-सांग के समय तक वहाँ पर अशोक निर्मित तीन स्तूप तथा दो स्तंभ विद्यमान थे। मौर्यकालीन स्मारकों के कुछ अवशेष पुरातत्त्व विभाग द्वारा की गई खुदाई में भी प्राप्त हुए हैं।

कुशीनगर का यह वैभव चिरस्थायी न रह सका। पाँचवीं शताब्दी में फाहियान ने इस प्रांत को परित्यक्त तथा निर्जन पाया। शालवन के विहार में उस समय भी भिक्षु रहते थे। परिनिर्वाण स्तूप के अतिरिक्त चार अन्य स्तूप भी थे, जो निम्नोक्त स्थानों पर बने हुए थे—(१) जहाँ सुभद्र को अर्हत्-पद प्राप्त हुआ था, (२) जहाँ वज्रपाणि यक्ष की गदा गिरी थी, (३) जहाँ मल्लों ने भगवान् बुद्ध के शरीर का सप्ताह पर्यंत पूजन किया था तथा (४) जिस स्थान पर उनकी अस्थियों का विभाजन हुआ था।

दो शताब्दी पश्चात् हुएन-सांग ने भी कुशीनगर को प्राय: वैसी ही स्थिति में पाया। मौर्यों के अंगार स्तूप से लेकर शालवन तक दुर्गम्य वन था, जिसमें जंगली पशुओं के अतिरिक्त चोर और डाकुओं का भी भय रहता था। इस प्रदेश के नगर तथा ग्राम उजड़ गए थे। कुशीनगर की जनसंख्या बहुत कम थी। इसका मध्य भाग तो नितांत निर्जन था। नगर का प्राचीन प्राकार भी भग्न हो गया था। हुएन-सांग ने यहाँ के विहारों की भिक्षु-संख्या का उल्लेख नहीं किया। परंतु उसके भ्रमण-वृत्तांत से हमें

१. दिव्यावदान, पृ० ३९४।

तत्कालीन इमारतों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उनमें सर्वप्रमुख था ईंटों का वह विशाल मंदिर जिसमें बुद्ध जी की परिनिर्वाण-मूर्ति स्थापित थी। उसके समीप ही अशोक-निर्मित स्तूप था, जो भग्नावस्था में होते हुए भी २०० फुट से अधिक ऊँचा था। उसके सम्मुख मौर्यकालीन प्रस्तर-स्तंभ था, जिसपर परिनिर्वाण-वृतांत उत्कीर्ण था। इनके अतिरिक्त शालवन में विभिन्न घटनाओं के स्मारक-स्वरूप स्तूप बने थे। दो का सम्बन्ध तो बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथा से था, अन्य स्तूप सुभद्र के निर्वाण, वज्र-पाणि यक्ष के गदापतन, देवताओं द्वारा तथागत के शरीर-पूजन तथा महामाया के विलाप आदि स्थानों पर निर्मित थे।[१]

नगर के उत्तर में, नदी पार ३०० पग चलकर वह स्थान था जहाँ तथागत का दाह-संस्कार हुआ था। वहाँ भी एक स्तूप बना हुआ था। उसके निकट अन्य स्तूप भी थे। एक तो उस स्थान पर था जहाँ महाकाश्यप ने अंतिम बार भगवान् की पद-वंदना की थी। दूसरा स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था। यह उस स्थान पर था जहाँ भगवान् की अस्थियों का विभाजन हुआ था। उसके सामने एक स्तंभ था जिसपर उपर्युक्त घटना का वृत्तांत उत्कीर्ण था। श्रद्धालु भिक्षु ने लिखा है कि चिता-भूमि में उस समय भी कोयले तथा भस्म के टुकड़े विद्यमान थे और जो व्यक्ति वहाँ पर विश्वासपूर्वक आराधना करते थे उन्हें भगवान् के अवशेष अवश्य प्राप्त हो जाते थे।

कार्लायिल के द्वारा हुएन-सांग द्वारा वर्णित स्तूपों को ढूँढ़ निकालने का सराहनीय प्रयत्न किया। परंतु उस समय से अब तक कुशीनगर की भूमि में महान् परिवर्तन हो चुका है। नदियों की धाराएँ बदल गई हैं, प्राचीन इमारतें नष्ट हो चुकी हैं। यही नहीं, उनके खँडहरों पर बनी हुई इमारतें भी टीलों में परिवर्तित हो गई हैं। बहुत से टीलों को कृषकों ने तोड़कर खेत बना डाला है। दोनों स्तंभ भी अब तक अप्राप्य हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक प्राचीन स्मारक का स्थान निर्धारित करना असंभव हो गया है।

सातवीं शताब्दी के अंत में एक अन्य चीनी परिव्राजक इत्सिंग का आगमन यह हुआ। उस समय कुशीनगर की अवस्था कुछ सुधरी हुई थी। इसका कारण संभवतः हर्ष का संरक्षण था। शालवन तथा मकुट बंधन चैत्य प्रमुख तीर्थ थे। वहाँ दूर-दूर

१. हुएन-सांग ने चुंड के निवास-स्थान के निकट एक स्तूप का उल्लेख किया है, परंतु अन्यान्य ग्रंथों से विदित होता है कि वह पावा का निवासी था। हुएन-सांग के वर्णन के लिए द्रष्टव्य वाटर्स, युवान च्वांग, २, पृ० २५–४५।

से सहस्रों की संख्या में यात्री आया करते थे, विशेषतया शरद् और वसंत ऋतुओं में। स्थानीय विहार में लगभग एक सौ भिक्षु रहा करते थे। उन लोगों को आगंतुक भिक्षुओं का स्वागत-सत्कार करने में किसी प्रकार की कठिनाई न होती थी। कुशीनगर के संघाराम में समय की गणना किस प्रकार की जाती थी, इत्सिंग ने इसका भी उल्लेख किया है। उसके साथ एक अन्य यात्री, ता-च्यँग-टेंग भी आया था। वह कुशीनगर पहुँचकर अस्वस्थ हो गया और वहीं महापरिनिर्वाण विहार में उसकी मृत्यु हो गई।

ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी में कुशीनगर पर कलचुरी नरेशों का आधिपत्य था। कार्लायल को १८७५ ई० में एक खंडित शिलालेख प्राप्त हुआ था। इस राजवंश के इतिहास का वही एक मात्र साधन है। इस लेख का अभिप्राय क्या था तथा किस राजा के शासन-काल में वह लिखा गया था, यह अज्ञात है। इसमें कोई तिथि भी नहीं है। अनुमान है कि इसका संबंध उसी संघाराम से था जिसके खँडहरों से यह प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख शंकर, पार्वती, तारा तथा बुद्ध की स्तुति से आरंभ होता है और इस भाँति प्राचीन भारत में धार्मिक सद्भावना का अत्युत्तम प्रमाण उपस्थित करता है। कसिया के ध्वंसावशेषों से प्राप्त विष्णु, गणेश, गरुड़ आदि की मूर्तियाँ भी उसी भावना की प्रतीक हैं। इत्सिग के समय में भी कुशीनगर तथा अन्यान्य संघारामों में महाकाल की पूजा होती थी, जो महेश्वर (शिव) परिवार का देवता था।

तेरहवी शताब्दी के लगभग कुशीनगर पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। कार्लायल को यहाँ अग्नि तथा असि द्वारा संपादित विध्वंस कांड के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त हुए। इन खँडहरों में इस बात का भी प्रमाण उपलब्ध है कि अंतिम विनाश से पूर्व, पाँचवीं शताब्दी के लगभग भी, यहाँ अग्निकांड हुआ था। संभव है यह हूण आक्रमण-कारियों का कार्य रहा हो। तेरहवीं शती के बाद कुशीनगर परित्यक्त तथा विस्मृत हो गया, यहाँ तक कि इसका अस्तित्व भी कालांतर में विवाद का कारण बन गया। १८६०-६१ ई० में कनिंघम को यहाँ पर माथाकुँवर का कोट तथा रामाभार नामक दो बड़े टीले एवं कुछ छोटे-छोटे टीले मिले। यह भू-भाग उस समय वनाच्छादित था। निकटवर्ती ग्रामों के निवासी यहाँ के खँडहरों से ईंटें निकाला करते थे। प्राचीन स्मारकों का दुरुपयोग भी हो रहा था। भगवान् बुद्ध के चिता-स्तूप के ऊपर रामाभार भवानी का मंदिर बन चुका था, और एक अन्य स्तूप पर किसी नट की समाधि थी।

आधुनिक युग में सर्वप्रथम बुकनन तथा लिस्टन ने कसिया के अवशेषों का वर्णन किया, परंतु ये विद्वान् उसके इतिहास से अवगत न थे। १८६० ई० में जब

कनिंघम ने यह विचार प्रकट किया कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर है,तब से इतिहास-प्रेमियों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। कनिंघम के पश्चात् कार्लायल ने १८७५-७७ ई० में यहां अनुसंधान-कार्य किया। १८९३ ई० में भारत सरकार ने इस स्थान को अपने अधिकार में लिया। इस बीच कई व्यक्तियों ने यहाँ खनन-कार्य कराया, परंतु पुरातत्त्व विभाग द्वारा वैज्ञानिक ढंग से उत्खनन १९०४ ई० में आरंभ हुआ, जो १९१२ ई० तक चलता रहा। बहुत से स्तूप, विहार तथा चैत्यों के अवशिष्ट भाग टीलों के गर्भ से निकालकर प्रकाश में लाए गए। ये स्मारक एक-दूसरे के सान्निध्य में ही नहीं, वरन् ऊपर-नीचे भी बने हुए हैं। तिथि तथा संवत् युक्त लेखों के अभाव में प्रत्येक स्मारक का इतिहास निर्धारित करना कठिन है। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही यहाँ स्मारक बनने लगे थे और यह क्रम बारहवीं शती तक चलता रहा। प्रयुक्त ईंटों के आकार-प्रकार विभिन्न इमारतों के समय निर्धारित करने में सहायक हैं।

कुशीनगर के अवशेष मुख्यतः दो स्थानों पर केंद्रित हैं—एक शालवन में, जहाँ भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे, और दूसरे मकुटबंधन चैत्य में, जहाँ उनका दाह-संस्कार किया गया था। परिनिर्वाण-स्थल अब माथा-कुँवर के कोट के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे स्थल का प्रतिनिधित्व करता है रामाभार का टीला। मल्लों का प्राचीन नगर संभवतः उस स्थान पर था जहाँ वर्तमान अनिरुधवा गाँव है। यह गाँव प्राचीन टीलों पर ही बसा हुआ है और कोट से लगभग २५,००० फुट दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है। अनिरुधवा के उत्तर-पूर्व भाग में एक ऊँचा टीला है। कनिंघम के अनुसार यह मल्लों के राजप्रासाद का अवशेष है। नगर के बाह्य भाग में ही बौद्ध-स्मारकों की रचना हुई थी। इसकी प्राचीर के कुछ अंश भी प्राप्त हुए हैं।

माथाकुँवर के कोट के गर्भ में परिनिर्वाण मंदिर तथा स्तूप छिपे हुए थे। मंदिर को १८७६-७७ ई० में कार्लायल ने खोदकर निकाला। मंदिर की दीवारें तो कुछ ऊँचाई तक बच रही थीं, परंतु उसकी छत बिलकुल ही नष्ट हो गई थी। उसके भीतर एक ऊँचे मंच पर भगवान् बुद्ध की २० फुट लंबी परिनिर्वाणमूर्ति स्थापित थी। बुद्ध जी दाहिनी करवट लेटे हैं। सिर उत्तर की ओर है। दक्षिण बाहु सिर के नीचे रक्खा है और दूसरा हाथ जंघा पर है। पैर एक-दूसरे के ऊपर स्थापित हैं। सिंहासन के अग्र-भाग में एक पटिया पर तीन शोकग्रस्त मूर्तियाँ अंकित हैं।[1] वे संभवतः आनंद, सुभद्र

१. इसी प्रकार की एक विशाल मूर्ति अजंता की २६ संख्यक गुफा में भी विद्यमान है।

तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ हैं। इसी पटिया पर पाँचवीं शती की लिपि में यह लेख उत्कीर्ण है—

'देयधर्म्मोयं महाविहार स्वामिनो हरिबलस्य ।
प्रतिमा चेयं घटिता दिन्नेन माथुरेण ।।'

स्पष्ट है कि इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक था स्वामी हरिवल और शिल्पी था मथुरा का दिन्न। यह मूर्ति टीले की ऊपरी सतह से १० फुट नीचे प्राप्त हुई थी। उस समय यह अत्यधिक टूटी हुई थी। कार्लायल ने मंदिर तथा मूर्ति की मरम्मत कराई। यह मंदिर मूर्ति के बाद का बना हुआ है। इसके नीचे प्राचीन मंदिरों के अवशेष विद्यमान हैं। परिनिर्वाण-मूर्ति ही कुशीनगर में सबसे अधिक पूज्य थी। इसी प्रकार की अन्य छोटी मूर्तियाँ भी खुदाई में मिली हैं।

मंदिर के पृष्ठ भाग में, परंतु उसी वेदी पर, परिनिर्वाण स्तूप बना हुआ है। इसको भी कार्लायल ने ही खोदकर निकाला था। उस समय यह बहुत ही जीर्णशीर्ण दशा में था। इसका अंड भाग तो बिलकुल ही नष्ट हो चुका था, केवल नीचे का भाग ही बच रहा था। इसके नीचे भी अन्य प्राचीन स्तूपों के अवशिष्ट भाग दबे हुए थे। हीरानंद शास्त्री ने इसके भीतरी भाग की परीक्षा की थी। ऊपर से पाँच फुट की गहराई पर उन्हें ईंटों के बने हुए दो स्वस्तिक-चिह्न मिले। कुछ और नीचे १४ फुट की गहराई पर एक वृत्ताकार कमरा-सा मिला। इसमें एक ताम्रघट रक्खा हुआ था, जिसका मुँह एक ताम्रपत्र द्वारा बंद था। घट में बालू, जले हुए कोयले, कौड़ी, मोती, माणिक तथा ताँबे की दो नलियाँ पाई गई। एक नली तो छूते ही टूट गई, परंतु दूसरी से राख, मोती, पन्ना और सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के ६ सिक्कों के साथ एक छोटी सी चाँदी की डिबिया भी प्राप्त हुई। उसके अंदर एक सोने की नली थी, जिसमें किसी तरल पदार्थ की दो बूंदें तथा भूरे रंग का कोई अन्य पदार्थ रक्खा था। ताम्रपत्र पर संस्कृत में 'निदान सूत्र' लिखा है। उसके अंत में स्वामी हरिबल का नाम आता है और यह भी उल्लिखित है कि यह ताम्रपत्र परिनिर्वाण चैत्य में स्थापित किया गया था। स्पष्टतः यह स्तूप भी पाँचवीं शती में बना था। अधिक नीचे खोदने पर, शिखर से ३४ फुट की गहराई पर, एक लघु स्तूप मिला। उसके एक पार्श्व में छोटा-सा आला था, जिसमें भगवान् बुद्ध की मृन्मयी मूर्ति आसीन थी। स्तूप के भीतरी भाग में मिट्टी का एक पात्र था, जिसमें मिट्टी और जले हुए कोयले थे। संभवतः वे किसी भिक्षु की चिता से लाकर रखे गए थे। यह छोटा स्तूप पाँचवीं शताब्दी से कुछ ही पहले का प्रतीत होता है।

परिनिर्वाण मंदिर तथा स्तूप के सान्निध्य में समय-समय पर स्तूप, मंदिर तथा विहार बनते रहे। कुछ इमारतें विश्रामालय अथवा पाकशाला प्रतीत होती हैं। स्तूप भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के हैं। कतिपय स्तूपों से प्राचीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं और एक के अंदर से मिट्टी का घट मिला है। अन्य स्तूप स्मारक मात्र थे, अथवा श्रद्धालु उपासकों द्वारा स्थापित हुए थे। विहार अन्यान्य स्थानों के विहारों की भाँति ही बने हुए थे। उनमें से कुछ तो बहुत ही विस्तृत तथा भव्य रहे होंगे। उनकी दीवारों की मोटाई से ही विदित होता है कि उनपर एक से अधिक खंड थे। कई प्राचीन विहारों के कुएँ तथा नालियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

भगवान् बुद्ध के दाह-स्थान पर भी अनेक स्मारक बने, जिनमे मकुट बंधन नामक विहार तथा चैत्य प्रमुख थे। आजकल यह स्थान 'रामाभार का टीला' नाम से विख्यात है। रामाभार झील के पश्चिमी किनारे पर एक विशाल स्तूप के अवशेष हैं। कनिंघम के समय में इसकी ऊँचाई ४९ फुट थी। यहाँ पर १८७७ में खुदाई हुई थी, परंतु मिट्टी की कतिपय मुहरों के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका। १९१०-१२ में इसकी पुनः खुदाई हुई। तब मौर्यकालीन ईटें प्राप्त हुई, जो इसकी प्राचीनता का परिचय देती हैं। अवशिष्ट भाग से यह भी विदित होता है कि यह स्तूप परिनिर्वाण स्तूप की अपेक्षा अधिक विशाल था।[१]

कसिया के वर्तमान ध्वंसावशेष आज भी कुशीनगर के विगत वैभव एवं समृद्धि का परिचय दे रहे हैं। वे इस बात के भी साक्षी हैं कि प्राचीन काल में बौद्ध जनता के लिए इस स्थान का कितना महत्व था। इसके खँडहरों में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई है, जिसमें पाषाण की मूर्तियाँ, मिट्टी की तथा धातुनिर्मित मुद्राएँ एवं मुहरें, विभिन्न प्रकार के पात्र, अस्त्र-शस्त्र, चित्रित प्रस्तर-खंड तथा नक्काशीदार ईटें सम्मिलित हैं। कुछ ऐसी ईटें भी प्राप्त हुई हैं जिनके तले-ऊपर रखने से कई प्रकार की आकृतियाँ बन जाती हैं। उपलब्ध मूर्तियाँ मिट्टी की अथवा पाषाण की हैं। उनमें बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं का बाहुल्य है। एक मूर्ति मायादेवी की है और एक अन्य संभवतः सारिपुत की है। इनके अतिरिक्त विष्णु, गणेश, गरुड़ आदि पौराणिक देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है। इन मूर्तियों में सबसे अधिक विख्यात एवं दर्शनीय बुद्ध की परिनिर्वाण प्रतिमा ही है, जिसका विवरण दिया जा

१. पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई के विवरणों के लिए १९०४-०५, १९०५-०६ १९०६-०७तथा १९१०-११की वार्षिक रिपोर्टें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

चुका है। एक अन्य बुद्धमूर्ति भी उल्लेखनीय है। श्याम पाषाण की यह खंडित मूर्ति अब 'माथाकुँवर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना कलचुरी-कालीन विहार में हुई थी। इसके पाद-पीठ पर ११ वी शताब्दी की लिपि में एक लेख भी उत्कीर्ण है, जिसके अक्षर अब मिट गए हैं। कुछ लाल पत्थर की मूर्तियाँ भी हैं, जो मथुरा से लाई गई थी। प्राचीन युग में मथुरा मूर्ति-कला का प्रधान केंद्र था और वहाँ के शिल्पियों द्वारा निर्मित देवमूर्तियों की सर्वत्र माँग रहती थी। मृन्मूर्तियों में कुछ पशु-पक्षियों की भी है।

खुदाई में धातु तथा पाषाण के बने हुए कुछ पात्र एवं अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं, जैसे—पत्थर की चक्की, सिल, नाँद, तश्तरी इत्यादि। धातुपात्रों में लोटा, कटोरी, कटोरा, चम्मच, घड़ा, घंटा, धूपदान इत्यादि सम्मिलित हैं। लोहे के चाकू, कीलें, खूँटियाँ तथा कुछ अस्त्र-शस्त्र भी प्राप्त हुए है। परिनिर्वाण स्तूप से स्वर्ण, रजत तथा ताम्र की लघुमंजूषाएँ भी मिली हैं, जिनमें धातुखंड रक्खे हुए थे। मिट्टी की बनी हुई वस्तुओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इनमें विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन, दीपक, मिट्टी की गोलियाँ तथा मनुष्य अथवा पशु आकृतिवाले बर्तन उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त कुछ मूँगा, मोती, माणिक, हाथीदाँत की मोहरें तथा कौड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत ही अल्प है।

कसिया की मृन्मयी मुद्राएँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं। वे सहस्रों की संख्या में प्राप्त हुई हैं। उनमें से अधिकांश तो कुशीनगर के ही दो प्रमुख संघारामों की है। कुछ एरंड, विष्णुद्वीप प्रभृति अन्यान्य विहारों की अथवा विशिष्ट व्यक्तियों की मुद्राएँ हैं। एक कुमारामात्य के अधिकरण की मुद्रा है। कुशीनगर के महापरिनिर्वाण एवं मकुट बंधन विहारों की प्राथमिक मुद्राओं पर अलग-अलग लेख तथा चिह्न अंकित है। एक पर दो शालवृक्षों के मध्य में बुद्ध जी का मृत शरीर एवं 'श्रीमहापरिनिर्वाण-महाविहारीयार्य भिक्षु संघस्य' आदि वाक्य लिखे हैं। दूसरे पर प्रज्वलित चिता तथा 'श्रीमकुट-बन्धन संघ' तथा 'श्रीबन्धन-महाविहारे-आर्यभिक्षु संघस्य' लेख हैं, परंतु दोनों ही विहारों की उत्तरयुगीन मुद्राएँ धर्मचक्र एवम् हिरण-चिह्न से अलंकृत हैं। वास्तव में यह सारनाथ-विहार का चिह्न था, परंतु क्रमशः सभी विहारों में इसका प्रचलन हो गया। एक मुद्रा पर 'आर्य अष्ट वृद्धचै' शब्द उत्कीर्ण हैं। संभवतः यह उन आठ स्तूपों की प्रतीक है जिनमें सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के धातु-खंड रक्खे गए थे। मिट्टी की छोटी-छोटी पटियाँ भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई हैं। उनपर बौद्ध 'धम्म परियाय' उत्कीर्ण है। किसी-किसी पटिया पर इसके साथ ही बुद्ध या बोधिसत्त्व की मूर्ति अथवा

स्तूप, चक्र आदि चिह्न भी अंकित हैं। कई पटियों पर मनुष्य का जर्जरित अस्थिपंजर मात्र बना हुआ है। अनुमान किया जाता है कि यह बुद्ध जी की तपस्या-मूर्ति है। ऐसी मूर्तियाँ गांधार कला में प्रायः पाई जाती हैं।

कुशीनगर में कुछ सिक्के भी मिले हैं, परंतु उनकी संख्या बहुत कम है। प्राचीनतम सिक्के जो यहाँ प्राप्त हुए हैं वे कुषाण शासक कैडफाइसेस द्वितीय तथा कनिष्क प्रथम के हैं। इनके अतिरिक्त गुप्त शासक चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम एवं शक क्षत्रप दामसेन के भी सिक्के मिले हैं। जयगुप्त नामक एक राजा के भी सिक्के पाए गए हैं।

सिक्कों की अपेक्षा उपलब्ध अभिलेखों की संख्या अधिक है। यद्यपि किसी भी लेख में तिथि अथवा संवत् का उल्लेख नहीं है, तथापि उनकी लिपियों से स्पष्ट है कि वे विभिन्न युगों के हैं। अधिकांश लेख मुद्राओं, मुहरों तथा पटियों पर उत्कीर्ण हैं। कुछ मूर्तियों पर अंकित हैं। बुद्ध की विशाल परिनिर्वाण-मूर्ति के लेख का वर्णन हो चुका है। इस मूर्ति के रचयिता शिल्पी दिन्न का नाम एक अन्य मूर्ति के पादपीठ पर भी उल्लिखित है। इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक भदंत सुवीर था। लेख इस प्रकार है—"देय धर्मोयं शाक्यभिक्षोः भदन्त सुवीरस्य कृतिर्दिन्नस्य।" यहाँ के मुख्य स्तूप के अंदर से एक ताम्रपत्र मिला था। इसपर निदान-सूत्र काली स्याही से लिखा हुआ है। केवल प्रथम पंक्ति ही उत्कीर्ण है। इसके अंत में लिखा है—"(दे) य धर्मोयं अने (क विहार) स्वामिनो हरिबलस्य य (दत्र) पु(ण्यम्) तद् (भ) वतु सर्वसत्वानाम् अनुत्तरज्ञानावाप्तये...(महापरि नि) र्वाण चैत्ये ताम्रपट्ट इति।" यह हरिबल स्वामी संभवतः वही हैं जिन्होंने परिनिर्वाण-प्रतिमा की स्थापना कराई थी। एक अन्य ताम्रपत्र पर तीन पंक्तियों में 'धम्म-परियाय' उत्कीर्ण है। ऐतिहासिक महत्त्व का केवल एक ही अभिलेख उपलब्ध हुआ है और वह भी खंडित है। यह लेख कुशीनगर के कलचुरी शासकों का है। जिस श्याम प्रस्तरपट पर यह उत्कीर्ण है वह अब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कसिया के खँडहरों से उपलब्ध सामग्री उसके महत्त्व एवं इतिहास के अनुपात में बहुत कम है। इसी कारण कतिपय विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि यहाँ के निवासी भिक्षु अपने मंदिरों और विहारों के नष्ट होने से पहले ही उनकी बहुमूल्य सामग्री अन्यत्र हटा ले गए थे। परंतु यह भी संभव है कि स्वयं आक्रमणकारियों ने ही उनकी संपत्ति लूट ली हो।

बीसवीं शताब्दी में कुशीनगर का भाग्य-चक्र पुनः प्रवर्तित हुआ। आज फिर

वहाँ का वातावरण भगवान् बुद्ध की वाणी से निनादित हो रहा है। इस शुभ परिवर्तन का मुख्य श्रेय भिक्षु महावीर को है। १८९० से १९२० में अपनी मृत्यु पर्यंत यह कर्मठ भिक्षु कुशीनगर के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील रहा। तत्पश्चात् महाथेरा चंद्रमणि ने उस भार को ग्रहण किया। इन दोनों व्यक्तियों ने इस प्राचीन तीर्थ की सर्वांगीण उन्नति के लिए अथक परिश्रम किया। इस सुकार्य में उन्हें ब्रह्मदेश के यू–फोच्यू तथा चटगाँव के खी-जरी—जैसे दानशील व्यक्तियों से यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई। सर्वप्रथम उन्होंने भिक्षुओं के रहने के लिए एक नवीन विहार का निर्माण कराया। तत्पश्चात् प्राचीन परिनिर्वाण मंदिर एवं उसके समीपस्थ परिनिर्वाण स्तूप का जीर्णोद्धार कराया गया। यह कार्य १९२६-२७ में पूर्ण हुआ। इस समय स्तूप की ऊँचाई ७५ फुट है और परिधि १६५ फुट। ब्रह्मदेश के बौद्ध यात्रियों ने इस स्तूप को तथा बुद्ध की परिनिर्वाण मूर्ति को भी सुवर्णान्वित करा दिया है। लगभग उसी समय माथाकुँवर नामक बुद्ध-मूर्ति के लिए भी प्राचीन आधार पर मंदिर का निर्माण हुआ। इस समय यह स्तूप तथा मंदिर ही कसिया के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थान है। साथ ही यह बौद्ध तीर्थ शिक्षा एवं संस्कृति का भी केंद्र बन गया है। यहाँ पाठशाला, स्कूल तथा कालेज और पुस्तकालयों की स्थापना हो चुकी है और प्रतिवर्ष बुद्ध जयंती के अवसर पर मेला लगता है, जिसमें बहुसंख्यक व्यक्ति सम्मिलित होते है। उस समय बुद्ध-पूजा, रथयात्रा, धर्मोपदेश आदि का आयोजन किया जाता है। इस महोत्सव का प्रारंभ १९२४ में हुआ था। आगंतुक यात्रियों के लिए अनेक धर्मशालाएँ बन गई है, जिनमें बिड़ला द्वारा निर्मित 'आर्य विहार' मुख्य है। अन्य आवश्यक सुविधाएँ भी शासन द्वारा की गई है।

५. श्रावस्ती (सहेत-महेत)

कनिंघम ने श्रावस्ती (सावत्थी) की पहचान सहेत-महेत (जि० गोंडा-बहराइच) से की थी। यह स्थान उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से पक्की सड़क के रास्ते दस मील दूर है। बहराइच से इसकी दूरी २९ मील है।

श्रावस्ती नगरी प्राचीन उत्तर कोसल राज्य की राजधानी थी। विष्णुपुराण (अध्याय २, अंश ४) के अनुसार सूर्यवंशी राजा श्रवस्त या श्रावस्तक के द्वारा इसकी स्थापना हुई। श्री राम ने अपने पुत्र लव को श्रावस्ती का शासक बनाया।

बौद्ध तथा जैन साहित्य में सावत्थि या सावत्थिपुर नाम से इस नगर की चर्चा बहुत मिलती है। पाली टीकाओं में नगर के नाम के संबंध में लिखा गया है कि

जहाँ पर सब वस्तुएँ सुलभ हों वह नगर सावत्थी है (सब्बं एत्थ अत्थीति सावत्थी)।[1] 'श्रावस्ती' का ही बिगड़ा हुआ रूप 'सहेत' है।[2]

भगवान् बुद्ध के समय मे उत्तर भारत के प्रमुख छः नगरों में श्रावस्ती की गणना थी। अन्य पाँच नगर चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशांबी तथा वाराणसी थे। उस समय श्रावस्ती में बड़े धनाढच श्रेष्ठी (सेट्ठि) रहते थे, जिनके पास करोड़ों की संपत्ति थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे इस नगर में उन्नति पर थे। प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण श्रावस्ती नगरी वस्तुओं के आयात-निर्यात का प्रमुख केंद्र थी।

बुद्ध के समय में उत्तर कोसल का शासक प्रसेनजित् (पसेनदि) था। जब बुद्ध राजगृह में निवास कर रहे थे, तब महाराज प्रसेनजित् ने वहाँ जाकर उनके दर्शन किए। बुद्ध ने उन्हें कुमारदृष्टांत सूत्र का उपदेश दिया।

बौद्ध ग्रंथों में प्रसेनजित् के पुत्र राजकुमार जेत और श्रावस्ती के धनी सेठ (महासेट्ठि) सुदत्त की कथा मिलती है। सुदत्त का दूसरा नाम अनाथपिंडिक था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी प्रबल इच्छा थी कि महात्मा बुद्ध के निवास के लिए श्रावस्ती नगरी के निकट एक सुदर विहार का निर्माण कराए। उसने इसके लिए नगरी के दक्षिण एक मील दूर राजकुमार जेत के उद्यान को सबसे उपयुक्त समझा। जेत से सुदत्त ने प्रार्थना की कि वह विहार के लिए उपवन की भूमि दे दे। राजकुमार इस शर्त पर राजी हुआ कि जितनी भूमि पर सुदत्त सोने के सिक्के बिछा देगा उतनी उसे प्राप्त हो जायगी। सुदत्त ने गाड़ियों में भरकर स्वर्ण-मुद्राएँ मँगाई और उन्हें भूमि पर बिछाकर १८ करोड़ में उद्यान को खरीद लिया। फिर उसने वहाँ सारिपुत्त के निरीक्षण में अनेक शालाओं से युक्त विशाल जेतवन विहार का निर्माण कराया। महात्मा बुद्ध को आदरपूर्वक बुलाकर उसने उन्हें यह विहार अर्पित किया। इस प्रसिद्ध विहार में अनेक दर्शनीय कुटियाँ थीं।

भगवान् बुद्ध को जेतवन विहार बहुत प्रिय था। यहाँ उन्होंने पच्चीस वर्ष तक निवास कर भिक्षुओं एवं गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को उपदेश दिए। उनके द्वारा ४१६

१. पपंचसूदनी (१, पृ० ५९) में 'सावत्थी' नाम की व्याख्या इस प्रकार दी है—"यं किंच मनुस्सानं उपभोग परिभोगं सब्बं एत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थ समायोगे च 'किं भण्डं अत्थीति' पुच्छिते सब्बं अत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी।"

२. एक अनुश्रुति के अनुसार श्रावस्ती के महाश्रेष्ठि (महासेट्ठि) सुदत्त के नाम पर उसका नाम सहेत-महेत हो गया।

जातक कथाएँ एवं अनेक सूत्र इसी स्थान पर कहे गए। इस विहार में सहस्रों भिक्षु निवास करते थे। गंधकुटी में स्वयं भगवान् बुद्ध का निवास था। अन्य कुटियों के नाम करेरि कुटी, कोसंब कुटी, चंदनमाला तथा सललघर थे। अंतिम का निर्माण संभवतः महाराजा प्रसेनजित् के द्वारा कराया गया था और अन्य का सुदत्त के द्वारा। बौद्ध साहित्य से यह भी पता चलता है कि जेतवन की भूमि के मूल्य रूप में १८ करोड़ की जो संपत्ति राजकुमार जेत को प्राप्त हुई थी तथा पेड़ों की बिक्री का जो धन मिला था उसे उसने एक विशाल भवन के निर्माण में व्यय किया। इस भवन को उसने बौद्ध धर्म के लिए समर्पित कर दिया।

जेतवन विहार के उत्तर-पूर्व में भगवान् बुद्ध की समृद्ध शिष्या विशाखा ने 'पूर्वाराम' नामक एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया। इसका निर्माण मोग्गलायन की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। अन्य विहार 'राजकाराम' तथा 'मल्लिकाराम' थे।

बुद्ध से शत्रुता रखनेवाले देवदत्त ने श्रावस्ती में कई बार बुद्ध के प्राण लेने की चेष्टा की, परंतु वह अपने प्रयत्नों में विफल रहा। उसकी मृत्यु श्रावस्ती में ही हुई।

प्रसेनजित् का पुत्र विड़ूडभ बौद्ध धर्म से चिढ़ता था। उसकी माँ शाक्य-वंशीय महानाम की दासी से उत्पन्न पुत्री थी। विड़ूडभ शाक्यों से बड़ा द्वेष मानता था। उसने मौका पाकर बहुसंख्यक शाक्यों का वध कराकर अपने क्रोध को शांत किया।

बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों आनंद, कुमार कास्यप आदि ने श्रावस्ती तथा कोसल के अन्य स्थानों में बुद्ध की शिक्षा का प्रचार जारी रक्खा। सम्राट् अशोक के समय में भी जेतवन की बड़ी प्रसिद्धि थी। अशोक अपनी धर्म-यात्रा में जेतवन भी गया और उसने वहाँ उन चार स्तूपों की पूजा की जो सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महा-काश्यप तथा आनंद की स्मृति में बनाए गए थे।

बौद्ध ग्रंथ महावंश से ज्ञात होता है कि सिंहल के शासक दुट्ठगामनि के राज्य-काल में जेतवन विहार से एक सहस्र भिक्षु महाथेर पियदस्सि की अध्यक्षता में लंका गए।

भारहुत तथा बोधगया के कई शिलापट्टों पर भगवान् बुद्ध के समय की घटनाएँ प्रदर्शित हैं। जेतवन विहार के सुदत्त द्वारा क्रय किए जानेवाला दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपवन की भूमि पर सिक्के बिछाए जा रहे है। पास में सिक्कों से भरी हुई बैलगाड़ियाँ दिखाई गई हैं। भूमि-दानार्थ एक व्यक्ति जल का कमंडलु लिए हुए खड़ा है। आश्चर्य-चकित दर्शक यह दृश्य देख रहे हैं। अन्य पाषाण-फलकों पर

महाराजा प्रसेनजित् के बुद्ध के सम्मानार्थ गमन,[१] बुद्ध के चिह्नों की पूजा आदि दृश्य अंकित हैं।

कुषाणकाल में भी श्रावस्ती उत्तर भारत का एक प्रमुख नगर था। बल नामक भिक्षु के द्वारा बनवाई गई एक विशालकाय बोधिसत्त्व-प्रतिमा श्रावस्ती में प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा मथुरा के कलाकारों द्वारा निर्मित हुई और वहां से श्रावस्ती भेजी गई। इस मूर्ति के लेख से पता चलता है कि ईसवी प्रथम शताब्दी में जेतवन विहार सर्वास्तिवादी बौद्धों के अधिकार में था। भिक्षु बल की दो अन्य मूर्तियाँ सारनाथ तथा मथुरा में प्राप्त हुई हैं। इनके लेखों से विदित होता है कि सर्वास्तिवादी मत का प्रचार इस काल में सारनाथ तथा मथुरा में भी हो गया था।

कुषाणकाल के पश्चात् श्रावस्ती की अवनति आरंभ हुई। जब पाँचवीं शती के आरंभ में फाहियान श्रावस्ती आया तब उसने देखा कि इस नगर में केवल २०० परिवार के लगभग रह गए थे। विहारों के स्थान पर नए मंदिर बन गए थे। समृद्ध नगरी अब उजाड़ हो गई थी। उसके दक्षिण में जेतवन विहार था, जिसका कुछ वर्णन इस यात्री ने किया है। उसने लिखा है कि विहार के समीप स्वच्छ जल के तालाब थे। उपवन में विविध रंग के फूलवाले लतावृक्ष थे। उसने जेतवन विहार को सात-मंजिली इमारत कहा है और लिखा है कि अकस्मात् आग लगने के कारण वह नष्ट हो गई। उसने बुद्ध की एक चंदन की मूर्ति का भी उल्लेख किया है, जो श्रावस्ती मे विद्यमान थी। इस यात्री के समय में केवल जेतवन विहार में भिक्षुओं की काफी संख्या थी। इस विहार से कुछ दूर विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम विहार अब बिलकुल उजड़ गया था। हिंदुओं ने श्रावस्ती में अपने अनेक मंदिर बना लिए थे।

सातवीं शती मे जब हुएन-सांग श्रावस्ती आया तब उसने इस नगर को बिलकुल उजड़ी अवस्था में पाया। नगर-दीवार लगभग २० ली (३ मील) के विस्तार में थी। नगर के निवासियों की संख्या बहुत घट गई थी। यद्यपि बौद्ध संघारामों की संख्या कई सौ थी, पर उनमें निवास करनेवाले बहुत थोड़े लोग थे। देवमंदिरों की संख्या १०० के आसपास थी, जिनमें बहुत से उपासक रहते थे। हुएन-सांग ने श्रावस्ती के प्राचीन भग्नावशेषों का जिक्र किया है। इनमें कई स्तूपों तथा विहारों के चिह्न एवं राजा

१. प्रसेनजित् की श्रद्धा वैदिक धर्म और कर्मकांडी पुरोहितों पर अधिक थी और बुद्ध के उपदेशों से वह बहुत कम प्रभावित हो सका। परंतु बुद्ध के प्रति वह बराबर सम्मान का भाव रखता था।

प्रसेनजित् के महल का अंश भी था। जेतवन विहार का उल्लेख करते हुए इस यात्री ने लिखा है कि वह नगरी से लगभग एक मील दक्षिण में था। उसके पूर्वी दरवाजे पर ७० फुट ऊँचे दो अशोक-स्तंभ थे। बाएँ खंभे के ऊपर एक चक्र था और दाएँ के ऊपर बैल की मूर्ति। जेतवन विहार के पास स्थित कई भग्नावशिष्ट स्तूपों का उल्लेख हुएन-सांग ने किया है। जेतवन से लगभग आधा मील पश्चिम-उत्तर अंधवन नामक वन था, जिसमें भक्त लोगों ने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया था और अभिलेख लिखवाए थे।

आठवीं-नवीं शती के कुछ अभिलेख श्रावस्ती से मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि इस काल में भी जेतवन बौद्ध धर्म का केंद्र था। बारहवी शती तक यहाँ पर बौद्ध भिक्षुओं के निवास का पता चलता है। इन भिक्षुओं को कनौज-शासन का संरक्षण प्राप्त था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के समय से लेकर बारहवी शती तक श्रावस्ती बौद्ध धर्म के एक महान् केंद्र के रूप में प्रसिद्ध रही। बारहवीं शती के बाद श्रावस्ती के संबंध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। संभवतः इसके बाद ही बौद्ध भिक्षु राजनैतिक परिस्थितियों के कारण जेतवन विहार छोड़कर चले गए और यह स्थान फिर पूर्णतः निर्जन हो गया।

गत शताब्दी में प्राचीन श्रावस्ती नगरी के अभिज्ञान की ओर यूरोपीय विद्वानों का ध्यान गया। १८६३ ई० में जनरल कनिंघम ने सहेत-महेत के कुछ टीलों की खुदाई कर अपना यह मंतव्य प्रकट किया कि यहीं प्राचीन श्रावस्ती थी। सहेत की खुदाई में उन्हें विशालकाय बोधिसत्त्व मूर्ति मिली, जिसे भिक्षु बल ने श्रावस्ती में स्थापित कराया था। जहाँ यह मूर्ति मिली, उसे कनिंघम ने कोसंब कुटी का स्थान अनुमान किया। १८७६ में कनिंघम ने फिर उत्खनन का कार्य किया, जिसमें उन्हें १६ स्तूपादि इमारतों के भग्नावशेष मिले। कोसंब कुटी के उत्तर में प्राप्त इमारत के खँडहर की पहचान उन्होने गंध कुटी से की, जिसमें भगवान् बुद्ध स्वयं रहते थे।[1]

डा० हॉय द्वारा १८७५-७६ में महेत में खुदाई का कार्य कराया गया। उन्हें यहाँ जैन तीर्थंकरों की कई प्रतिमाएँ मिलीं। जैन अनुश्रुति के अनुसार श्रावस्ती एक बड़े जैन तीर्थ के रूप में भी प्रसिद्ध था। इसका संबंध कई तीर्थंकरों के साथ रहा है।

१. आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द ११, पृ० ७८ तथा आगे; जिल्द १, पृ० ३३० तथा आगे।

डा० हॉय ने उत्खनन-कार्य १८८४-८५ में भी जारी रखा। उसके फलस्वरूप उन्हें ३४ प्राचीन इमारतों के अवशेष प्राप्त हुए।[1]

कनिंघम तथा हॉय द्वारा खुदाई मे कई शिलालेख, मूर्तियाँ, मिट्टी की मुहरें तथा ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुई। अधिकांश वस्तुएँ अब लखनऊ तथा कलकत्ता के संग्रहालयो में सुरक्षित है।

१९०७-८ तथा १९१०-११ में भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा फिर से श्रावस्ती में खुदाई का कार्य कराया गया।[2] महेत की खुदाई से ३०० से अधिक गुप्तकालीन मृन्मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इनमें से कुछ पर रामायण तथा पुराणों के दृश्य हैं। अनेक मृत्फलक कला की दृष्टि से अत्यंत सुदर है। ये लखनऊ संग्रहालय में हैं।

भगवान् बुद्ध की २५०० जयंती के अवसर पर श्रावस्ती मे आनेवाले बहुसख्यक यात्रियों की सुविधा के लिए भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा आवश्यक प्रबंध किए गए है। बलरामपुर स्टेशन से सहेत के आगे तक ११ मील की सड़क कोलतार की बना दी गई है। वहाँ से महेत तक पक्की सड़क बनाई गई है। आगत यात्रियों के लिए एक नलकूप का भी प्रबंध किया जा रहा है। बलरामपुर स्टेशन के विश्रामगृह को विस्तृत बनाया गया है। श्रावस्ती में एक जैन धर्मशाला है जिसमें यात्री ठहरते है। सरकार द्वारा भी यात्रियों के ठहरने की उचित व्यवस्था की जा रही है।

---

१. डब्ल्यू हॉय, 'सेत महेत', जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, जिल्द ६१, भाग १ (१८९२), पृ० १–६४।

२. आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, एनुअल रिपोर्ट १९०७-०८, पृ० ८१ तथा आगे; १९१०-११, पृ० १ और आगे।

अध्याय १६

बौद्ध मूर्तिकला

बौद्ध मूर्तिकला का प्रारंभ सम्राट् अशोक के समय से मिलता है। उसके शासन-काल से बौद्ध मत भारत का एक लोकधर्म हो गया। अशोक ने उसके प्रसार में बहुमुखी योग दिया। मूर्ति एवं वास्तुकला का भी उपयोग इसके लिए किया गया।

अशोक के स्तंभ कला के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। उत्तर प्रदेश में ये स्तंभ पूरे या खंडित रूप में सारनाथ, कौशांबी, प्रयाग और संकिसा में विद्यमान हैं। नेपाल राज्य की तराई में स्थित लुंबिनी तथा निगलीवा गाँवों में भी ये स्तंभ हैं। ये सभी चनार के पत्थर बने हैं। अशोक को यह पाषाण बहुत पसंद था। स्तंभों के दो भाग हैं—एक नीचे की लाठ और दूसरा ऊपर का शीर्ष या परगहा। इन दोनों पर बहुत बढ़िया पालिश (ओप) मिलती है।[1]

स्तंभों के लाठ गोलाकार तथा चढ़ाव-उतारदार हैं। ऊँचाई में ये ४०-५० फुट तक हैं। प्रत्येक का वजन लगभग ५० टन है। लाठ के ऊपर के शीर्ष के पाँच भाग हैं—(१) इकहरी या दुहरी पतली मेखला जो लाठ के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर कमल-पंखड़ियों का अलंकरण जो घंटाकृति-जैसा है, (३) उसके ऊपर कंठा, (४) गोया चौखूँटी चोकी, तथा (५) उसके सिरे पर बैठे हुए एक या अधिक पशु। अन्य अलंकरणों में तो सुंदरता है ही, पर विशेष उल्लेखनीय पशुओं की आकृतियाँ हैं। इलाहाबाद और रामपुरवा के स्तंभों के ऊपर बैलों की आकृतियाँ बनी हैं। साथ में कमल आदि जो अलंकरण चुने गए हैं वे भी अत्यंत सजीव हो उठे हैं। शीर्ष के सिरे पर के जानवरों को चारों ओर से कोरकर गढ़ा गया है। ये जानवर सिंह, हाथी[2], बैल या घोड़ा हैं। इन चारों का संबंध भगवान् बुद्ध के साथ माना जाता है।

१. इस ओप के विधान के संबंध में कई मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यह वज्रलेप या अन्य कोई मसाला है। दूसरे मतानुसार यह पत्थर की घुटाई के कारण उत्पन्न हुई है। दूसरा मत ही ठीक ज्ञात होता है। द्रष्ट० राय कृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला (काशी, सं० १९९६), पृ० २४। यह विचार कि इस ओप को ईरान या यूनान से लिया गया, युक्तिसंगत नहीं है।

२. परगहों के अतिरिक्त उड़ीसा के धवली नामक स्थान में हाथी की एक प्रतिमा चट्टान में कोरकर बनाई गई है, जो अशोक के समय की है।

सारनाथ के शीर्ष या परगहे की चौकी सबसे सुंदर है। उसपर उक्त चारों जानवर चार पहियों के बीच उभारकर बनाए गए हैं। चारों पहिए धर्मचक्र को सूचित करते हैं, जिसका प्रवर्तन सबसे पहले भगवान् बुद्ध द्वारा सारनाथ में किया गया। सिरे की चार सिंहाकृतियों के ऊपर भी एक धर्मचक्र था, जिसके टुकड़े प्राप्त हुए हैं। इस धर्मचक्र का व्यास दो फुट नौ इंच था। सिरे पर के सिंहों का अंकन अत्यंत सजीव है। चारों को पीठ से पीठ मिलाए हुए दिखाया गया है। उनके अंग-प्रत्यंग गठीले हैं और बड़ी सफाई से गढ़कर बनाए गए हैं। लहरदार बालों की बारीकी भी दर्शनीय है। पहले इन सिंहों की आँखों में संभवतः मणियाँ जड़ी हुई थीं। यह परगहा निस्संदेह भारतीय मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।[1] अशोक के समय की मूर्तिकला की यह विशेषता है कि उसमें सजीवता और निखारपन मिलता है और कहीं भी भद्दी या बेडौल रचना नहीं मिलती।

मौर्यकालीन और परवर्ती भारतीय कला में अनेक ऐसे अभिप्राय या अलंकरण मिलते हैं जो सुमेर, असीरिया, ईरान आदि की कलाओं में भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ ये हैं—सपक्ष सिंह या बैल, नर-मकर, नर-अश्व, मेष-मकर, गज-मकर, वृष-मकर, सिंह-नारी आदि। इनके संबंध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता रही है कि भारतीय कलाकारों ने उन्हें ईरान या अन्य किसी पश्चिमी देश से लिया। डा० आनंद कुमार स्वामी ने ऐसे अभिप्रायों की एक लंबी सूची दी है और अपना यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का पश्चिमी (लघु) एशिया से व्यापारिक संबंध बहुत पुरातन रहा है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि अन्य क्षेत्रों की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुत सी बातें एक-दूसरे से साम्य रखती हुई पाई जायँ।[2] संभव है कि उक्त अलंकरणों आदि का भारत तथा ईरान आदि देशों में आयात एक ही स्थान से हुआ हो।[3]

चिह्नों या प्रतीकों की पूजा

अशोक के समय से लेकर ई० पू० प्रथम शती के अंत तक भगवान् बुद्ध की मूर्ति-पूजा नहीं मिलती। बुद्ध तथा धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त करने के लिए कुछ सांकेतिक

१. इसके अनुकरण पर साँची, मथुरा आदि स्थानों में भी सिंह-शीर्षों का निर्माण किया गया, पर उनकी कला निम्न कोटि की है।

२. आनंद के० कुमार स्वामी—हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० ११–१४।

३. अशोक की कृतियों के अतिरिक्त मथुरा, पटना आदि से जो विशालकाय यक्ष-प्रतिमाएँ मिली हैं वे विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। उनमें विदेशीपन नहीं है।

चिह्नों की कल्पना कर ली गई थी। ये चिह्न धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, उष्णीष, भिक्षा-पात्र आदि थे। सारनाथ में बुद्ध द्वारा धर्म का जो प्रथम उपदेश दिया गया था उसे एक चक्र द्वारा व्यक्त किया जाता था। यह नया धर्म 'धम्मचक्कपवत्तनसुत्त' की संज्ञा द्वारा अभिहित हुआ। परवर्ती काल में इसकी अभिव्यक्ति इस रूप में मिलती है कि भगवान् बुद्ध बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियाँ इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। बोधगया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे उन्हें बुद्धत्व या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई उसकी संज्ञा 'बोधिवृक्ष' प्रसिद्ध हुई। इस वृक्ष का चित्रण भी प्रारंभिक कला में मिलता है। प्रायः वृक्ष को एक बाड़े के अंदर दिखाया जाता है, जिसे 'वेदिका' कहते हैं। तीसरा मुख्य चिह्न स्तूप था। बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष स्तूपों के नीचे रखे जाते थे। अतः स्तूप भी पूजा का एक प्रमुख चिह्न हो गया। इसी प्रकार बुद्ध की उष्णीष (पगड़ी), भिक्षापात्र आदि का पूजन भी सांकेतिक चिह्नों के अंतर्गत था।

साँची, भारहुत और बोधगया से जो प्रारंभिक कलाकृतियाँ मिली हैं उनमें उक्त चिह्नों का ही पूजन मिलता है। उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के दो प्रमुख कला-केंद्रों, मथुरा तथा सारनाथ, से ई० पूर्व के जो बौद्ध कलावशेष मिले हैं उनपर भी ये चिह्न ही मिलते हैं, मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा नहीं उपलब्ध होती। इसका एक मुख्य कारण यह है कि अशोक के समय में और उसके बाद उत्तर भारत में प्रायः थेरवादी (हीनयानी) बौद्धों का जोर था। वे लोग प्रतीकों या स्मारकों की पूजा में ही विश्वास करते थे मूर्ति-पूजा में नहीं। विभज्यवादिन्, सर्वास्तिवादिन् आदि इनकी अनेक शाखाएँ थीं। इनके मुकाबले में महासंघिक (महायान) मतवाले खड़े हुए। ये लोग मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण के पक्ष में थे। प्रारंभ में इनकी संख्या और शक्ति अधिक नहीं थी, अतः प्रतिमा-पूजन का प्रचलन न हो सका। मथुरा से शक-शासक राजुवुल और उसके पुत्र शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) का एक परगहा मिला है,[१] जिसपर खरोष्ठी लिपि में कई लेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा में थेरवाद मतवाले बौद्धों की सर्वास्तिवादिन् शाखा का जोर था। इनमें तथा महासंघिक लोगों में प्रायः धार्मिक विवाद होते रहते थे। एक बार सर्वास्तिवादियों ने महासंघिकों से शास्त्रार्थ करने के लिए नगर नामक स्थान (अफगानिस्तान के जलालाबाद जिले में) से एक प्रसिद्ध विद्वान् को बुलाया था।

१. यह महत्त्वपूर्ण परगहा अब ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में है। इसकी एक प्रतिकृति मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।

बुद्ध प्रतिमा का प्रारंभ

परंतु मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण अधिक समय तक रोका न जा सका। उत्तर भारत में शुंग-काल में भक्ति की लहर प्रबल हो चली थी। विदेशी लोग तक विष्णु के भक्त होने लगे थे। यूनानी राजा अंतलिकित के शासन-काल में हेलियोदोर नामक यवन ने बेसनगर में विष्णु के गरुड़-स्तंभ की स्थापना की। हिंदू देवों[१] तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण शुंग-काल में होने लगा था। भक्ति की जो धारा इस युग में बही उससे बौद्ध धर्म अछूता न रह सका। अपने धर्म की ओर अधिक लोगों को उन्मुख करने के लिए बौद्धों ने यह आवश्यक समझा कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण किया जाय।

ई० सन् के आरंभ से उत्तर भारत में कुषाण राजाओं का शासन भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध हुआ। कुषाण-सम्राट् कनिष्क (७८-१०१ ई०) बौद्ध मत का पोषक होने के साथ-साथ कला-प्रेमी था। उसके समय में मथुरा के शिल्पियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। मथुरा बौद्ध धर्म तथा मूर्ति कला का एक बड़ा केंद्र बन गया। विविध धर्मों से संबंधित सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण कुषाण-काल में यहाँ हुआ।[२] मथुरा की बनी हुई मूर्तियों की माँग बाहर भी बढ़ी और वे सुदूर स्थानों तक भेजी जाने लगीं।[३]

बोधिसत्त्व तथा बुद्ध प्रतिमाएँ

कनिष्क के शासन-काल के प्रारंभ से बोधिसत्त्व और बुद्ध की विशाल प्रतिमाओं

१. मथुरा से प्राप्त ई० पूर्व दूसरी शती की बलराम की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह इस समय राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है। जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण भी ईसवी सन् के पहले प्रारंभ हो गया था, जिसके प्रमाण मथुरा कला में उपलब्ध हैं।

२. कनिष्क और उसके वंशजों के समय की निर्मित बहुसंख्यक बुद्ध-मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। इनपर के लेखों से ज्ञात होता है कि इस काल में यहाँ अनेक बौद्ध स्तूपों, चैत्यों, विहारों के अतिरिक्त पुण्यशाला, पुष्करिणी, कूपादि का बड़ी संख्या में निर्माण किया गया। इन लेखों से तत्कालीन धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

३. मथुरा-कला में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व-प्रतिमाएँ सारनाथ, कौशांबी, श्रावस्ती, साँची, तक्षशिला तक में मिली हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है।

का निर्माण होने लगा। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की मिली हैं—एक खड़ी हुई और दूसरी पद्मासन पर स्थित। ज्ञान या संबोधि-प्राप्ति के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्त्व' थी और उसके बाद 'बुद्ध' हुई। इन दोनों की प्रतिमाओं में अंतर यह है कि बोधिसत्त्व को मुकुट, ग्रैवेयक आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राजवेश में दिखाया जाता है, पर बुद्ध को इनसे रहित केवल वस्त्र (चीवर) धारण किए हुए। बुद्ध के सिर पर बालों का जटाजूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व या ज्ञानसंपन्नता का सूचक है। महायान संप्रदाय वालों की यह मान्यता है कि जीवों पर कृपा करके तथागत का पृथ्वी पर आगमन बोधिसत्त्व-रूप में होता है और फिर वे बुद्धत्व या निर्वाण को प्राप्त होते हैं। भागवत मत के अवतारवाद से यह विचार बहुत मिलता-जुलता है। गौतम बुद्ध से पहले अनेक बुद्धों के होने की कल्पना बौद्ध मत में है। अशोक के समय में और उसके बाद भी यह विश्वास मिलता है। अशोक ने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत कराई थी और नेपाल तराई के निगलीवा स्थान पर एक स्तंभ भी उनके सम्मान में बनवाया था। ये कनकमुनि गौतमबुद्ध के पहले बुद्ध हुए थे।

मथुरा-कला

कुषाण-काल में मथुरा में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व की जो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं वे प्रायः विशाल और हृष्ट-पुष्ट हैं।[1] उन्हें चारों ओर से कोर कर निर्मित किया गया है, जिससे उनका दर्शन चारों ओर से सुलभ हो।[2] उन्हें प्रायः योगी रूप में प्रदर्शित किया गया है। मुख पर मूछें नहीं मिलतीं। परंतु पश्चिमोत्तर भारत की गांधार कला की मूर्तियों पर मूछें दिखाई जाती हैं।

अब प्रश्न यह है कि भारत में सबसे पहले बुद्ध-मूर्ति का निर्माण कहाँ हुआ। इस विषय को लेकर विद्वानों में काफी विवाद हुआ है। एक मत के अनुसार भारत के

१. मथुरा संग्रहालय में कई ऐसी प्रतिमाएँ हैं। मथुरा के बल भिक्षु द्वारा निर्मित जो विशालकाय प्रतिमाएँ सारनाथ तथा श्रावस्ती में मिली हैं उनमें भी ये लक्षण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

२. गुप्तकालीन प्रतिमाओं में प्रायः सामने का ही भाग दिखाया जाता था; मूर्तियों को कोर कर गढ़ने की प्रथा नहीं मिलती।

जिस पाषाण का प्रयोग मथुरा की मूर्तियों में किया गया वह लाल बलुआ पत्थर है, जिसपर सफ़द चित्तियाँ होती हैं। यह पत्थर मथुरा के समीप रूपबास, ताँतपुर, बयाना आदि में मिलता है।

पश्चिमोत्तर गंधार प्रदेश में प्रचलित कला में सर्वप्रथम बुद्ध-मूर्ति का निर्माण हुआ। दूसरा पक्ष इसका श्रेय मथुरा-कला को देता है। प्रथम मत के पोषक फूशे, विन्सेंट स्मिथ तथा जॉन मार्शल हैं। इनका कहना है कि गांधार शैली, जोकि पूर्णतया यूनानी कला की उपज है, बुद्ध-मूर्ति की जन्मदात्री है तथा मथुरा-कला का स्रोत भी वही है।

दूसरा मत इसके प्रतिकूल है। इसके समर्थक डा० कुमारस्वामी, हेवेल, जायसवाल आदि हैं। इन लोगों की मान्यता है कि भारतीय कला के वस्तु-विषय तथा उपादान कुषाणों के समय गंधार पहुँचे। दूसरा दल यह मानता है कि पद्मासन में स्थित योगी-रूप में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण बिलकुल भारतीय कल्पना है। इन विद्वानों ने इस बात की पुष्टि की है कि बुद्ध-मूर्ति का निर्माण मथुरा कला में आरंभ हुआ। मथुरा की कला-शैली मध्यभारत की भारहुत तथा साँची की शैली के साथ-साथ चल रही थी। शुंगकाल की तथा कुषाणकाल के आरंभ की जो मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं उनपर प्राचीन यक्ष-प्रतिमाओं[१] तथा साँची और भारहुत की कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह कलाशैली गांधार की वास्तविकता-प्रधान शैली से भिन्न है। पद्मासन में बैठी हुई बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ उस परंपरा की हैं जिसे हम भारतीय साहित्य में तथा मोहेंजोदड़ो से लेकर प्राचीन जैन मूर्तियों में पाते हैं। इन बातों को देखते हुए यह माना नहीं जा सकता कि मथुरा की मूर्तिकला पर मूलतः गांधार कला की छाप है। मथुरा-शैली में थोड़ी-सी मूर्तियाँ ऐसी अवश्य मिली हैं जिनपर गांधार शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है, परंतु वे अपवाद रूप हैं। ऐसी दो विचारधाराओं या कला-शैलियों के बीच आदान-प्रदान का होना स्वाभाविक ही है जो एक ही देश-काल में साथ-साथ विकसित हो रही हों।

मथुरा-कला की कुषाणकालीन बुद्ध-मूर्तियों में मस्तक प्रायः मुँडा हुआ रहता है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में सिर पर कुंचित या घुँघराले केश दिखाए जाते हैं। ललाट के बीच में गोल ऊर्णा मिलती है, जो कभी-कभी एक छोटे गड्ढे के रूप में प्रदर्शित की जाती है। इस गर्त में मूल्यवान् रत्न लगा रहता है। मथुरा कला की कुषाणकालीन उत्कृष्ट बुद्ध तथा बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ, जो स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं, संख्या ए० १, ए० २, ए० ४० तथा २७९८ हैं।[२]

१. प्राचीन यक्ष-मूर्तियाँ मथुरा जिले के परखम नामक गाँव से (मथुरा संग्रहालय, सं० सी० १) तथा अन्य कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

२. लखनऊ, सारनाथ तथा कलकत्ता (इंडियन म्यूजियम) के संग्रहालयों में भी

मुद्राएँ

बोधिसत्त्व तथा बुद्ध-प्रतिमाएँ हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती हैं। उन भाव-विशेषों को 'मुद्रा' कहते हैं। मथुरा-कला में निम्नलिखित चार मुद्राएँ मिलती हैं—

(१) **ध्यान मुद्रा**—इसमें बोधिसत्त्व या बुद्ध पद्मासन मे बैठे हुए तथा बाएँ हाथ के ऊपर दायाँ रखे हुए ध्यानमग्न दिखाए जाते हैं।

(२) **अभय मुद्रा**—इसमें वे दाएँ हाथ को उठाकर उसे कंधे की ओर मोड़कर श्रोताओं या दर्शकों को अभय-प्रदान करते हुए दिखाए जाते हैं।

(३) **भूमि-स्पर्श मुद्रा**—इसमें ध्यानावस्थित बुद्ध दाएँ हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किए जाते हैं। जब बोधगया में उनके तप को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया तब बुद्ध ने इस बात की साक्षी के लिए कि उनके मन में कोई भी काम-विकार नहीं, पृथिवी का स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(४) **धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा**—इसमें भगवान् बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियों को इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा धर्म के सर्वप्रथम उपदेश को सूचित करता है। यहीं से उन्होंने संसार में एक नए धर्म का प्रवर्तन किया।

इसके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है, जो मथुरा में नहीं मिलती। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को इस प्रकार सामने किए नीचे लटकता है मानों वे वरदान दे रहे हों।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ

गौतम बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं को मथुरा-कला में प्रदर्शित किया गया

मथुरा की कुषाणकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्त्व प्रतिमाओं के सुंदर उदाहरण है। हाल में अहिच्छत्रा (जि० बरेली) से मथुरा-कला की दो अत्यंत कलापूर्ण बुद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं। इनमें से एक पर कुषाणकालीन ब्राह्मी लेख है।

है। इनमें लुंबिनी में बुद्ध का जन्म, बोधगया में ज्ञानप्राप्ति (तथा मार का दमन), सारनाथ में धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा कुशीनगर में परिनिर्वाण मुख्य हैं। इन चार प्रमुख घटनाओं के अतिरिक्त बालक बुद्ध का नागों द्वारा स्नान, इंद्रशैल गुफा में स्थित बुद्ध के प्रति इंद्र का सम्मान-प्रदर्शन, ब्रह्मा और इंद्र के साथ त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से बुद्ध का अवतरण, लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षा पात्र-समर्पण आदि अन्य कई घटनाओं का चित्रण भी मथुरा-कला में मिलता है।

जातक कथाएँ

भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ 'जातक' कहलाती हैं।[1] इन कथाओं के अनुसार गौतम के रूप में जन्म लेने के पूर्व बुद्ध अनेक योनियों में विचरे थे। मथुरा-कला में कच्छप जातक, उलूक जातक, व्याघ्री जातक, वेस्संतर जातक, रोमक जातक, सुत-सोम जातक आदि की कहानियाँ बड़े मनोरंजक ढंग से उत्कीर्ण मिलती हैं।

वेदिका स्तंभ

मथुरा की बौद्ध कला में यहाँ के वेदिका-स्तंभों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेदिका के खंभों पर कुषाणकालीन लोक-जीवन का बहुमुखी चित्रण मिलता है। इनपर विविध आकर्षक मुद्राओं में स्त्रियों को अंकित किया गया है। वे अनेक प्रकार के आभूषण—यथा कर्णकुंडल, एकावली, गुच्छक हार, केयूर, मेखला, नुपूर आदि धारण किए हुए दिखाई गई हैं। उनकी विविध ललित क्रीड़ाओं को भी इन स्तंभों पर चित्रित किया गया है। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कंदुक क्रीड़ा में लग्न है (जे० ६१)। कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है (सं० २३२५)। कोई निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन ढँक रही है (जे० ४)। किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी के वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुंदरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हंस उन पानी की बूँदों को मोती समझकर अपनी चोंच खोले खड़ा है (१५०९)। किसी स्तंभ (जे० ५) पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर संगीतोत्सव का तो

१. बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अधिकांश जातक कथाएँ भगवान् बुद्ध द्वारा उस समय कही गईं जब वे जेतवन विहार (श्रावस्ती) में निवास कर रहे थे।

किसी पर मधुपान का (१५१)। इस प्रकार लोकजीवन के कितने ही दृश्य इन स्तंभों पर चित्रित मिलते हैं। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबंधित विभिन्न जातक कहानियाँ (सं० जे० ४ का पृष्ठ भाग) और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य (सं० १५१) भी हैं। कुछ पर बुद्ध या बोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ हैं, तो कहीं पूजक लोगों की। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तंभों पर बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से उत्कीर्ण किए गए हैं। इन वेदिका-स्तंभों को शृंगार और सौंदर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिनपर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौंदर्य-राशि उपस्थित कर दी है।

यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि

मथुरा-कला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों की प्रतिमाएँ मथुरा-कला में अधिक मिली हैं।[1] इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण परखम नामक गाँव से प्राप्त तृतीय श० ई० पू० की विशालकाय यक्ष मूर्ति (सी०१) है। यह संभवतः माणिभद्र यक्ष की प्रतिमा है। ऐसी एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बड़ौदा गाँव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ कोर कर बनाई गई हैं। कुषाणकाल में ऐसी ही मूर्तियों के समान विशालकाय बोधिसत्त्व तथा बुद्ध की प्रतिमाएँ निर्मित की गई।

यक्षों में कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान प्रधान है। उनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं। कुबेर यक्षों के अधिपति तथा धन के देवता माने गए हैं। बौद्ध, जैन तथा हिंदू–इन तीनों धर्मों में इनका पूजन मिलता है। बौद्ध धर्म में इनकी 'जंभाल' संज्ञा प्रसिद्ध है। कुबेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली हैं। संग्रहालय में संख्या सी० २, सी० ५ तथा सी० ३१ कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गए हैं।

१. भगवान् बुद्ध के समय मथुरा में यक्ष-पूजा का बड़ा जोर था। जब बुद्ध यहाँ आए तब एक नग्न यक्षिणी के द्वारा उनको अपमानित करने की चेष्टा की गई। बुद्ध ने मथुरा के गर्दभ आदि यक्षों का दमन किया। मथुरा-निवासियों द्वारा बुद्ध के सम्मान में ३,५००विहार बनवाने की बात बौद्ध ग्रंथों में मिलती है। द्रष्ट०नलिनाक्ष दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १।

इनके हाथों में सुरापात्र, बिजौरा-नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है। कुछ वर्ष पूर्व कुबेर की एक सुंदर अभिलिखित मूर्ति (सं० ३२३२) मथुरा से प्राप्त हुई है, जो ई० तीसरी शती की है। कुबेर के साथ उनकी स्त्री हारीती की भी मूर्ति मिलती है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है और मथुरा-कला में उसका चित्रण प्राय. बच्चों को गोद में लिए हुए मिलता है।

मथुरा-कला में अन्य यक्षियों का चित्रण भी मिलता है। इनके अतिरिक्त पूज्य प्रतिमाओं के साथ विविध अलंकरणों के रूप में किन्नर, गंधर्व, अप्सरा, सुपर्ण, विद्याधर आदि भी मिलते हैं। किन्नर स्त्री-पुरुषों को आधा मानव और आधा अश्व के रूप में दिखाया जाता है, जो संभवतः स्फूर्ति और शक्ति का प्रतीक है। गंधर्व गान-विद्या-विशारद माने जाते हैं और अप्सराएँ नृत्य-कुशला। सुपर्णों को सपक्ष पुरुष रूप में आलेखित किया गया है। विद्याधर-मिथुन पुष्प-वृष्टि करते हैं। मथुरा, सारनाथ आदि की अनेक प्रतिमाओं के ऊपर पुष्पों की डलिया लिए हुए विद्याधरों को दिखाया गया है।

नाग-मूर्तियाँ

यक्षों के समान प्राचीन मथुरा में नागों की पूजा भी मिलती है। इनका भी संबंध विविध धर्मों से पाया जाता है। भगवान् कृष्ण के भाई बलराम को शेषनाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शय्या भी अनंत नागों की बनी हुई कही गई है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न नाग हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार मुचुलिंद नामक नाग ने भगवान् बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नंद और उपनंद नागों ने उन्हें स्नान कराया था। रामग्राम स्तूप की रक्षा भी नागों द्वारा की गई थी।[१] इस प्रकार भारतीय धर्मों में नागों का उच्च स्थान है।

नागों की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार—दोनों रूपों में मिलती हैं। शेषावतार रूप में बलराम की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनके गले में वैजयंती माला आदि आभूषण तथा हाथों में मूसल और वारुणीपात्र दिखाए जाते हैं। मथुरा संग्रहालय में इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुंदर मूर्तियाँ (सं० १३९९, ३२१०, सी० १९ तथा ४३५) हैं। नाग की सबसे विशाल मूर्ति संख्या सी० १३ है, जो पौने आठ फुट ऊँची है। यह छड़गाँव, (जि० मथुरा) से प्राप्त हुई थी। इसमें नाग की कुंडलियाँ बड़े ओजपूर्ण तथा ऐंड़दार ढंग से दिखाई गई हैं। इस मूर्ति की पीठ पर खुदे हुए लेख से

१. द्रष्टव्य मथुरा शिलापट्ट, सं० आइ० ९।

ज्ञात होता है कि यह महाराजाधिराज हुविष्क के समय चालीसवें वर्ष (सन् ११८ ई०) में सेनहस्ती तथा भोणुक नामक दो मित्रों के द्वारा बनवाकर प्रतिष्ठापित की गई। भूमिनाग (सं० २११) तथा दधिकर्ण नाग[1] (सं० १६१०) की भी मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। बलदेव में दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की उल्लेखनीय कृतियों में है।

शक-कुषाण राजाओं की प्रतिमाएँ

मथुरा से शक-कुषाण राजाओं तथा अभिजात्य वर्ग की कई अत्यंत महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं, जैसी कि भारत में अन्यत्र नहीं मिलतीं। मथुरा से लगभग ८ मील दूर मांट नामक स्थान में कुषाण राजाओं का एक देवकुल था, जहाँ से इन राजाओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। दूसरा देवकुल संभवतः यमुना-तट पर गोकर्णेश्वर टीला पर था।

विम कैडफाइसिस की मूर्ति (सं० २१५)——इस विशालकाय मूर्ति में, जिसका सिर नहीं है, महाराज विम सिंहासनारूढ़ दिखाए गए हैं। वे लंबा चोगा, गुलूबंद, सलवारनुमा पायजामा तथा चमड़े के तसमों से कसे हुए मोटे जूते पहने हैं। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

कनिष्क की प्रतिमा (सं० २१३)——कनिष्क कुषाण वंश का सब से प्रतापी सम्राट् था। उसकी वेशभूषा विम से बहुत मिलती-जुलती है। उसके दाएँ हाथ में राजदंड तथा बाएँ में तलवार है। मोटे जूते, जिन्हें गिलगिटी जूते कहते हैं, दर्शनीय हैं। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम उसकी उपाधियों सहित लिखा है।

चष्टन की मूर्ति (सं० २१२)——चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप-वंश का जन्मदाता था। इस मूर्ति की भी वेशभूषा उपर्युक्त मूर्तियों के समान है। इसका चोगा जरीदार है तथा कमरबंद भी अलंकृत है।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त यथोक्त वेशभूषा धारण किए हुए अनेक शक राजकुमारों तथा सरदारों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

गांधार कला में शक महिषी की मूर्ति (सं० एफ ४२)——यह मूर्ति यमुना-किनारे स्थित सप्तर्षि टीले से प्राप्त हुई है और नीले सिलेटी पत्थर की बनी है। यद्यपि यह गांधार कला की कृति है, जो मथुरा-कला से भिन्न है, तथापि मथुरा में इसका पाया

१. इस दधिकर्ण नाग का मथुरा में एक मंदिर भी था।

जाना बड़े महत्त्व की बात है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के एक शिलालेख से ज्ञात हुआ है कि शक-शासक राजुवल तथा उसकी पत्नी कमुइअ (कंबोजिका) ने मथुरा में गुहा–विहार का तथा एक बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया। इस मूर्ति को उसी कंबोजिका की अनुमान किया जाता है।

गुप्तकालीन कला

गुप्त-काल (३००–६०० ई०) में मथुरा-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस समय की बुद्ध की जो प्रतिमाएँ मिली हैं उनमें सुरुचिपूर्ण अंग-विन्यास के साथ करुणा, शांति और आनंद का अद्भुत समन्वय मिलता है। भिक्षु यशदिन्न द्वारा प्रतिष्ठापित अभय-मुद्रा में बुद्ध-मूर्ति (मथुरा संग्रहालय ए० ५) ऐसी ही है। उसे देखने से पता चलता है कि मथुरा के गुप्तकालीन शिल्पी शारीरिक सौंदर्य के साथ लोकोत्तर भाव की अभिव्यक्ति किस सहज रूप में करते थे। दूसरी ऐसी ही सर्वांग सुंदर प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। इन दोनों मूर्तियों के सिर के पीछे कलापूर्ण प्रभामंडल है। पत्रावलियों आदि से अलंकृत प्रभामंडल गुप्तकाल की विशेपता है। कुषाणकालीन प्रभामंडल सादे मिलते हैं।

श्रीकृष्ण के प्रसिद्ध जन्मस्थान के निकट कटरा केशवदेव में एक बौद्ध विहार था, जिसका नाम 'यशाविहार' था। इसका पता वहाँ से प्राप्त बुद्ध की एक अभिलिखित मूर्ति से चला है, जिसे जयभट्टा नामक महिला ने दान में दिया था। यह मूर्ति संपूर्ण है और गुप्त-कला का एक अच्छा उदाहरण है।[1]

गुप्तकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ मथुरा के जमालपुर, जयसिंहपुरा, कटरा, चौबारा आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। इन स्थानों में इस काल के अंत तक कई बौद्ध विहार थे।[2] अनेक विशाल जैन तथा हिंदू इमारतें भी इस समय विद्यमान थीं।

मध्य काल

छठी शती के प्रारंभ में हूणों के आक्रमण के कारण मथुरा को बड़ी क्षति पहुँची।

१. इस समय यह प्रतिमा राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है।

२. फाहियान ने मथुरा में यमुना के दोनों तटों पर २० संघारामों का उल्लेख किया है, जिनमें लगभग ३,००० भिक्षु रहते थे। सातवीं शती में हुएन-सांग के समय में भी २० विहार थे, जिनमें रहनेवालों की संख्या घटकर २,००० रह गई थी।

कितनी ही इमारतों को ढहा दिया गया और मूर्तियों को नष्ट किया गया। मथुरा में बौद्ध धर्म को इस आक्रमण से गहरा धक्का पहुँचा। छठी शती बाद की बौद्ध मूर्तियाँ मथुरा में नाममात्र को ही मिली हैं और उनकी कला में वह सजीवता तथा मौलिकता नहीं दिखाई देती जो कुषाण एवं गुप्तकालीन कला में है। पौराणिक हिंदू धर्म का उत्थान भी मथुरा में बौद्ध धर्म और कला के ह्रास का कारण था। मध्य काल में जिन स्थानों में बौद्ध धर्म की अवनति आरंभ हुई उनमें एक मथुरा भी था। महमूद गजनवी के आक्रमण (१०१७ ई०) ने मथुरा में बौद्ध धर्म की रही-सही सत्ता को समाप्त कर दिया। उसके बाद यहाँ के बौद्ध विहार उजाड़ हो गए और भिक्षु लोग अन्यत्र चले गए।

सारनाथ

उत्तर प्रदेश का दूसरा बड़ा केंद्र, जो बौद्ध मूर्तिकला के लिए प्रसिद्ध है, सारनाथ है। यहाँ अशोक के समय से लेकर लगभग ई० बारहवीं शती तक बौद्ध कला का विकास होता रहा। मथुरा के कलाकार मूर्ति-निर्माण के लिए रूपबास, बयाना आदि स्थानों में उपलब्ध लाल बलुए पत्थर का प्रयोग करते थे। सारनाथ में हमें चुनार के लाल पत्थर का प्रयोग मिलता है, जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी और मूर्ति-निर्माण के लिए उपयुक्त है। अशोक के समय से सारनाथ में चुनार के इसी पत्थर का प्रयोग किया गया। सारनाथ से प्राप्त मूर्तियाँ वहाँ के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

शुंग तथा कुषाण काल में सारनाथ में जो इमारतें बनीं उनके अवशेष वेदिकास्तंभ तथा अन्य शिलापट्टों के रूप में मिले हैं। शुंगकालीन अवशेषों पर चिह्नों के रूप में बुद्ध का पूजन मिलता है। उक्त स्तंभों पर स्तूप, धर्मचक्र, त्रिरत्न, पूर्णघट, कमल आदि का चित्रण बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। मत्स्य-पुरुष, किन्नर, पशु-पक्षी आदि का आलेखन भी सुंदर है। शुंगकालीन एक यक्ष-मूर्ति (डी०-एच० ५) यहाँ भी मिली है। कुछ मौर्यकालीन ओपयुक्त सिर भी प्राप्त हुए हैं। इनमें घुटे हुए सिर (बी० १), विदेशी का लंबी ऐंठदार मूछोंवाला चेहरा (डबल्यू० ४) तथा स्त्रियों के दो शुंगकालीन सिर (२२१ और २२९) दर्शनीय हैं। शोकमग्ना स्त्री की भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जो वेदना की प्रतिमूर्ति-सी जान पड़ती है। उसके केशविन्यास तथा वस्त्रों को कलापूर्ण ढंग से दिखाया गया है। शुंगकाल का एक परगहा भी मिला है, जिसपर सनाल कमलों के बीच भागते हुए एक घुड़सवार दिखाया गया है। दूसरी ओर हाथी की पीठ पर बैठे हुए दो पुरुष अंकित हैं। इनमें से एक के हाथ में झंडा है। सारनाथ की शुंग-

कालीन कला में उसी प्रकार का चिपटापन और चेहरे की गोल आकृति मिलती है जैसी कि साँची, भारहुत, मथुरा आदि की तत्कालीन कला में। कुछ तोरण के टुकड़े भी इस काल के मिले हैं, जिनपर धर्म-चक्र, त्रिरत्न, गज आदि के अलंकरण हैं।

कुषाणकालीन मूर्तियाँ

कुषाणकाल के आरंभ की एक मूर्ति सारनाथ की खुदाई में मिली थी। यह मूर्ति उसपर लिखे हुए ब्राह्मी लेख के अनुसार कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष (८१ ई०) में मथुरा-निवासी त्रिपिटकाचार्य बल के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। इस मूर्ति के साथ एक छत्र भी था, जिसकी यष्टि पर मिश्रित संस्कृत और प्राकृत भाषा में दस पंक्तियों में यह लेख खुदा है—

१. महाराजस्य काणिष्कस्य सं ३ हे ३ दि २२
२. एतये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्यबुद्धचस्य सद्ध्येवि—
३. हारिस्य भिक्षस्य बलस्य त्रेपिटकस्य
४. बोधिसत्वो छत्रयष्टि च प्रतिष्ठापितो
५. वाराणसीये भगवतो चंकमे सहा मात (ा)—
६. पितिहि सहा उपाध्याया चेरेहि सद्ध्येविहारि—
७. हि अन्तेवासिकेहि च सहा बुद्धमित्रये त्रेपिटिक—
८. ये सहा क्षत्रपेन वनस्परेन खरपल्ला—
९. नेन च सहा च च (तु) हि परिशाहि सर्वसत्वानम्
१०. हितसुखारत्थ (र्थ) म्।

(अर्थात् महाराज कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष (८१ ई०), तृतीय शरद (मास) के बाईसवें दिन पुष्यबुद्धि के शिष्य त्रिपिटिकाचार्य भिक्षु बल ने बोधिसत्त्व की मूर्ति, छत्र और दंड सहित, काशी में भगवान् के घूमने के स्थान में, अपने माता-पिता, उपाध्याय, अंतेवासी (शिष्य), त्रिपिटिकाचार्य बुद्धमित्र, क्षत्रप वनस्पर और खर-पल्लान तथा चतुर्वर्ग (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) के साथ सब जीवों के कल्याण और आनंद के लिए प्रतिष्ठापित किया।)

यह प्रतिमा कई दृष्टियों से बड़े महत्त्व की है। इसके सारनाथ में मिलने से यह पता चला है कि मथुरा-कला में निर्मित विशाल बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ सुदूर स्थानों में भेजी जाती थीं। इसपर जो तिथि सहित लेख है उससे यह ज्ञात होता है कि कनिष्क की ओर

से क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लान बनारस के प्रशासक नियुक्त थे। उस समय के भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रसार में किस प्रकार योग देते थे, इसका पता भी इस लेख से चलता है। जिस त्रिपिटिकाचार्य बल के द्वारा इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गई उसी ने मथुरा, श्रावस्ती आदि स्थानों में भी इस प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित कराईं। लेख में मूर्ति को 'बोधिसत्त्व' कहा गया है, यद्यपि उसमें राजकीय वेश-भूषा का अभाव है। बल की अन्य मूर्तियों के लेखों में तथा मथुरा से प्राप्त कई अन्य बुद्ध-मूर्तियों को भी उनके लेखों में 'बोधिसत्त्व' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में शास्त्रीय संज्ञा-भेद को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था।

सारनाथ के शिल्पियों के समक्ष बल द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति का आदर्श उपस्थित हुआ। उन्होंने उसी के अनुरूप अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया, जिनमें से कई सारनाथ संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।[1]

कुषाणऔर गुप्त-काल के बीच संक्रांति-काल की भी एक उल्लेखनीय मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में है (संख्या बी- (बी) १)। इसमें भगवान् बुद्ध को अभय मुद्रा में दिखाया गया है। सिर पर कुंचित केश और उष्णीष है और पीछे गोल प्रभामंडल दिखाया गया है।

गुप्तकालीन प्रतिमाएँ

गुप्त-काल में सारनाथ की मूर्तिकला बहुत उन्नत हुई। मूर्तियों में अब विभिन्न अवयवों के कलापूर्ण अंकन के साथ-साथ आध्यात्मिक भाव का चित्रण मिलता है। इस काल की जो अनेक मूर्तियाँ सारनाथ में मिली हैं उनमें कलाकारों की वही विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं जो मथुरा-कला में हैं। पद्मासन में बैठे हुए धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में भगवान् बुद्ध की जो मूर्ति सारनाथ में मिली है (संख्या बी-(बी) १८१), वह भारतीय कला की इनी-गिनी उत्कृष्ट प्रतिमाओं में है। अर्धोन्मीलित-नेत्रयुक्त भगवान् बुद्ध की इस मूर्ति को देखकर कलाकार की शतमुख से सराहना करनी पड़ती है! मूर्ति के पीछे कलापूर्ण प्रभामंडल है। चौकी पर वे भिक्षु बने हैं जिन्हें सारनाथ में बुद्ध ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था। दाहिनी ओर शिशु सहित एक स्त्री की भी मूर्ति है।

१. सारनाथ संग्रहालय की बी-(ए) २ और ३ संख्यक मूर्तियाँ इसी प्रकार की हैं और कुषाणकालीन कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

संभवतः उसी स्त्री के द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी। चौकी के बीच में धर्म-चक्र की पूजा है।

गुप्त-काल की अन्य अनेक मूर्तियाँ सारनाथ में मिली हैं, जिनमें बुद्ध को विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है। उत्तर गुप्तकाल तथा मध्यकाल के प्रारंभ में सारनाथ में अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ, इनमें मैत्रेय (बी-डी-२), लोकनाथ (बी-डी-१), सिद्धैकवीर (बी-डी-६), नीलकंठ (बी-डी-३), तारा (बी-एफ-१), मारीची (बी-एफ-२३) आदि की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। कई प्रतिमाओं की चौकी पर लेख भी मिले है।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातक कहानियाँ

सारनाथ में अनेक शिलापट्ट ऐसे मिले हैं जिनपर बुद्धजन्म, तपस्या, धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण——ये मुख्य चार घटनाएँ दिखाई गई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गौण घटनाएँ भी चित्रित हैं। इनमें स्वर्गावतरण, श्रावस्ती का चमत्कार, नालागिरि हस्ती का दमन तथा वानरेंद्र का मधुदान उल्लेखनीय हैं।

अनेक जातक कथाएँ भी सारनाथ के शिलापट्टों पर उत्कीर्ण हैं। एक बड़ी सुहावटी (डी-डी-१) पर क्षांतिवादी जातक की कथा है। इसके अनुसार बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में क्षांतिवादी नामक तपस्वी हुए। उन्होंने बनारस के राजा की स्त्रियों को उपदेश देकर उन्हें भिक्षुणी बनाया और इसके बदले में दंडस्वरूप राजा के द्वारा अपना दाहिना हाथ कटवाया। इसी प्रकार व्याघ्री जातक आदि की कथाएँ भी सारनाथ कला में मिलती है।

उत्तर मध्यकाल

उत्तर मध्यकाल में वज्रयान संप्रदाय के उत्थान के फलस्वरूप सारनाथ की कला भी प्रभावित हुई। यहाँ वज्रयान मत की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें मंजुवर, हेरुक, वज्रघंट, मारीची, सरस्वती, वसुधारा, चुडा आदि की प्रतिमाएँ हैं। लगभग बारहवीं शती के अंत तक बौद्ध कला का सारनाथ में विकास होता रहा। उत्तर मध्यकाल की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें पाल-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

अन्य स्थानों से प्राप्त बौद्ध मूर्तियाँ

उत्तर प्रदेश में अन्य जिन स्थानों से बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें मुख्य श्रावस्ती

संकिसा, कौशांबी, कसिया, अहिच्छत्रा और महोबा है। श्रावस्ती से भिक्षु बल वाली प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य अनेक सुंदर मूर्तियाँ मिली हैं, जो कलकत्ता और लखनऊ के संग्रहालयों में हैं। इनमें से कुछ अभिलिखित हैं।

संकिसा (प्राचीन सांकाश्य) से भी विविध बौद्ध कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अशोक-स्तंभ का शीर्ष है, जिसपर चमकीली ओप है। कमल-पुष्प तथा पीपल के पत्तों का आलेखन इस शीर्ष पर अत्यंत सुंदर है। ऊपर सूँड़रहित हाथी की मूर्ति है। इस शीर्ष के पास ३ फुट ७ इंच ऊँची एक पुरुष-प्रतिमा है, जो शुंगकालीन यक्ष-प्रतिमाओं से मिलती-जुलती है। एक वेदिका-स्तंभ तथा बुद्ध की अनेक खंडित प्रतिमाएँ संकिसा से प्राप्त हो चुकी हैं। हाल में यहाँ से बुद्ध का एक सुंदर सिर मिला है। अनेक प्रकार की मृन्मूर्तियाँ, मिट्टी की मुहरें तथा सिक्के भी यहाँ प्राप्त हुए हैं।

बौद्ध कला के केंद्र के रूप में कौशांबी का नाम बहुत प्रसिद्ध है।[1] कनिष्क के राज्य-वर्ष २ (८० ई०) की बुद्ध की अभिलिखित मूर्ति यहीं से मिली थी। यह तथा अन्य अनेक बौद्ध मूर्तियाँ प्रयाग संग्रहालय में है। हाल में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा कौशांबी में खुदाई का जो कार्य कराया गया है उसमें घोषिताराम-विहार के नाम सहित एक शिलापट्ट मिला है। दूसरी-तीसरी शती के कई अन्य बौद्ध अभिलेख इस खुदाई में मिले है, जो बड़े महत्त्व के हैं। उत्तर-गुप्तकाल में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। कुछ प्रतिमाएँ चुनार-पत्थर की और शेष लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।

कसिया (कुशीनगर) के शालवन तथा मकुटबंधन चैत्य से कई बुद्ध-मूर्तियाँ तथा अन्य अवशेष मिले हैं। परिनिर्वाण-मंदिर के भीतर बुद्ध की २० फुट लंबी लेटी हुई प्रतिमा अप्रतिम कही जा सकती है। भगवान् दाहिनी करवट लेटे है और दक्षिण भुजा के ऊपर उनका सिर रखा हुआ है। लंबी चौकी के अगले भाग में तीन शोकमग्न मूर्तियाँ बनी हैं, जो संभवतः आनंद, सुभद्र तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ हैं। चौकी पर गुप्त-कालीन लिपि में जो लेख खुदा है उससे ज्ञात होता है कि महाविहार में इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना स्वामी हरिबल ने की थी और उसका निर्माण मथुरा के शिल्पी दिन्न ने किया

१. भगवान् बुद्ध के समय में कौशांबी में घोषिताराम, कुक्कुटाराम तथा पावारिक अंबवन--इन तीन प्रमुख विहारों के निर्माण का पता चलता है। अशोक ने अपना अभिलिखित स्तंभ यहाँ लगवाया। कुषाण तथा गुप्त काल में कौशांबी में बौद्धकला की उन्नति हुई।

था।[1] इस प्रसिद्ध मूर्ति के अतिरिक्त कुशीनगर से अन्य कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इनमें 'माथाकुँवर' नाम से विख्यात मूर्ति उल्लेखनीय है। यह काले पाषाण की बनी हुई खंडित प्रतिमा है। इसकी स्थापना कलचुरि-कालीन विहार में हुई थी। मूर्ति की चौकी पर ११ वीं शती का ब्राह्मी लेख था, जिसके अक्षर अब बहुत मिट गए है। मथुरा के लाल बलुए पत्थर की कई मूर्तियाँ भी कुशीनगर में मिली हैं, जिनमें मथुरा-शैली की छाप स्पष्ट है। ये मूर्तियाँ मथुरा से यहाँ लाई गई होंगी।

अहिच्छत्रा नगर उत्तर पंचाल की राजधानी था।[2] यहाँ से बोधिसत्त्व मैत्रेय की एक कलापूर्ण अभिलिखित मूर्ति मिली है, जो ई० ३०० के लगभग की है।[3] कुछ वर्ष पूर्व एक यक्ष-प्रतिमा भी यहाँ मिली थी, जिसपर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख से अहिच्छत्रा में 'फरगुल' नामक बौद्ध विहार का पता चला है, जो यहाँ कुषाण-काल में था।[4] हाल में बुद्ध की दो सुंदर मूर्तियाँ अहिच्छत्रा से मिली हैं। इनमें से एक पर ई० दूसरी शती का लेख है। दोनों मूर्तियाँ मथुरा शैली की हैं और लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।[5] अहिच्छत्रा से प्राप्त प्रारंभिक गुप्तकाल के एक शिलापट्ट पर बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं को बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से दिखाया गया है।[6] गुप्त-काल की बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की कुछ अन्य प्रतिमाएँ भी अहिच्छत्रा से मिली हैं।

बुंदेलखंड के महोबा नगर (जि० हमीरपुर) से मध्यकालीन बौद्ध मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें सिंहनाद अवलोकितेश्वर की प्रतिमा बेजोड़ है। यह हलके भूरे बलुए पत्थर की बनी है और चरण-चौकी पर अंकित लेख के अनुसार ई० ११ वीं शती की कृति है। सिंह के ऊपर शांत भाव में बैठे हुए अवलोकितेश्वर दिखाए गए हैं, मानों करुण और शांत रस मूर्तिमान कर दिए गए हों। महोबा तथा बुंदेलखंड के अन्य कई

१. लेख इस प्रकार है—"देयधर्म्मोयं महाविहारस्वामिनो हरिबलस्य प्रतिमा चेयं घटिता दिन्नेन माथुरेण।"

२. यह वर्तमान बरेली जिले की आँवला तहसील में आँवला से लगभग १० मील उत्तर है।

३. यह प्रतिमा अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है।

४. वाजपेयी, ए न्यू इंस्क्राइब्ड इमेज फ्राम अहिच्छत्रा, जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टॉरिकेल सोसायटी, १९५०, पृ० ११२।

५. ये दोनों मूर्तियाँ राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं।

६. यह शिलापट्ट अब राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है।

अध्याय १७

बौद्ध वास्तुकला

उत्तर प्रदेश विविध ललित कलाओं के विकास का क्षेत्र रहा है। मौर्यकाल से लेकर अर्वाचीन युग तक यहाँ स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और संगीत प्रस्फुटित एवं पल्लवित होते रहे। बौद्ध धर्म की प्रधान रंगस्थली होने के कारण इस भूमि पर कितने ही बौद्ध स्तूपों, चैत्यों और विहारों का निर्माण हुआ। परंतु आक्रांताओं के आक्रमण भी इस प्रदेश पर बहुत हुए, जिनके कारण वास्तु एवं मूर्तिकला को विशेष रूप से क्षति उठानी पड़ी। यहाँ के भग्नावशिष्ट स्मारक उन प्रहारों की कितनी ही रोमांचक गाथाएँ अपने अंतस्तल में छिपाए हुए हैं।

बौद्ध वास्तुकला के नमूने मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—१. स्तूप, २. चैत्यगृह और ३. गुफाएँ। उत्तर प्रदेश में प्रथम के कुछ भग्नावशेष मिलते हैं। ये स्तूप दो प्रकार के होते थे—एक विशाल इमारतों के रूप में स्मारक[1] या धातु-चैत्य तथा दूसरे दानार्थ निर्मित लघु (वोटिव) स्तूप। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में शव को धरती में गाड़कर उसपर तूदा बनाने की जो प्रथा थी उसी का कुछ विकसित रूप स्तूप है। यह तूदा उलटे कटोरे के आकार का होता था और इसकी रक्षा के लिए कभी-कभी एक कटघरे की भी व्यवस्था रहती थी। साँची आदि स्थानों में जो प्राचीन स्तूप मिले हैं उनका आकार-प्रकार ऐसा ही है। अशोककालीन जो बौद्ध स्तूप साँची में है उसके तले का व्यास १२० फुट तथा उँचाई ५४ फुट है। इसके चारों ओर दो प्रदक्षिणा-पथ हैं। उत्तर-पश्चिम भारत में अशोक के द्वारा अनेक बड़े स्तूपों का निर्माण कराया गया। काबुल-पेशावर के बीच नगरहार में उसके द्वारा निर्मित ३०० फुट ऊँचा एक स्तूप था। अनुश्रुति के अनुसार तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप भी अशोक द्वारा बनवाया गया। ये स्तूप स्मारक रूप में थे और उनमें बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष सुरक्षित थे।[2]

१. इस रूप म जैन स्तूप भी मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन स्तूपों का निर्माण बौद्ध स्तूपों के पहले प्रारंभ हो गया था। द्रष्टव्य वी०ए०स्मिथ, दि जैन स्तूप (इलाहाबाद, १९०१), पृ० १–११, फलक१–५।

२. अनुश्रुति के अनुसार अशोक द्वारा ८४, ००० स्तूपों का निर्माण कराया गया। बुद्ध के अवशेष पहले केवल आठ स्तूपों म सुरक्षित थे, पर बाद म उन्हें इन बहुसंख्यक स्तूपों में ले जाया गया।

चीनी यात्रियों ने उत्तर प्रदेश के अनेक प्राचीन स्थानों में अशोक द्वारा निर्मित जो स्तूप देखे, खेद है कि, उनमें से कोई समूचा स्तूप अब नहीं बचा। केवल सारनाथ में अशोक के धर्मराजिका स्तूप का कुछ भाग अवशिष्ट है। यह ६० फुट व्यास का, ईंटों का बना हुआ गोलाकार रहा होगा। इस स्तूप के दक्षिण में एक ही पत्थर में काट-कर बनाई गई वेदिका मिली है, जिसपर मौर्यकालीन पालिश तथा ब्राह्मी लेख हैं। यह वेदिका प्रारंभ में धर्मराजिका स्तूप की हर्मिका के रूप में रही होगी। किसी दुर्घ-टना वश उसके गिर जाने पर उसे अन्यत्र रख दिया गया। धर्मराजिका स्तूप का पुन-र्निर्माण एक लंबे समय तक जारी रहा और उसका आकार भी बढ़ता रहा। कुषाण-काल से लेकर ई० १२ वीं शती तक उसमें परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे। बनारस के राजा जगतसिंह द्वारा अज्ञानवश वह नष्ट कर दिया गया, जिससे अब प्राचीन स्तूप का केवल तल-भाग अवशिष्ट है।

सारनाथ का दूसरा स्तूप 'धमेख' (धर्मेक्षा) है। इसकी ऊँचाई १४३ फुट है। इसकी नींव से ३७ फुट की ऊँचाई तक पाषाण के नक्काशीदार शिलापट्ट लगे हैं, जो गुप्तकालीन हैं। इनपर अनेक प्रकार के पशु-पक्षी तथा पत्रावली आदि विविध अलंकरण सुंदरता से उकेरे गए हैं। धमेख के नीचे एक प्राचीन लघु स्तूप दबा पड़ा है। संभवतः धमेख स्तूप स्मारक स्तूप था। इससे कोई धातु-खंड अभी तक नहीं मिले।

'चौखंडी' पर भी धमेख की तरह का स्तूप था, जो अष्टकोण मेधि पर बना रहा होगा। उसका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है। यह वही स्थान है जहाँ कौंडिन्य आदि पंचभद्रवर्गीय भिक्षुओं ने सर्वप्रथम बुद्ध का स्वागत किया था।

वर्तमान 'चौखंडी' मुगलकालीन इमारत है। यह ईंटों की बनी हुई अठपहलू है। इसका निर्माण मुगल सम्राट् अकबर ने अपने पिता हुमायूँ की यात्रा के स्मारक-रूप में कराया था।[1]

चीनी यात्री हुएन-सांग ने प्राचीन मूलगंध कुटी का जो वर्णन किया है उससे गुप्तकालीन बौद्ध मंदिरों की निर्माण-शैली पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यह ६० फुट की चौकोर इमारत थी। इसके तीन ओर आयताकार कोठरियाँ थीं और चौथी ओर ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ थीं।

पिप्रावा स्तूप—उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के पिप्रावा नामक स्थान में एक प्राचीन

१. शेरशाह से पराजित होने पर हुमायूँ ने संभवतः सारनाथ के खँडहरों में शरण ली थी।

स्तूप का पता श्री पेप्पी ने लगाया था।[1] यही एक ऐसा स्तूप है जिसे प्राक्-अशोक-कालीन कहा जा सकता है। यहाँ अन्वेषक को एक अभिलिखित पात्र मिला था। इस पात्र पर जो ब्राह्मी लेख है उसके अक्षर लगभग ई० पू० ४०० के हैं। इस स्तूप से स्वर्ण के पत्तर पर एक स्त्री-प्रतिमा भी मिली, जिसकी बनावट नंदनगढ़ से प्राप्त प्राचीन मातृदेवी-प्रतिमा[2] से बहुत मिलती-जुलती है।

अन्य बौद्ध केंद्रों में भी विभिन्न युगों में अनेक बड़े स्तूपों के निर्माण की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अति प्राचीन स्तूपों की बनावट साँची तथा सारनाथ के स्तूपों से बहुत-कुछ साम्य रखती रही होगी। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक जैन-मूर्ति की चौकी पर ई० दूसरी शती का एक लेख खुदा है, जिसमें 'वोद्ध स्तूप' नामक एक बड़े जैन स्तूप के निर्माण की चर्चा है। मथुरा से प्राप्त एक जैन आयागपट्ट (क्यू० २) पर तथा कई वेदिका-स्तंभों पर स्तूपों की जो आकृतियाँ बनी हैं उनसे कुषाण-कालीन स्तूपों की निर्माण-शैली पर प्रकाश पड़ता है। नीचे चौकोर या आयताकार आधार, फिर अंड और ऊपर यष्टि सहित छत्र—ये इन स्तूपों के मुख्य भाग रहते थे। स्तूप के चारों ओर एक या अनेक वेदिकाएँ होती थीं। पाषाण के कुछ लघु स्तूप भी मथुरा से मिले हैं, जिनसे दानार्थ (वोटिव) स्तूपों के प्रकार का पता चलता है। ये लघु स्तूप भी सिद्धांत-रूप में बड़े स्तूपों की निर्माण-शैली के आधार पर ही बनाए जाते थे।

बौद्ध विहार

उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों में बौद्ध विहारों की संख्या काफी बड़ी थी। इसका पता साहित्यिक ग्रंथों, विदेशी परिव्राजकों के यात्रा-विवरणों तथा प्राचीन पुरातत्त्वीय अवशेषों से चलता है। इन विहारों का निर्माण प्रायः इस प्रकार होता था—मध्य में आँगन और उसके चारों ओर स्तंभाश्रित बरामदे होते थे। पीछे भिक्षुओं के निवास के लिए कोठरियाँ होती थीं। ये कोठरियाँ स्थान के अनुसार बड़ी-छोटी बनाई जाती थीं। एक ओर बीच में प्रवेश-द्वार होता था और उसके ठीक सामने मंदिर रहता था। सारनाथ के प्राचीन मूलगंधकुटी मंदिर का मुख्य द्वार पूर्वाभिमुख था। अन्य दिशाओं में लघु पार्श्व मंदिर बने थे। इस मंदिर की दीवारें मजबूत और सुंदर भित्तिचित्रों से अलंकृत थीं। विस्तृत आँगन में कई चैत्य तथा स्तूप बने हुए थे। गाहड़वाल रानी

१. द्रष्टव्य डब्ल्यू० सी० पेप्पी तथा वी० ए० स्मिथ, 'दि प्रिपावा स्तूप, जर्नल आँव दि रायल एशियाटिक सोसायटी १८९८, पृ० ५७३ तथा आगे।

२. आ० सर्वे० इं०, एनु० रि०, १९०६–०७, पृ० १२२, चित्र ४।

कुमारदेवी द्वारा निर्मित 'धर्म-चक्र जिन विहार' की बनावट प्रायः दक्षिण के गोपुरों-जैसी है। इसके अंदर खुले आँगन के तीन ओर कोठरियाँ बनी हैं। बाहर दो विशाल परकोटे तथा सहन हैं। इसके अंदर एक छोटी सुरंग भी है, जो एक छोटी कोठरी तक जाती है। हो सकता है कि वह भिक्षुओं की एकांत साधना का स्थान रहा हो।

श्रावस्ती के जेतवन तथा पुब्बाराम विहार, कौशांबी के घोषितराम, कुक्कुटाराम आदि विहार तथा कुशीनगर, मथुरा[1] आदि स्थानों के बड़े विहार विशाल रहे होंगे, जैसा कि उनके संबंध में प्राप्त वर्णनों तथा कतिपय उपलब्ध भग्नावशेषों से ज्ञात होता है। खेद है कि इन प्राचीन विहारों का कोई समूचा उदाहरण अब सुरक्षित नहीं है।



१. मथुरा के अभिलेखों में निम्नलिखित बौद्ध विहारों के नाम मिले हैं--हुविष्क विहार, स्वर्णकार विहार, श्री विहार, चेतीय विहार, चुतक विहार, अपानक विहार, मिहिर विहार, गुहा विहार, क्रौष्टकीय विहार, रोषिक विहार, ककाटिका विहार, प्रावारिक विहार, यशा विहार तथा खंड विहार।

अध्याय १८

अशोक और उसके अभिलेख

बौद्ध धर्म के प्रसार में सम्राट् अशोक का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अशोक का शासनकाल ई० पू० २७३ से २३२ तक माना जाता है। अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष में अशोक को कलिंग देश का भयंकर युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में लगभग एक लाख व्यक्ति मारे गए और इससे कहीं अधिक आहत हुए। डेढ़ लाख व्यक्ति बंदी बनाए गए। इसका अशोक पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने इस प्रकार के युद्धों को सर्वदा के लिए त्याग दिया। उपगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु से अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की और वह अब 'चंडाशोक' से 'धर्माशोक' बन गया।

अपने तेरहवें शिलालेख में अशोक ने लिखा है कि कलिंग-युद्ध के भीषण नर-संहार से वह किस प्रकार प्रभावित हुआ—

"अठवषाभिसितषा देवानंपियष पियदषिने लाजिने कलिग्या विजिता। दियढमिते पानपतषहशे ये तफा अपवुढे शतषहषमिते ततहते बहुतावतके वामटे। ततो पछा अधुनालधषु कलिग्येषु तिवे धंमवाये।"[1]

(अर्थात् आठ वर्ष से अभिषिक्त देवताओं के प्यारे और दयावान् राजा ने कलिंग विजय किया। इसमें डेढ़ लाख मनुष्य पकड़े गए, एक लाख मारे गए और इससे भी अधिक आहत हो गए। उसके बाद अब जीते हुए कलिंग देश में धर्म का बहुत पालन किया जाता है।)

अशोक के साम्राज्य में धुर दक्षिण को छोड़कर प्राय: सारा भारत, अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान सम्मिलित थे।[2] उसने अपने साम्राज्य में तथा उसके बाहर बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए विविध उपाय किए। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने भारत के विभिन्न स्थानों में कुल ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। चीनी यात्री

१. कालसी (जि० देहरादून) की शिला में उत्कीर्ण तेरहवाँ लेख। ई० हुल्श, इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक (आक्सफोर्ड, १९२५), पृ० ४३।

२. उत्तर-पश्चिम में हिं कुश से लेकर पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चितलद्रुग जिले तक अशोक का साम्राज्य फैला था। द्रष्ट० रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया (बनारस, १९४२), पृ० १७०–७२।

फाहियान ने अशोक द्वारा निर्मित कलापूर्ण कृतियों के लिए लिखा है कि उनकी सुदरता को देखकर मालूम होता था कि वे असुरों द्वारा निर्मित थीं। हुएन-सांग तथा सुंगयुन ने भी अशोक की इमारतों का उल्लेख अपने यात्रा-विवरणों में किया है।

स्तूपों के अतिरिक्त अशोक के द्वारा अनेक स्तंभ भारत के विभिन्न स्थानों में लगवाए गए। इन स्तंभों पर तथा अनेक शिलाओं पर राजाज्ञाएँ उत्कीर्ण कराई गई। इनके द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।[1]

अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त किए गए, जो 'धर्ममहामात्र' कहलाते थे। इनका मुख्य कार्य जन-साधारण में धर्म का प्रचार था। वे अपने-अपने क्षेत्रों में दौरा करके लोगों को वास्तविक धर्म का मर्म बताते थे। कलिंग प्रदेश में धवली के लेख में अधिकारियों के नाम इस प्रकार की आज्ञा है—

"तुम लोग सहस्रों प्राणियों के अधिकारी हो। हमारा कर्तव्य है कि भले आदमियों के हम प्रीतिपात्र बनें। मैं अपने पुत्रों के समान ही अपनी प्रजा का भी ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण चाहता हूँ। अतः तुम लोगों को ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे प्रजा का एक भी आदमी दुखी न हो।"

इस लेख से पता चलता है कि अशोक अपनी प्रजा के प्रति कैसा स्नेहभाव रखता था और उसके कल्याण के लिए कितना दत्तचित्त रहता था। अपने इस भाव को बड़े सीधे-सादे रूप में अशोक ने अधिकारियों पर व्यक्त किया है और प्रजा के प्रति उन्हें सच्चे कर्तव्य की याद दिलाई है।

कलिंग में जौगढ़ नामक स्थान पर अशोक का दूसरा लेख मिला है। इस लेख में भी महामात्र नामक अधिकारियों के नाम इस प्रकार का संदेश है—

"तुम लोग प्रजा के साथ अच्छा बर्ताव करो, जिससे मेरे राज्य के बाहरवाले लोग भी मेरा विश्वास प्राप्त करें और वे यह समझने लगें कि यदि क्षमा के योग्य अपराध होगा तो अवश्य क्षमा किया जायगा। तुम लोगों को मेरी इस आज्ञा का पालन अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए जिससे सभी लोग मुझे पिता के समान समझने लगें।"

१. अब तक कुल मिलाकर अशोक के २०० से ऊपर अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं। इनमें से केवल दो पर अशोक का नाम मिला है—एक मास्की (हैदराबाद) के छठें अभिलेख में तथा दूसरे हाल में गुजर्रा (विंध्य प्रदेश में दतिया से ११ मील दूर) नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में।

अशोक की इन आज्ञाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। अधिकारियों और प्रजा के बीच सीधा-सच्चा संबंध स्थापित हो गया। अशोक के शासन के बाहर के लोग भी उसे एक आदर्श सम्राट् मानने लगे।

अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष सम्राट् ने देश के पवित्र स्थलों की यात्रा की। यह 'धर्मयात्रा' के नाम से प्रसिद्ध है। जिन स्थानों में अशोक जाता वहाँ लोगों से धार्मिक विचार-विनिमय करता था। अशोक ने लुंबिनी, कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर, श्रावस्ती आदि अनेक धार्मिक स्थानों की यात्रा की।

भारत के बाहर अशोक ने धर्म-प्रचारार्थ कई मंडलियों को भेजा। ये मंडलियाँ लंका, तिब्बत, पश्चिमी एशिया, मिस्र आदि देशों में गई। बौद्ध साहित्य में कई मंडलियों के नेताओं के नाम दिए हुए हैं। अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लंका भेजा। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में बौद्ध धर्म की तीसरी महासंगति हुई थी।[1] इसकी समाप्ति के बाद ही उक्त धर्म-मंडलियाँ बाहर गई। इस प्रकार सम्राट् अशोक के प्रयत्नों से तथा इन धर्म-मंडलियों की अटूट लगन से बौद्ध धर्म का प्रचार न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में हुआ, बल्कि बाहर के अनेक देश भी तथागत के मत को माननेवाले हो गए। इस बात का श्रेय मुख्यतया अशोक और उसके प्रचारकों को दिया जा सकता है कि उनकी मृत्यु के लगभग २,२०० वर्ष बाद संसार के लगभग एक तिहाई व्यक्ति बौद्ध मत के अनुयायी हैं।

अभिलेख

अशोक के लेख पहाड़ की चट्टानों, पत्थर के खंभों और गुफाओं पर खुदे हुए मिले हैं। इन लेखों को मौर्य सम्राट् ने भारत के विभिन्न स्थानों पर लगवाया था। कुछ लेखों का अब पता नहीं चलता। अपनी प्रजा के प्रति अशोक का जो भाव था और धर्म के जिस रूप को वह प्रचलित करना चाहता था उसकी जानकारी इन लेखों से मिलती है। धर्म के मुख्य सिद्धांतों की व्याख्या इन लेखों में बड़ी सरल शैली में की गई है। ये लेख तीन प्रकार के हैं—१. शिलालेख, २. स्तंभलेख, और ३. गुफालेख।

१. प्रथम महासंगति या सभा महाकश्यप के नेतृत्व में राजगृह में तथा दूसरी वैशाली में हुई थी। तीसरी का आयोजन अशोक के राज्यारोहण के १७ वें वर्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुआ।

शिलालेख—मुख्य शिलालेख[1] १४ हैं, जो निम्नलिखित स्थानों में मिले हैं—

१. शाहबाज गढ़ी (पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व, यूसुफजाई तहसील में);

२. मानसेहरा (पश्चिमी पाकिस्तान के हजारा जिले में, अबटाबाद से १५ मील उत्तर);

३. कालसी (जिला देहरादून, उत्तर प्रदेश);

४. गिरनार (सौराष्ट्र); ५–६ धवली तथा जौगढ़ (उड़ीसा); ७. सोपारा (जिला-थाना, बंबई); ८. येर्रगुडि (जि० कर्नूल, आंध्र)।

उपर्युक्त कई स्थानों में १४ या १३ लेख एक साथ उत्कीर्ण हैं। धवली और जौगढ़ में प्रत्येक स्थान पर उक्त लेखों में से १० लेख और एक-एक प्रादेशिक लेख हैं।

सिद्धपुर (मैसूर), ब्रह्मगिरि तथा जटिंग रामेश्वर (मैसूर), सहसराम (बिहार), रूपनाथ (मध्यप्रदेश), येर्रगुडि (आंध्र), मंदगिरि (आंध्र), मास्की (हैदराबाद), बैराट (राजस्थान), गुजर्रा (विंध्य प्रदेश)—इन दस स्थानों से तथा दक्षिण के कुछ अन्य स्थानों से फुटकर शिलालेख प्राप्त हुए हैं।

स्तंभलेख—स्तंभलेख मुख्य सात है। जिन स्थानों में अशोक के ये स्तंभलेख प्राप्त हुए हैं वे दिल्ली, प्रयाग, लौरिया, मठिया और रामपुरवा हैं। पिछले तीनों स्थान बिहार के चंपारन जिले में हैं। दिल्ली में प्राप्त दोनों स्तंभ लेख फीरोजशाह तुगलक के द्वारा वहाँ मँगवाए गए थे। इनमें से एक स्तंभ अंबाला के समीप तोपरा नामक स्थान से दिल्ली पहुँचाया गया था। इसपर सातों लेख है। दूसरी मेरठ वाली लाट पर लेख अस्पष्ट हैं। फर्रुखसियर के समय (१७१३–१९ ईस्वी) में बारूदखाने के फटने से इस खंभे को बड़ा नुकसान पहुँचा और उसके कई टुकड़े हो गए। १८६७ ईस्वी में इसे वर्तमान रूप में खड़ा किया गया। लौरिया, मठिया और रामपुरवा के स्तंभों में ६-६ लेख हैं।

प्रयागवाला स्तंभ पहले कौशांबी में था। वहाँ से संभवतः फीरोजशाह के द्वारा वह प्रयाग पहुँचाया गया। इसपर अशोक के ६ लेख उत्कीर्ण है। इस स्तंभ पर गुप्त-वंशी सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रसिद्ध लेख भी खुदा हुआ है। अशोक की रानी चारुवाकी का भी एक लेख इसी पर उत्कीर्ण है।

१. मुख्य तथा फुटकर शिलालेखों के संबंध में देखिए—हुल्श, दि इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक, भूमिका, पृष्ठ ९–१५, २३–२८; राधाकुमुद मुकर्जी, अशोक (द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९५५), पृ० १३-१४ तथा २५८-६३; डी० आर० भंडारकर, अशोक (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९५५), पृ० २३१-२४०।

फुटकर स्तंभलेखों में सारनाथ, लुंबिनी तथा निगलीवा के लेख उल्लेखनीय हैं।[1] कौशांबी तथा साँची में भी फुटकर लेख मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के समय में भिक्षु तथा भिक्षुणियों के संघों में फूट डालनेवाली प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई थीं और सारनाथ तथा कौशांबी में वे विशेष रूप से थीं। उक्त दोनों स्थानों में जो लेख मिले हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है। अशोक ने संघ के नियम तोड़नेवालों के लिए दंड का विधान किया, जिसका उल्लेख सारनाथ, कौशांबी तथा साँची के स्तंभ-लेखों में मिलता है। यहाँ सारनाथ-स्तंभ का मूल लेख तथा उसका हिंदी अनुवाद दिया जाता है--

सारनाथ का मूल स्तंभलेख[2]

"देवा...एल...पाट (लिपुत्र?) (न सकि?) ये केनपि संघे भेतवे ए चुं खो (भिखू वा भिख) नि वा संघं भ (खति)। से ओदातानि दुसानि संनंधापयिया आनावाससि आवासयिये। हेवं इयं सासने भिखु संघसि च भिखुनि संघसि च विंनपयितवे। हेवं देवानं पिये आहा। हेदिसा च इका लिपी तुफाकं तिकं हुवाति संसलनसि निखिता। इकं च लिपिं हेदिसमेव उपासकानंतिकं निखिपाथ। तेपि च उपासका अनुपोसथं यावु। एतमेव सासनं विस्वंसयितवे अनुपोसथं च धुवाये इकिके महामाते पोसथाये याति। एतमेव सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च आवते च तुफाकं आहाले सवत विवासयाथ। तुफे एतेन वियंजनेन हेमेव सवेसु कोट विषवेसु एतेन वियंजनेन विवा सापयाथा।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला--पाटलिपुत्र में और बाहर के नगरों में किसी को भी भिक्षु-संघ के नियम नहीं तोड़ने चाहिए। जो कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी-संघ को तोड़े, उसको सफेद दूपित कपड़े पहनाकर संघाराम से अतिरिक्त स्थान पर रखना चाहिए। इस प्रकार यह आज्ञा भिक्षु-संघ में और भिक्षुणी-संघ में प्रकट कर देनी चाहिए। इस प्रकार देवताओं का प्यारा बोला--"इस प्रकार की एक लिखित आज्ञा तुम्हारे पास कार्यालय में सुरक्षित रहनी चाहिए। ऐसी ही एक लिखित आज्ञा को

१. हुल्श, वही, भूमिका, पृ० १५-२३। मुकर्जी, वही, पृ० १४, १६९-२००; भंडारकर, वही, पृ० २४०-४४; २९८-३२२।

२. हुल्श, दि इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक, पृ० १६१-६४। इसी स्तंभ पर दो अन्य अभिलेख उत्कीर्ण हैं--एक अश्वघोष नामक किसी अज्ञात राजा का और दूसरा सम्मितीय शाखा के आचार्यों का।

उपासकों (गृहस्थों) के पास रक्खो; ताकि वे उपासक भी प्रत्येक व्रत के दिन इस आज्ञा से अवगत होने के लिए आएँ। प्रत्येक उपवास के दिन नियमपूर्वक एक महामात्र व्रत-कर्म के लिए इस आज्ञा के विषय में विश्वास दिलाने और स्वयं समझने के लिए जाय। जहाँ तक तुम्हारा अधिकार हो वहाँ तक सब जगह इसी प्रकार की आज्ञा फैलाओ। इसी तरह से इनको सब सुरक्षित नगरों में और जिलों में फैलाओ।)

लुंबिनी का स्तंभ उस स्थान पर लगा है जिसे भगवान् बुद्ध का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है।[1] अपनी तीर्थ-यात्रा में सम्राट् अशोक सर्वप्रथम लुंबिनी गए। वहाँ आचार्य उपगुप्त ने भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान की ओर संकेत करते हुए बताया कि हे महाराज यहीं भगवान् उत्पन्न हुए थे——

"अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान् जातः।"

उपगुप्त ने प्लक्ष का वह पेड़ भी दिखाया जिसके नीचे बुद्ध उत्पन्न हुए थे। अशोक ने उस पवित्र स्थान पर एक लाख मुद्राओं का दान किया और एक चैत्य तथा पाषाण-स्तंभ का निर्माण कराया। स्तंभ के ऊपर जो लेख खुदवाया गया वह इस प्रकार है——

लुंबिनी का स्तंभलेख

"देवानंपियेन पियदसिन लाजिन वीसति वसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते। हिद बुधे जाते सक्य मुनीति। सिला विगडभी चा कालापित सिला थभे च उसपापिते। हिद भगवं जातेति। लुमिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च।"[2]

(देवताओं के प्यारे बीस वर्ष से अभिषिक्त प्रियदर्शी राजा ने स्वयं इस स्थान पर आकर उसका पूजन किया, क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे। पत्थर की एक कृति (मूर्ति ?) बनवाई गई तथा एक पाषाण-स्तंभ यहाँ खड़ा किया गया, इस बात को सूचित करने के लिए कि यहाँ बुद्ध पैदा हुए थे। लुबिनी ग्राम का धार्मिक कर माफ किया गया और भूमिकर के रूप में आय का केवल आठवाँ भाग उससे लिया जायगा।)

यह लेख बड़े महत्त्व का है। लुंबिनी में भगवान् बुद्ध के जन्म की जो अनुश्रुति

१. इस स्तंभ का पता डा० फुहरर ने १८९६ ई० में लगाया था। इसके एक वर्ष पूर्व फुहरर ने ही निगलीवावाले स्तंभ की खोज की।

२. हुल्श, वही, पृ० १६४-६५।

प्रचलित है उसकी पुष्टि इस स्तंभ-लेख से होती है। इस लेख के अक्षर बड़े सुंदर और कलापूर्ण हैं।

गुफा-लेख—अशोक ने बिहार में गया से सोलह मील उत्तर बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों की गुफाओं में भी लेख खुदवाए और उन्हें आजीवकों को प्रदान किया। कुछ लेख अशोक के पौत्र दशरथ के भी हैं।

अशोक के उपर्युक्त लेखों की भाषा पाली है। विभिन्न स्थानों में जो लेख मिले हैं उनकी भाषा में प्रांतभेद के कारण थोड़ा-बहुत अंतर है। लेखों की भाषा सीधी-सादी है, जो सर्वसाधारण के समझने के लिए उपयुक्त है।[1] ये लेख दो प्रकार की लिपियों में हैं। शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के लेख खरोष्ठी में हैं। यह लिपि उस समय उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित थी। शेष लेखों की लिपि ब्राह्मी है, जो उस समय पश्चिमोत्तर भाग को छोड़कर प्रायः सारे देश में प्रचलित थी। सिद्धपुर का लेख ब्राह्मी में होने पर भी उसके अंत के कुछ अक्षर खरोष्ठी में लिखे गए हैं।

इन लेखों के द्वारा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। अशोक के राज्य-प्रबंध, धर्मप्रचार तथा राजा और प्रजा के बीच संबंधों की जानकारी के लिए ये अभिलेख स्वच्छ दर्पण की तरह हैं। भारत में ये सबसे प्राचीन लेख हैं जिन्हें एक शासक के द्वारा इतनी बड़ी मात्रा में देश के विभिन्न स्थानों में पाषाण पर उत्कीर्ण कराया गया।

यहाँ कालसी[2] की शिला पर लिखे हुए अशोक के लेखों का मूल पाली रूप हिंदी अनुवाद सहित दिया जाता है। यह लघु शिला यमुना के दाएँ कूल पर स्थित है। सबसे पहले इसका पता १८६० ई० में श्री फारेस्ट ने लगाया। उस समय शिला पर शताब्दियों की काली काई जमी हुई थी और अक्षर स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते थे। उसे साफ करने पर सारी चट्टान सफेद संगमरमर की तरह निकल आई।

इस शिला की विशेषता यह है कि इसपर अशोक के पूरे चौदह शिला-लेख खुदे

१. इन लेखों की रचना संभवतः स्वयं अशोक के द्वारा की गई थी।

२. यह स्थान उत्तर प्रदेश में देहरादून जिले की चकराता तहसील में है। मसूरी से यह स्थान लगभग १५ मील पश्चिम है। जिस शिला पर लेख खुदा है वह १० फुट लंबी तथा १० फुट ऊँची है। नीचे के भाग की मोटाई ८ फुट है। लेख उत्कीर्ण करने के लिए शिला को चिकना किया गया है। अभिलिखित शिलाभाग की ऊँचाई ५ फुट तथा ऊपर उसकी चौड़ाई ५॥ फुट है। निचले भाग की चौड़ाई ७ फुट १०॥ इंच हो गई है।

हैं। वे बहुत अच्छी दशा में आज तक विद्यमान हैं। शिला के दाई ओर एक हाथी का रेखाचित्र बना है, जिसके नीचे 'गजतमे' (सर्वश्रेष्ठ हाथी) लिखा है। शिला के दरार-वाले तथा खुरदरे भाग को अलिखित छोड़ दिया गया है। नवें लेख तक के अक्षर छोटे हैं। दसवें से लेकर अगले लेखों के अक्षर बड़े बनाए गए हैं। कहीं-कहीं वे प्रारंभिक अक्षरों के आकार से तिगुने बड़े हो गए हैं। लेखों का पिछला अंश एक ही ओर न आ सकने के कारण चट्टान की दाई ओर खोद दिया गया है।

पहला शिलालेख

"इयं धंमलिपि देवानंपियेना पियदसिना लेखिता। हिदा नो किछि जिवे आलभितु पजोहितविये नो पि चा समाजे कटविये। बहुका हि दोसा समाजसा देवानंपिये पिय-दसी लाजा दखति। अथि पि चा एकतिया समाजा साधुमता देवानंपियसा पियदसिसा लाजिने पुले महानससि देवानंपियसा पियदसिसा लाजिने अनुदिवसं बहुनि पातसह-सानि अलंभियिसु सुपठाये। से इदानि यदा इयं धंमलिपि लेखिता तदा तिंनि येवा पानानि अलभियंति दुवे मजूला एके मिगे। से पि चू मिगे नो ध्रुवे। एतानि पि चु तिंनि पानानि नो अलाभियिसंति।

(यह अभिलेख देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी[1] ने खुदवाया है। इस संसार में न तो कोई प्राणी मारा जाय, न बलि दी जाय और न समाज[2] किया जाय; क्योंकि प्रिय-दर्शी (सबका भला चाहनेवाला) राजा ऐसे समाज में बहुत सी बुराइयाँ देखता है। लेकिन कुछ समाज ऐसे भी हैं जिनको देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा अच्छा समझता है। पहले देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में नित्य हजारों प्राणी मारे जाते थे। परंतु अब जब से यह धर्मलेख लिखवाया गया है तब से तीन ही प्राणी मारे

१. अशोक के द्वारा इन लेखों में अपने लिए प्रायः 'देवानं पिय पियदसि (खरोष्ठी—प्रियद्रशि) लाजा (राजा)' (संस्कृत-'देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा') शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य 'देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी (भला चाहने-वाला)' है। हाल में विंध्यप्रदेश के गुजर्रा नामक स्थान से प्राप्त अशोक के नए लघु-शिलालेख में 'देवानंपियस पियदसिनो असोकराजस' शब्द आए हैं।

२. समाज ('समज्जा') से तात्पर्य ऐसे समारोहों से प्रतीत होता है जिनमें खान-पान, नाच-गाना, रास-रंग आदि हुआ करते थे। उदाहरणार्थ वात्स्यायन-रचित 'कामसूत्र' में ऐसी गोष्ठियों तथा समारोहों के उल्लेख मिलते हैं।

जाते हैं—दो मोर[1] और एक हरिण। यह हरिण भी हमेशा के लिए नहीं है। आगे ये तीनों प्राणी भी नहीं मारे जायँगे।)

दूसरा शिलालेख

"सवता विजितसि देवानंपियसा पियदसिसा लाजिने ये च अंता अथा चोडा पंडिया सातियपुतो केललपुतो तंबपंनि अंतियोगे नाम योनलाजा ये चा अंने तसा अंतियोगसा सामंता लाजानो सवता देवानंपियसा पियदसिसा लाजिने दुवे चिकिसका कटा मनुसचिकिसा चा पसुचिकिसा चा। ओसधीनि मनुसोपगानि चा पसोपगानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। एवमेवा मुलानि चा फलानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। मगेसु लुखानि लोपितानि उदुपानानि चा खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं।"

(देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा के जीते हुए राज्य में सब जगह और सीमाप्रदेश की जातियों—जैसे चोल, पांड्य, सातियपुत्र और केरलपुत्र[2]—के राज्यों में, ताम्रपर्णी[3] (लंका) तक और यवनराज (ग्रीक) अंतियोक[4] तथा उसके जो निकटवर्ती राजा हैं उनके देशों में सब जगह देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध किया है—मनुष्यों की और पशुओं की। जहाँ-जहाँ मनुष्यों के और पशुओं के उपयोग में आनेवाली औषधियाँ नहीं मिलती थीं वहाँ-वहाँ सब जगह वे भिजवाई और लगवाई गई हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ मूल और फल नहीं थे वहाँ-वहाँ सब स्थानों पर मँगाए और लगवाए गए

तीसरा शिलालेख

"देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा। दुवाडसवसाभिसितेन मे इयं

१. मयूर-मांस को आयुर्वेद में बड़ा पौष्टिक बताया गया है। वाल्मीकि रामायण (२,९१,७०) के अनुसार वह राजाओं का प्रिय भोजन था।

२. ये चारों राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर धुर दक्षिण में थे।

३. पाली साहित्य में 'तंबपंनि' नाम लंका या सिंहल (सीलोन) के लिए मिलता है। लंका की अनुश्रुतियों में अशोक तथा सिंहल के तत्कालीन शासक देवानंपिय तिस्स के बीच घनिष्ठ संबंध होने का उल्लेख मिलता है।

४. यह सिल्यूकस का पौत्र तथा सीरिया का शासक था। इसका उल्लेख तेरहवें शिलालेख में भी हुआ है।

हैं। मनुष्यों और पशुओं के उपयोग के लिए रास्तों पर वृक्ष लगवाए और कुएँ खुदवाए गए हैं।)

आनपयिते। सवता विजितसि मम युता लजूके पादेसिके पंचसु पंचसु वसेसु अनुसंयानं निखमंतु एताये वा अठाये इमाय धंमनुसथिया यथा अंनाये पि कंमाये। साधु मातपितिसु सुसुसा मितसंथुतनातिक्यानं चा बंभनसमनानं चा साधु दाने पानानं अनालंभे साधु अपवियाता अपभंडता साधु। पलिसा पि च युतानि गननसि अनपयिसंति हेतुवता चा वियंजनते चा।"

(देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने इस तरह कहा——बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए मैंने यह आज्ञा दी। मेरे सारे राज्य में युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक[1] कर्मचारी हर पाँचवें वर्ष इस धर्म-शिक्षा के लिए और दूसरे कामों के लिए भी दौरे में जायँ——माता-पिता की सेवा करना अच्छा है, मित्रों, जान-पहचानवालों, नातेदारों, ब्राह्मणों और श्रमणों (भिक्षुओं) को दान देना अच्छा है। जीवहिंसा न करना अच्छा है। कमखर्ची और कम सामान जोड़ना अच्छा है। (महामात्रों की) परिषद् भी इसी प्रकार का आदेश युक्तों को देगी कि वे नियमानुसार युक्तिसंगत रूप में अपने कर्तव्य का पालन करें।)

चौथा शिलालेख

"अतिकंतं अंतलं बहुनि वससतानि वधिते वा पानालंभे विहिसा चा भुतानं नातिना असंपटिपति समनबंभनानं असंपटिपति। से अजा देवानंपियसा पियदसिने लाजिने धंमचलेनना भेलिघोसे अहो धंमघोसे विमनदसना हथिनि अगिकंधानि अंनानि चा दिव्यानि लुपानि दसयितु जनस। आदिसा बहुहि वसतेहि ना हुतपुलुवे तादिसे अजा वढिते देवानंपियसा पियदसिने लाजिने धंमनुसथिये अनालंभे पानानं अविहिसा भुतानं नातिनं संपटिपति बंभनसमनानं संपटिपति माता-पितिसु सुसुसा। एसे चा अंने चा बहुविधे धंमचलने वधिते। वधियिसति चेवा देवानंपिये पियदसि लाज इमं धंमचलनं। पुता च कं नताले चा पनातिक्या चा देवानंपियसा पियदसिने लाजिने पवढयिसंति चेव धंमचलनं इमं अवाकपं धंमसि सीलसि चा चिठितु धंमं अनुसासिसंति। एसे हि सेठे कंमं अं धमानुसासनं। धंमचलने पि चा नो होति असिलसा। से इमसा अथसा वधि अहिनि चा साधु। एताये अथाये इयं लिखिते इमसा अथसा वधि युजंतु हिनि

१. 'युक्त', 'राजुक' तथा 'प्रादेशिक'——ये तीनों उच्च सरकारी कर्मचारियों की संज्ञाएँ थीं।

च मा अलोचयिसु। दुवाडसवशाभिसितेना देवानंपियेना पियदशिना लाजिना लेखिना।"

(बहुत समय बीत गया कि सैकड़ों वर्षों तक प्राणियों की बलि, जीवों की हिंसा, नातेदारों के साथ बुरा बर्ताव तथा ब्राह्मण और श्रमणों के आदर का अभाव बढ़ता ही गया। परंतु आज देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी का शब्द, (युद्ध के बदले) धर्म की घोषणा बन गया है। इससे लोगों को दिव्य रथों और हाथियों, अग्निस्कंध (रोशनी) आदि और कई अन्य प्रकार के दिव्य रूपों के दर्शन होने लगे है। जैसा कि सैकड़ों वर्षों से पहले कभी नहीं हुआ था, वैसा, आज देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा की धर्मशिक्षा से, पशु-हत्या का बंद होना, जीव-अहिंसा, संबंधियों, ब्राह्मणों और श्रमणों का सत्कार, मातापिता की सेवा तथा अन्य कई तरह के धर्माचरणों का प्रचार बढ़ा है। देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा इसको इसी तरह बढ़ाता रहेगा। देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र भी इस धर्माचरण को सृष्टि के अंत तक बढ़ाते रहेंगे तथा धर्म और शील का पालन करते हुए धर्म का उपदेश करेंगे। यह धर्म का प्रचार सर्वोत्तम कार्य है। शील से वर्जित पुरुष के लिए धर्माचरण असंभव है। इसकी रक्षा और वृद्धि करना अच्छा है। इसीलिए यह लिखा गया है कि (मेरे उत्तराधिकारी) इसकी वृद्धि में लगे रहें और इसकी अवनति को न देखें। बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने इसे लिखवाया।)

पाँचवाँ शिलालेख

"देवानंपिये पियदसि लाजा अहा। कयाने दुकले। ए आदिकले कयानसा से दुकलं कलेति। से ममया बहु कयाने कटे। ता ममा पुता चा नताले चा पलं चा तेहि ये अपतिये मे अवाकपं तथा अनुवटिसंति से सुकटं कछंति। ए चु हेता देसं पि हापसियति से दुकटं कछति। पापे हि नामा सुपदालये। से अतिकंतं अंतलं नो हुतपुलुव धंममहामता नामा। ते दसवसाभिसितेना ममया धंममहामाता कटा। ते सवपासंडेसु वियापटा धंमाधिथानाये चा धंमवढिया हिदसुखाये वा धंमयुतसा येनकंबोजगंधालानं ए वा पि अंने अपलंता। भटमयेसु बंभनिभेसु अनथेसु वुधेसु हिदसुखाये धंमयुताये अपलिबोधाये वियपटा ते। बंधनबधसा पटिविधानाये अपलिबोधाये मोखाये चा एयं अनुबधा पजाव ति वा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा वियापटा ते। हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु ओलोधनेसु भातिनं च ने भगिनिना ए वा पि अंने नातिक्ये सवता वियापटा। ए इयं

धंमनिसिते ति वा दानसुयुते ति वा सवता विजितसि ममा धंमयुतसि वियपटाते धंममहामता। एताये अठाये इयं धंमलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु तथा च मे पजा अनुवततु।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—भलाई कठिनता से होती है। जो मनुष्य भलाई प्रारंभ करता है वह बड़ा कठिन काम करता है। मैंने बहुत भलाई की है। इसलिए यदि मेरे पुत्र, पौत्र और उनके बाद के मेरे वंशज कल्प के अंत तक उसका अनुकरण करेंगे तो वे पुण्य करेंगे। जो इसके थोड़े से अंश की भी हानि करेंगे वे पाप करेंगे। पाप को निश्चय ही नष्ट कर देना चाहिए। विगत समय में धर्म महामात्र[1] नहीं होते थे। तेरह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा धर्ममहामात्र नियुक्त किए गए हैं। वे धर्म की रक्षा और वृद्धि के लिए तथा धार्मिक मनुष्यों की भलाई एवं सुख के लिए सभी मतानुयायिओं के बीच नियुक्त किए गए हैं। वे यवनों, कंबोजों, गंधार-निवासियों, तथा अन्य लोगों में, जो अपरांत[2] के निवासी हैं, नियुक्त किए गए हैं। सिपाहियों, उनके सरदारों, ब्राह्मण संन्यासियों एवं गृहस्थों, अनाथों और वृद्धों के हित-सुख के लिए तथा धर्मवालों की रक्षा के हेतु उनकी नियुक्ति की गई है। (धर्ममहामात्रों का) कर्तव्य राजकीय अनुदानों को देखना तथा अकारण बंधन में पड़े हुए भारग्रस्त, दुखी वा वृद्धों को छुटकारा देना है। इसीलिए वे सभी जगह नियुक्त हैं—मेरे अंतःपुरों में, मेरे भाइयों, बहनों तथा अन्य संबंधियों के यहाँ, चाहे वे पाटलिपुत्र में रहते हों या बाहर के नगरों में। मेरे राज्य में प्रत्येक स्थान पर ये (धर्ममहामात्र) उन लोगों के संपर्क में हैं जो धर्मवान् हैं, धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं और दानदाता हैं। इसीलिए यह धर्मलिपि लिखा दी गई कि यह चिरस्थायी हो और मेरी प्रजा इस मार्ग का अनुवर्तन करे।)

छठा शिलालेख

"देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा। अतिकंतं अंतलं नो हुतपुलुवे सवं कलं अठकंमे वा पटिवेदना वा। से ममया हेवं कटे। सवं कालं अदमानसा मे ओलोधनसि गभागालसि वचसि विनितसि उयानसि सवता पटिवेदका अठं जनसा··वेदेतु मे। सवता चा जनसा अठं कछामि हकं। यंपि चा किछि मुखते आनपयामि हकं दापकं वा

१. धर्म का प्रचार करनेवाले उच्च राज्याधिकारी।
२. अपरांत से तात्पर्य संभवतः भारत के पश्चिमी तट से है।

सावकं वा ये वा पुना महामतेहि अतियायिके आलोपिते होति तायेठाये विवादे निरुति वा संतं पलिसाये अनंतलियेनापटि· · ·वियें मे सवता सवं कालं। हेवं आनपयिते ममया। नथि हि मे दोसे उठानसा अठसंतिलनाये चा। कटवियमुते हि मे सवलोकहिते। तसा चा पुना एसे मुले उठाने अठसंतिलनाये चा। कटवियमुते हि मे सवलोकहितेना यं च किछि पलकमामि हकं किति भुतानं अननियं येहं हिद च कानि सुखायामि पलत चा स्वगं आलाधयितु। से एतायेठाये इयं धंमलिपि लेखिता चिलठितिक्या होतु तथाच मे पुतदाले पलकमातु सवलोकहिताये। दुकूले चु इयं अनता अगेना पलकमेना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा इस प्रकार बोला—बहुत समय बीत गया, पर पहले हर समय कार्य करने और विवरण (रिपोर्ट) देने का रिवाज नहीं था। अतः मैंने ऐसा किया कि प्रत्येक समय और स्थान पर—चाहे मैं भोजन करता होऊँ, या अंतःपुर में, एकांतगृह में, गोचर भमि में,[१] घोड़े की पीठ पर या क्रीडोद्यान में होऊँ—सूचना-वाहक प्रजा-संबंधी खबरें मुझसे निवेदन कर सकते हैं, क्योंकि मैं हर समय प्रजा का ही कार्य करता हूँ। और जो कुछ मौखिक दान की या घोषणा करने की आज्ञा मैं देता हूँ तथा विशेष आवश्यकता पड़ने पर महामात्र लोग जो घोषित करते हैं, यदि उसके संबंध में परिषद् में कोई विरोध या विवाद उपस्थित हो तो उसकी सूचना मुझे शीघ्र हर समय और हर स्थान पर दी जाय, ऐसी मेरी आज्ञा है। मुझे अपने प्रयत्नों और कार्यों से संतोष नहीं होता। सभी का हित करना ही मेरा सर्वोच्च कर्तव्य है। उसका मूल यह है कि जुटकर प्रयत्न किया जाय और कार्य की पूर्ति की जाय। सबकी भलाई से बढ़कर दूसरा काम नहीं है। जो भी थोड़ा उद्योग मैं करता हूँ वह प्राणियों से उऋण होने के लिए और कुछ को इस लोक में सुखी करने तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्ति के लिए ही करता हूँ।

इसी हेतु यह धर्मलेख लिखवाया है कि यह बहुत समय तक रहे और मेरे पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र इसका पालन कर सब लोगों के हित के लिए उद्योग करें। ऐसा बिना पूर्ण प्रयत्न के सफल नहीं हो सकता।)

१. इस लेख में 'वच' शब्द 'व्रज' के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। 'व्रज' का प्रयोग प्राचीन साहित्य में प्रायः गोचर-भूमि तथा पशुओं के गोष्ठ (बँधने के स्थान) के लिए मिलता है। यहाँ 'गोचरभूमि' अर्थ अधिक संगत है।

सातवाँ लेख

"देवानंपिये पियदसि लाजा सवता इछति सबपासंड वसेवु। सवे हि ते सयमं भावसुधि चा इछंति । जने चु उचावुचाछंदे उचावुचलागे । ते सवं एकदेसं पि कछंति। विपुले पि चु दाने असा नथि सयमे भावसुधि किटनाता दिढभतिता चा निचे बाढं।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब जगह सब धर्मावलंबी रहें; क्योंकि वे सब ही इंद्रियनिग्रह और भाव की शुद्धि चाहते हैं। मनुष्य भिन्न-भिन्न रुचि और आकांक्षा के होते हैं। उनमें से कुछ (अपने कर्तव्य का) पूरा और कुछ एक भाग करेंगे। जिनके पास दान के लिए बहुत धन नहीं है वे भी यदि सदा संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति रखें तो अच्छा हो।)

आठवाँ लेख

"अतिकंतं अंतलं देवानंपिया विहालयातं नाम निखमिसु। हिदा मिगविया अंनानि चा हेडिसाना अभिलामानि हुसु। देवानं पिये पियदसि लाजा दसवसाभिसिते संतं निखमिथा संबोधि। तेनता धंमयाता। हेता इयं होति समनबंभनानं दसने चा दाने च वुधानं दसने च हिलंन पटिविधाने चा जानपदसा दसने धंमनुसथि चा धमपलिपुछा चा ततोपया। एसे भुये लाति होति देवानंपियसा पियदसिसा लाजिने भागे अंने।"

(समय बीत गया जब कि देवताओं के प्यारे (राजा लोग) विहार के लिए यात्रा में जाते थे। उसमें शिकार और इसी प्रकार के दूसरे आमोद-प्रमोद होते थे। दश वर्ष मे अभिषिक्त देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा संबोधि (यात्रा) के लिए निकला। इसीलिए यह धर्मयात्रा की गई। इसमें ब्राह्मणों और भिक्षुओं के दर्शन होते हैं, उनको दान दिया जाता है, वृद्धों के दर्शन होते हैं, उनको सुवर्ण दान दिया जाता है। जनपद-वासियों से मिलने, उनको धर्मोपदेश देने तथा धर्मसंबंधी पूछताछ करने का समय मिलता है। देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा इन आनंदप्रद धर्मयात्राओं को अपना अहोभाग्य समझता है।)

नवाँ लेख

"देवानंपिये पियदसि लाजा आहा। जने उचावुचं मंगलं कलेति आबाधसि अवाहसि विवाहसि पजोपदाने पवाससि एताये अंनाये चा एदिसाये जने बहु मंगलं कलेति। हेतु

च अबकजनियो बहु चा बहुविधं चा खुदा चा निलथिया चा मगलं कलति। से कटवि चेव खो मंगले। अपफले चु खो एसे। इयं चु खो महाफले चे धंममगले। हेता इयं दासभटकसि सम्यापटिपति गुलुना अपचिति पानानं संयमे समनबंभनानं दाने एसे अंने चा हेडिसे। धंममगले नामा। से वतविये पितिना पि पुतेन पि भातिनापि सुवामिकेन पि मितसंथुतेना अव पटिवेसियेना पि इयं साधु इयं कटविये मगले आव तसा अथसा निवुतिया इमं कछामि ति। ए हि इतले मगले संसयिक्ये से। सिया व तं अठं निवटेया सिया पुना नो। हिदलोकिके चेव से। इयं पुना धंममगले अकालिक्ये। हंचे पि तं अठं नो निटेति हिद अठं पलत अनंतं पुना पवसति। हंचे पुन तं अठं निवतेति हिदा ततो उभयेसं लधे होति हिद चा से अठे पलत चा अनंतं पुना पसवति तेना धंममगलेना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—मनुष्य कई तरह के मंगल कार्य करता है। बीमारी में, निमंत्रण में, विवाह में, पुत्र होने पर, बाहर जाने के समय और ऐसे ही दूसरे अवसरों पर बहुत मंगल कार्य किये जाते हैं। इन अवसरों पर माताएँ बहुत से, कई तरह के, तुच्छ और निरर्थक मंगल करती हैं। मङ्गल-कार्य तो अवश्य करने चाहिए। परंतु ये थोड़े फल को देनेवाले होते हैं। किन्तु धर्म-संबंधी मंगल बहुत फल को देते हैं। क्योंकि इनमें दासों (गुलामों) और नौकरों के साथ अच्छा बर्ताव किया जाता है, गुरुओं की पूजा की जाती है, प्राणियों के प्रति संयम (अहिंसा) किया जाता है, भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान दिया जाता है। ये और ऐसे ही अन्य कार्य धर्म-मंगल हैं। इसका उपदेश पिता, पुत्र, भाई, मालिक, मित्र और जान-पहचानवाले के द्वारा भी किया जाना चाहिए कि 'यह श्रेष्ठ है, यह धर्ममंगल उस कार्य की समाप्ति तक करना चाहिए। ऐसा मैं करूँगा।' इससे भिन्न दूसरे प्रकार के सभी मंगल संशयपूर्ण होते हैं। उनसे कार्य की सिद्धि हो या न हो। वे इसी लोक के लिए होते हैं। परंतु धर्ममंगल हर समय के लिए उपादेय है। यदि इस लोक में कार्य की सिद्धि न करे तो भी वह परलोक में बहुत फल देता है। और यदि इस लोक में भी उद्देश्य की सिद्धि कर दे तो इस धर्ममंगल से दोनों लाभ हो जाते हैं—इस लोक में कार्य-सिद्धि होती है और परलोक में अनंत पुण्य प्राप्त होता है।)

दसवाँ लेख

"देवानंपिये पियदषा लजा यजो वा किति वा नो महथावा मनति अनता यं पि यसो वा किति वा इछति तदत्वाये अयतिये चा जने धंमसुसुपा सुसुषातु मेति धंमवतं वा अनुविधियंतु ति। धतकाये देवानंपिये पियदसि लाजा यषो वा किति वा इछ। अं चा

किछि लकमति देवनंपिये पियदपि लजा त पव पालंतिक्याये वा किति सकले अपपलापवे पियाति ति। एपे चु पलिसवे ए अपुने। दुकले चु खो एपे खुदकेन वा वगेना उपटेन वा अनत अगेना पलकमेना पवं पलितिदितु। हेत चु खो उपटेन वा दुकले।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति को विशेष महत्त्व का नहीं समझता। जो कुछ यश और कीर्ति वह चाहता है वह केवल इसलिए कि वर्तमान में और आगे भी लोग धर्म-वाक्यों को सुनें और धर्मव्रत का अनुकरण करें। इसीलिए देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति की इच्छा करता है। जो कुछ उद्योग देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा करता है वह सब परलोक के लिए ही है, जिससे सब लोग अधोगति से बच जायँ। यह अधोगति ही पाप है। परंतु विना प्रबल उद्योग के और बिना सब कुछ त्याग किए छोटे या बड़े आदमी के लिए यह कार्य करना बड़ा कठिन है। बड़े आदमी के लिए तो यह कार्य अत्यंत ही दुष्कर है।)

ग्यारहवाँ लेख

"देवानंपिये पियदषि लाजा हेवं हा। नथि हेडिये दाने अदिप धंमदाने। धमपविभगे। धंमषंजथे। तत एषे दाषभटकषि। पम्यापटिपति मातापितिषु पुपुषा। मितषं, थुतनातिक्यानं समनावंभनाना दाने पानानं अनाल्भे। एषे वतविये पितिमा पि पुतेन पि भातिना पि षवामिकयेन पि मितसंयुताना अवा पटिवेषियेना इयं षाधु इयं कटविये। शे तथा कलंत हिदलोकिक्ये च कं आलधे होति पलत चा अनत पुना पशवति तेना धंमदानेना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा इस प्रकार बोला——धर्मदान (धर्मोपदेश) करने के समान कोई दान नहीं और न धर्म के साथ परिचय या संबंध करने के समान कोई परिचय या संबंध है। इसलिए दास (गुलाम) और नौकरों के साथ उचित बर्ताव करना, माँ-बाप की सेवा करना, मित्रों, जान-पहचानवालों, रिश्तेदारों, ब्राह्मणों और श्रमणों (भिक्षुओं) को दान देना तथा जीवों की हिंसा न करना उचित है।

'यह श्रेष्ठ है, यह करना चाहिए'—— ऐसा पिता को, पुत्र को, भाई को, मालिक को, मित्र को, जान-पहिचानवाले को और पड़ोसी को भी कहना चाहिए। ऐसा करनेवाला इस लोक को सुधारता है और उस धर्मदान से परलोक में भी अटूट पुण्य प्राप्त करता है।)

बारहवाँ लेख

"देवानापिये पियदपि लाजा पावापापंडानि पवजितानि गहथानि वा पुजेति दानेन विविधये च पुजाये। नो चु तथा दाने वा पुजा वा देवानंपिये मनति अथा कित शालावढि शियाति शवपाशडान। शालावढि ना बहुविधा। तश चु इनं मुले अ वचगुति किति ति अतपशड वा पुजा या पलपाशंडगलहा व नो शया अपकलनषि लहका वा शिया तगि तशि पकलनशि। पुजेतविय चु पलपाशडा तेन तेन अकालन। हेवं कलत अतपाशडा बढं वढियति पलपाशड पि वा अपकलेति। तदा अनथ कलत अतपाशड च छनति पल-पाशड पि वा अपकलेति। ये हि केछ अतपाशड पुनाति पलपापड वा गलहति। पवे अतपाषंडभतिया वा किति। अतिपाषंड दिपयेम पे च पुना तथा कलंतं। बाढतले उपहंति अतपापंडवि। पमवाये वु पाधु किति। अंनमनपा धंमं। पुनेयु चा पुपुपेय चाति। हेवं हि देवानंपियपा इछा किति सवपापंड। बहुपुता चा कया-नागा च हुवेयुति। ए च तत तत पर्सना तेहि वतविये। देवानापिये नो तथा दानं वा पुजा वा मंनति। अथ किति पालावढि शिया पवपापंडति। बहुका चा एतायठाचे वियापटा धंममहामाता इथिधियखमहामाता वचभुमिक्या अने वा निक्याया। इयं च एतिया फले। यं अतपाषंडवढि चा होति धमप चा दिपना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों को, संन्यासियों को और गृहस्थों को दान से और अनेक प्रकार के सत्कार से पूजता (आदर करता) है। परन्तु देवताओं का प्यारा सब धर्मवालों की तात्त्विक उन्नति के बराबर किसी भी दान या पूजा को नहीं समझता। यह तात्त्विक उन्नति कई प्रकार की है। पर इसका मूल वाणी का संयम है, क्योंकि इससे अकारण अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निंदा नहीं होती। ऐसा किसी विशेष अवसर पर ही किया जा सकता है। पर ऐसे अवसर पर दूसरे धर्म-वालों के मतों का आदर करना चाहिए। ऐसा करने से (मनुष्य) अपने ही पंथ की उन्नति करता है और दूसरे पंथों का भी उपकार करता है। इससे विपरीत करने से अपने पंथ की हानि होती है और दूसरों की भी। यदि कोई अपने पंथ की भक्ति के कारण या अपने पंथ की उन्नति की इच्छा से अपने धर्मवालों को पूजता है और दूसरे धर्मवालों की बुराई करता है तो ऐसा करने से वह अपने ही पंथ पर कठोर प्रहार करता है। अतः मेल-मिलाप ही अच्छा है, क्योंकि इससे अन्य धर्मानुयायी भी दूसरों के धर्म को सुन सकते हैं। देवताओं के प्यारे (राजा) की ऐसी इच्छा है कि सब पंथवाले पूरी तौर से जानकार और भले हों। प्रत्येक धर्म के माननेवालों से कहना चाहिए—'देवताओं

का प्यारा (राजा), सब धर्मवालों की तात्त्विक उन्नति तथा व्यापक दृष्टिकोण के बराबर किसी दान या पूजा को नहीं मानता।' इसी के लिए बहुत से धर्ममहामात्र (धर्म के उपदेश करनेवाले अधिकारी), स्त्री-अध्यक्ष महामात्र (स्त्रियों की देखभाल करनेवाले अधिकारी), व्रज भूमिक (गोचर भूमि के अधिकारी) तथा दूसरे अधिकारी वर्ग नियत किए गए हैं। इसका फल अपने-अपने पंथ की वृद्धि और धर्म की उन्नति है।)

तेरहवाँ लेख

"अठवषा भिषितषा देवानंपियष पियदषिने लाजिने कलिग्या विजिता। दियढमिते पानषतषहशे ये तफा अपबुढे शतषहषमिते तत हते बहुतावतके वा मटे। ततो पछा अधुना लधष कलिग्येषु तिवे धंमवाये धंमकामता धंमानुषथि चा देवानंपियषा। षे अथि अनुषये देवानंपियषा विजिनितु कलिग्यानि। अविजितं हि विजिनमने। ए तता वध वा मलने वा अपवहे वा जनषा। षे बाढ वेदनियमुते गुलुमुते चा देवानंपियषा। इयं पि चु ततो गलुमततले देवानंपियषा य तता वषति बाभना व षमवा अने वा पाशंड गिहिथा वा येशु विहिता एष अगभुतिषुषुषा माता पितिषुषुषा गलुषुषा मित संयुतषहायनातिकेषु दाशभटकषि षम्यापटिपति दिढभतित तेषं। तता होति उपघाते वा वधे वा अभिलतानं वा। विनिखमने येषं वा पि षुविहितानं षिनेहे अविपहिने ए तानं मितशंथुतषहायनातिक्य वियषनं पापुनात तता षे पि तानमेवा उपघाते होति। पटिभागे चा एष षवमनुषानं गुलुमते चा देवानंपियषा। नथि चा षे जनपदे यता नथि इमे निकाया आनता योनेषु बंह्मने चा षमने चा नथि। चा कुवापि जनपदषि यता नथि मनुषान एकतलषि पि पाषडषि नोनाम पषादे। षे अवतके जने तदा कलिंगेषु लधेषु हते चा मटे चा अपबुढे चा ततो षते भागे वा षहषभागे वा अज गुलुमते वा देवानंपियषा।

···नेयु। इछ······षवभु······षयम षमचलियं मदव ति। इयं वु मु··· देवानं पियेषा ये धंमविजये। षे च पुना लधे देवानंपि·····च षवेषु च अंतेषु अषषु पि योजनषतेषु अत अतियोगे नाम योनलाजा पलं चा तेना अंतियोगेना चतालि। लजाने तुलमये नाम अंतेकिने नाम मका नाम अलिक्यषुदले नाम निचं चोडपंडिया अवं तंबपंनिया हेवमेवा। हेवमेवा हिदा लाजविशवषि योनकंबोजेषु नाभकनाभपंतिषु भोजपितिनिक्येषु अधपालदेषु षवता देवानंपियषा धंमानुषथि अनुवंतंति। यत पि दुता देवानंपियसा नो यंति ते पि सुतु देवानंपिनंय धंमवुतं विधनं धंमानुसथि धंमं अनुविधियंअ

अनुविधियिसंश चा। ये से लधे एतकेना होति सबता विजये पितिलसे से। गधा सा होति पिति पिति धंमविजयपि। लहुका वु खो सा पिति। पालतिक्यमेवे महफला मंनंति देवेनंपिने। एताये चा अठाये इयं धंमलिपि लिखिता किति पुता पपोता में असु - नवं विजय म विजयतविय मनिपु षयकषि नो विजयपि खंति चा ल। हुदंडता चा लोचेतु तमेव चा विजयं मनतु ये धंमविजये। पे हिदलोकिक्य पललोकिये। षवा च क निलति होतु उयामलति। पा हि हियलोकिक पललोकिक्या।"

(आठ वर्ष से अभिषिक्त देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने कलिंग को विजय किया। इसमें डेढ़ लाख मनुष्य पकड़े गए, एक लाख मारे गए और इससे भी अधिक नष्ट हो गए। उसके बाद अब जीते हुए कलिंग देश में देवताओं के प्यारे राजा के द्वारा धर्म का सम्यक् पालन, धर्मकार्य तथा धर्मोपदेश किया जाता है। देवताओं के प्यारे को कलिंग जीतने का परिताप है। जब एक अविजित राज्य को जीता जाता है तब युद्ध में मानवों का वध, मृत्यु और बंधन होता है। यह पीड़ाजनक है, अतः देवताओं का प्यारा इसे बहुत दुःखद एवं संताप-दायक समझता है। पर इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि वहाँ (विजित देशों में) ऐसे ब्राह्मण, भिक्षु, अन्य पंथवाले या गृहस्थ रहते हैं जिनपर बड़ों और वृद्धों की सेवा का, माता-पिता की सेवा का, गुरुओं की सेवा का तथा मित्रों, जान-पहचानवालों, सहायकों, संबंधियों, दासों और नौकरों के प्रति अच्छे बर्ताव और श्रद्धा का उत्तरदायित्व रहता है। उनका युद्ध में नाश या क्षति होती है, अथवा उन्हें अपने प्रिय लोगों से पृथक् होना पड़ता है। साधारण जीवन निर्वाह करनेवाले भलेमानुसों के प्यारे मित्र, जान-पहचानवाले, सहायक तथा संबंधी दुःख में पड़ते हैं। वह दुःख भी उन्हीं भलेमानुसों का क्लेश बन जाता है। उन भद्र-पुरुषों के भाग्य का यह प्रतिघात देवताओं के प्यारे के लिए बड़े संताप का विषय है।

यवनों के अतिरिक्त[1] ऐसा कोई अन्य राज्य नहीं है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण साधु न रहते हों। इन राज्यों में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ के निवासियों का किसी-न-किसी धर्म में अनुराग न हो। कलिंग में जितने आदमी मारे गए नष्ट हुए और पकड़े गए उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी अब देवताओं के प्यारे के लिए असह्य है। बुराई करनेवाला भी यदि क्षमा के योग्य है तो उसे क्षमा-प्रदान करना ही देवताओं के प्यारे

१. यवन-राज्यों से तात्पर्य भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित यूनानी (ग्रीक) राज्यों से है। वहाँ की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति भारत से भिन्न थी।

को अभीष्ट है। जंगलों के निवासियों को भी क्षमा किया जाता है जो देवताओं के प्यारे के शासन में हैं। उन लोगों को खेद प्रकाश करनेवाले देवताओं के प्यारे का महान् संदेश बताया जाता है। इससे वे लोग (अपने दुष्कर्मों के लिए) लज्जित होंगे और मृत्यु से बच जायँगे। देवताओं का प्यारा सब प्राणियों का क्षेम, संयम (आत्म-निग्रह), समान भाव तथा सुख चाहता है।

देवताओं के प्यारे के द्वारा धर्मविजय सब विजयों में मुख्य समझी जाती है। यह विजय देवताओं के प्यारे के द्वारा यहाँ प्राप्त की गई है तथा सीमावर्ती राज्यों में छः सौ योजन पर्यंत भी (प्राप्त की गई है), जहाँ अंतियोक नामक यवन राजा[1] है। और उस अंतियोक के आगे जो चार शासक हैं—तुरमय, अंतिकिन, मग तथा अलिक-सुंदर[2]—उनके राज्यों में भी। उसी प्रकार नीचे चोड़, पांड्य तथा ताम्रपर्णी[3] तक में। और इसी भाँति राजाओं के शासनांतर्गत यवन, कंबोज, नाभक, नाभपंति, भोज, पिति-निक, आंध्र तथा पुलिंद लोगों में सर्वत्र देवताओं के प्यारे की धर्मसंबंधी शिक्षाओं का पालन होता है। जहाँ देवताओं के प्यारे के दूत नहीं जाते वहाँ के लोग भी देवताओं के प्यारे के धर्म-प्रवचनों, नियमों और आज्ञाओं को सुनकर धर्म का पालन करते हैं और करते रहेंगे।

इस प्रकार सब स्थानों पर जो धर्मविजय प्राप्त होती है वह प्रेमभाव को उत्पन्न करनेवाली है। धर्म-विजय के द्वारा वह प्रेमभाव मुझे प्राप्त हुआ है। वह प्रेम देखने में साधारण हो सकता है, परंतु देवताओं का प्यारा उसे परलोक में निश्चय ही महान् फलदायक मानता है।

इसीलिए यह धर्मलिपि लिखाई गई है कि मेरे पुत्र और प्रपौत्र किसी दूसरी नवीन विजय को प्राप्त करने की चेष्टा न करें। यदि वे किसी विजय को पसंद ही करें तो वह

१. यह अंतियोक (Antiochos) सीरिया का यूनानी शासक ऐंटिओकस द्वितीय (ई० पू० २६१-२४६) था। इसका उल्लेख दूसरे शिलालेख में भी हुआ है।

२. ये चारों भी ग्रीक (यूनानी) शासक थे। तुरमय (Ptolemy II, Philadelphos) मिस्र का शासक (ई० पू० २८५-२४७) था। अंतिकिन (Anti-gonas Gonatas) मेसीडोनिया का राजा (ई० पू० २७८-२३९) था। मग (Magas) मिस्र के पश्चिम में राज्य करता था (समय ई० पू० ३००-२५८) तथा अलिक सुंदर (Alexander) एपीरस का शासक (ई० पू० २७२-२५८) था।

३. चोड़ और पांड्य भारत के धुर दक्षिण के राज्य थे। ताम्रपर्णी से तात्पर्य सिंहल या लंका से है।

क्षमा एवं लघु दंड होना चाहिए। और उन्हें यह समझना चाहिए कि जो धर्मविजय है वही वास्तविक विजय है। वह इस लोक में तथा परलोक में लाभकारी है। धर्म की प्रीति ही शासन की वास्तविक प्रीति है। वह इस लोक और परलोक के लिए हितकारी है।)

चौदहवाँ लेख

"इयं धंमलिपि देवानंपियेना पियदसिना लजिना लिखापिता अथि येवा सुखितेना अथि माझमेना अथि वियटेना। नोहि सवता सवे घटिते। महालके हि विजिते बहु च लिखिते लेखापेशामि चेव निक्यं। अथि चा हेता पुन पुना लपिते ताप तपा अथषा मधु-लियाये येन जने तथा पटिपजेया। पे पाया अत किछि अरामति लिखिते दिपा वा पंखेये कालनं वा अलोचयितु लिपिकलपलाधेन वा।"

यह धर्मलेख देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने लिखवाया है, कहीं संक्षेप से, कहीं मध्यम भाव से और कहीं विस्तार से। क्योंकि सब स्थानों पर सबकी आवश्य-कता नहीं है। मैंने बहुत बड़ा भाग जीता है। बहुत-सा लिखवाया है और आगे भी बहुत-सा लिखवाता रहूँगा। इसमें विषय की मधुरता के कारण बहुत-सी बातें बार-बार लिखी गई हैं, जिससे लोग उन्हें प्रयोग में लाएँ। यदि कहीं कुछ अधूरा लिखा गया हो, तो ऐसा स्थान-विशेष के कारण या कुछ छूट जाने के कारण अथवा लेखक की त्रुटि के कारण समझा जाय।)

शब्दानुक्रमणिका

ई

उ

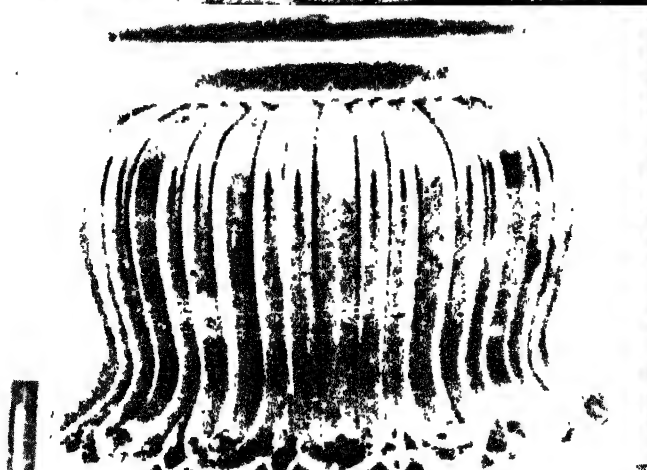
ऋ

ए

ओ

औ

क



फलक १

सारनाथ मे अशोक-स्तम्भ के ऊपर का ओपयुक्त शीर्ष (परगहा) जिस पर सिंहों तथा अन्य पशुओं का कलापूर्ण चित्रण है। ई० पूर्व तीसरी शती।



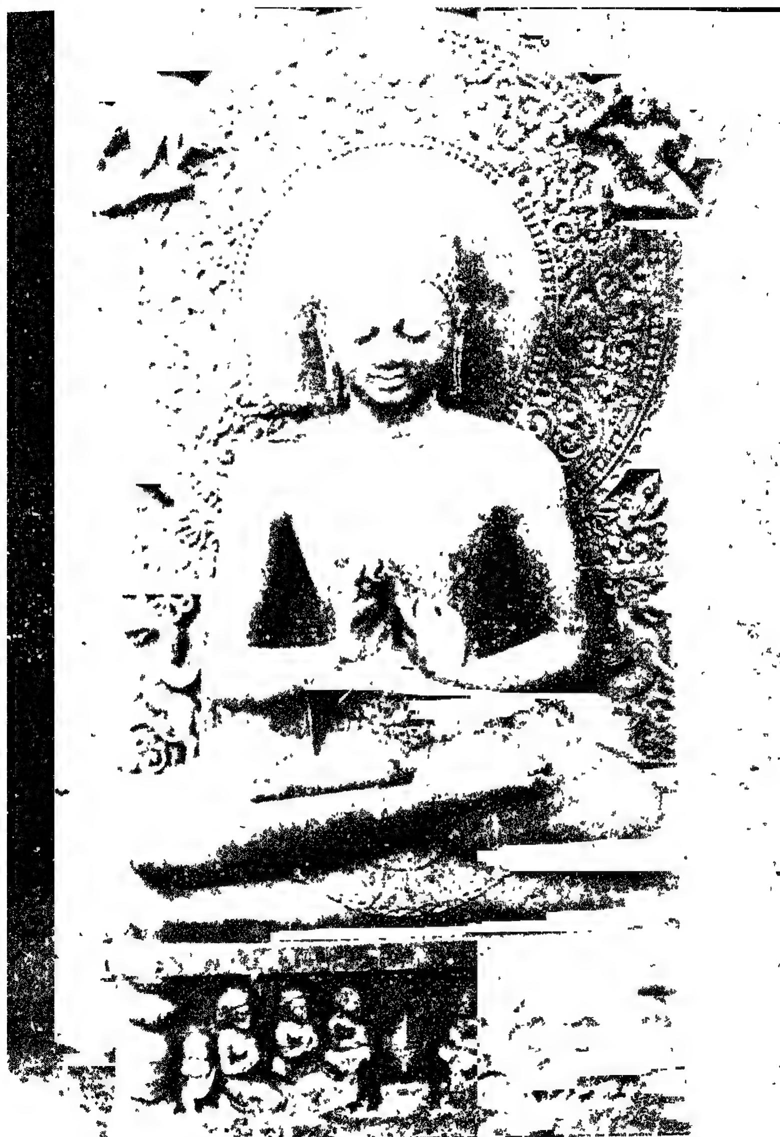
फलक २

अभयमुद्रा में बुद्ध की सर्वांगपूर्ण पूर्ण मूर्ति, जिसकी चौकी पर ई० दूसरी शती का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। मथुरा शैली की, लाल बलुए पत्थर की प्रतिमा, अहिच्छत्रा (जि० बरेली) में प्राप्त। (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)



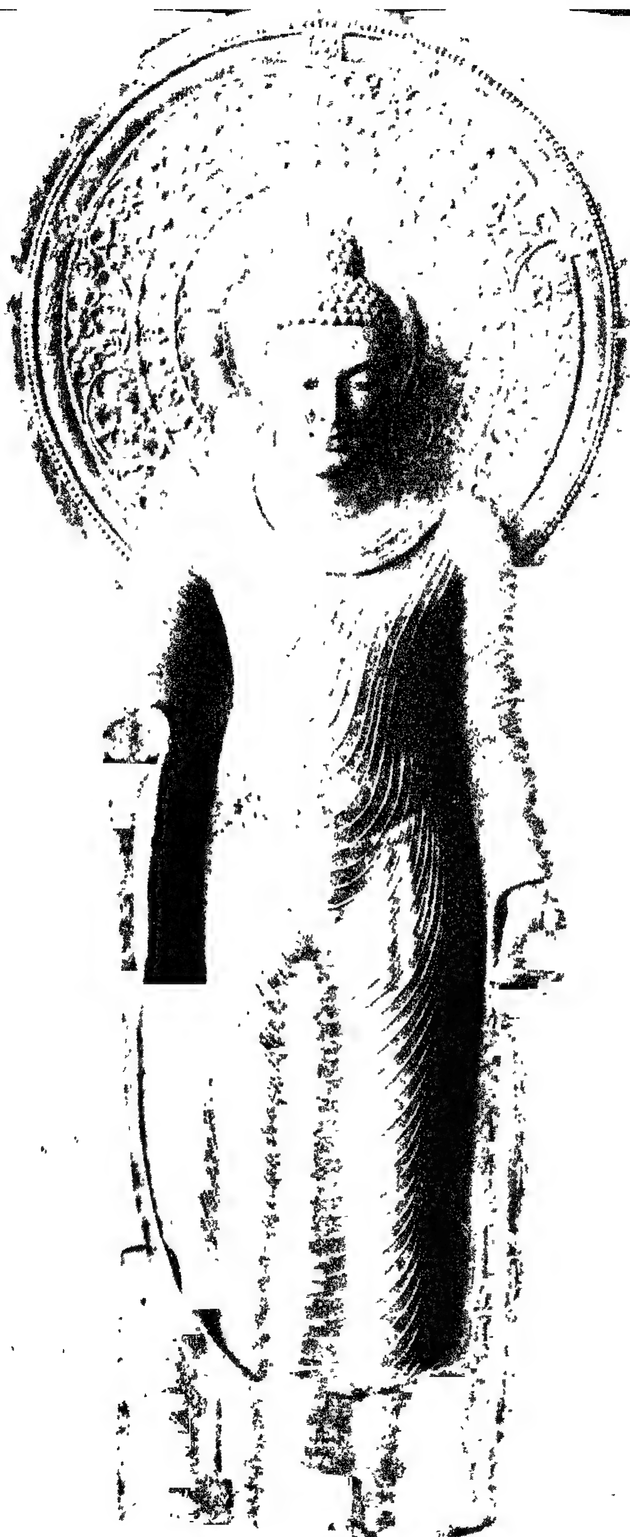
फलक ३

बाएं हाथ में अमृत-घट लिये हुए प्रभामण्डल सहित बोधिसत्व मैत्रेय की प्रतिमा।
समय ई० तीसरी शती; मथुरा शैली; अहिच्छत्रा में प्राप्त।
(राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)



फलक ४

धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में स्थित बुद्ध की अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमा; समय ई० पाँचवीं शती (सारनाथ संग्रहालय)



फलक ५

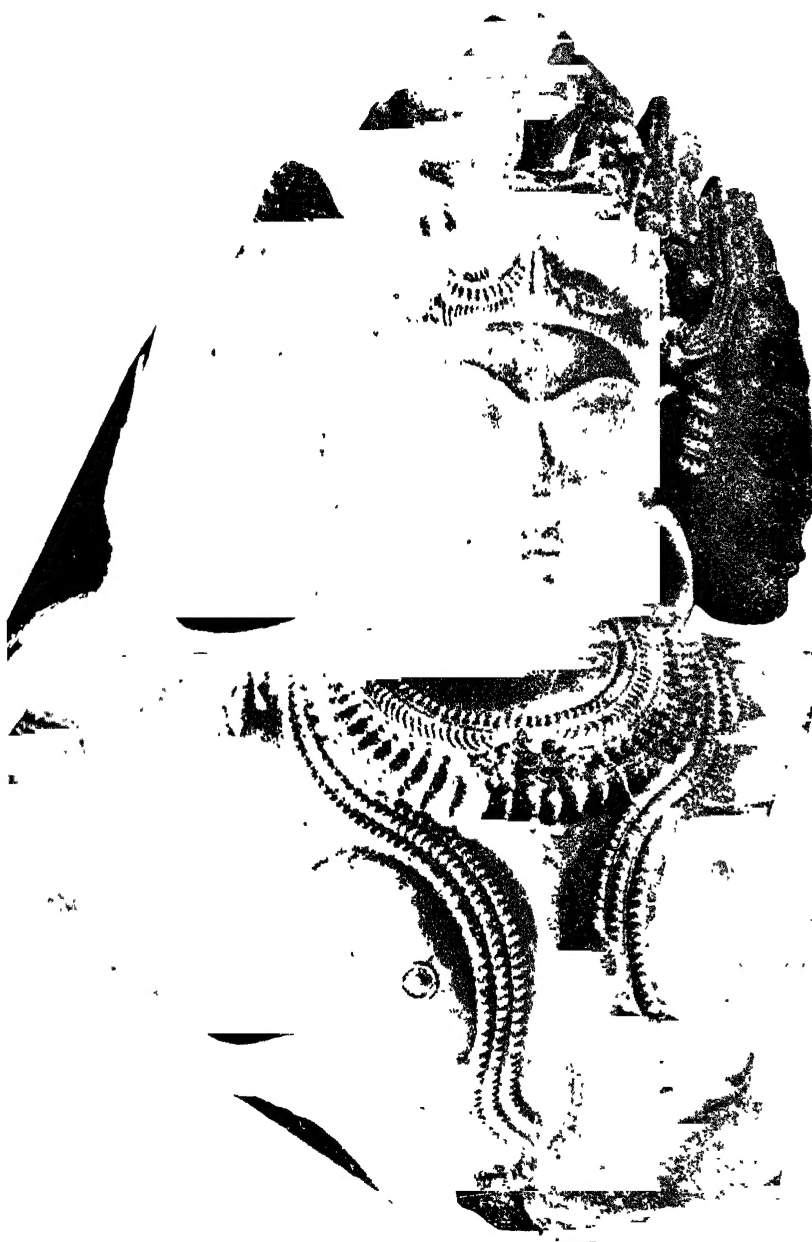
अलंकृत प्रभामंडल संयुक्त बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति । समय ई० पांचवीं शती; मथुरा से प्राप्त (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)



फलक ६

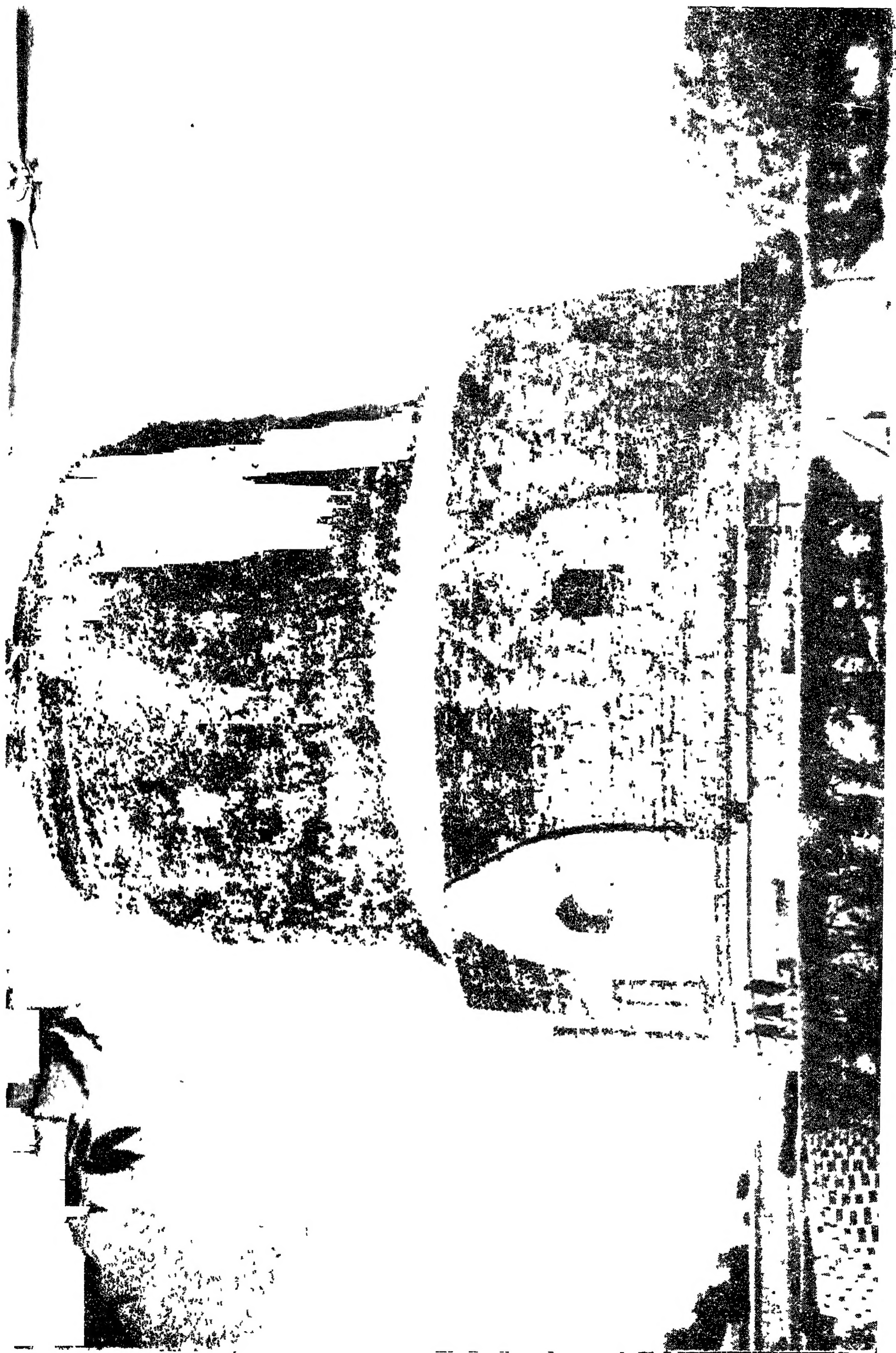
सिंहनाद अवलोकितेश्वर । समय ई० ११वीं शती: महोबा से प्राप्त

(राजकीय संग्रहालय, लखनऊ)



फलक ७

बौद्ध देवी वज्रतारा की प्रतिमा; ई० दसवीं शती
(सारनाथ संग्रहालय)



फलक ८

धमेख (धर्मेक्षा) स्तूप सारनाथ